दो वर्ष पूर्व राजस्थान प्राकृत भारती संस्थान की ओर से जैन जगत के उद्भट दार्शनिक विद्वान् श्री दलसुख भाई मालवणिया से अनुरोध किया गया था कि आपके द्वारा लिखित, अनुदित या सम्पादित कोई ग्रन्थ प्राकृत भारती को प्रकाशनार्थ प्रदान करें तो संस्थान को अतीव हार्दिक प्रसन्नता होगी। तत्क्षण ही श्री मालवणिया जी ने अनुरोध को सहजभाव से सहर्ष स्वीकार करते हुये कहा कि गणधरवाद का हिन्दी अनुवाद जो मैंने कुछ वर्षों पूर्व प्रो० पृथ्वीराज जैन से करवाया था उसे भेंट स्वरूप ले जाइये और श्री महोपाध्याय विनयसागरजी से संशोधन करवा कर प्रकाशित कर दीजिये।

श्री मालवणिया जी ने नैसर्गिक भाव से गणधरवाद का हिन्दी अनुवाद प्रकाशनार्थ प्रदान किया अतएव हम उनके हृदय से आभारी हैं।

प्रो० पृथ्वीराज जैन एम ए (जिनका गत वर्ष ही स्वर्गवास हो गया है) ने इस अतिगहन दार्शनिक ग्रन्थ का जिस सूझ-बूझ और परिष्कृत शैली में हिन्दी का अनुवाद कर साहित्य जगत् को कृति प्रदान की है उसके लिये भी संस्थान की ओर से उनके हम कृतज्ञ हैं।

राजस्थान प्राकृत भारती संस्थान के संयुक्त सचिव एवं प्रमुख विद्वान् महोपाध्याय श्री विनयसागर जी ने प्रस्तुत अनुवाद का संशोधन एवं इसका सम्पादन जिस निष्ठा से किया और सह सम्पादक के रूप में श्री ओंकारलाल जी मेनारिया ने इस संशोधन आदि में जो सहयोग प्रदान किया उसके लिये भी ये दोनों साधुवाद के पात्र हैं।

श्री जितेन्द्र तथा अजन्ता प्रिन्टर्स जयपुर भी इस पुस्तक के मुद्रण के लिये धन्यवाद के पात्र हैं।

सुज्ञ पाठकों से अनुरोध है कि दृष्टिदोष अथवा प्रेस की असावधानी से जो भी अशुद्धियां या त्रुटियां रह गई हैं उन्हें क्षन्तव्य समझें।

उमरावमल ढड्ढा
अध्यक्ष
टीकमचन्द हीरावत
सचिव
[illegible] जयपुर

राजरूप टांक
अध्यक्ष
देवेन्द्रराज मेहता
सचिव
राजस्थान प्राकृत भारती संस्थान, जयपुर

प्रथमावृत्ति में लेखक का निवेदन

विशेषावश्यक भाष्य महाग्रन्थ जब से पढ़ने में आया तब से उसके अनुवाद और विवेचन की जो भावना मन में संगृहीत कर रखी थी उसकी आंशिक पूर्ति इस गणधरवाद से होती है। इससे एक प्रकार का आनन्द होता है किन्तु कार्य त्वरित गति से करना था अतएव टिप्पणियों में विस्तार की आवश्यकता होने पर भी नहीं कर सका यह कमी मन को कचोटती भी है। अनुवाद की संवादात्मक शैली मुझे भाई फतेचन्द बेलाणी का खरड़ा बाँचने से रुचिकर प्रतीत हुई। संवादात्मक शैली में प्रो० चिरबास्की कृत कितने ही दार्शनिक ग्रन्थों के अंग्रेजी अनुवाद भी देखने में आये थे और इस शैली में दार्शनिक ग्रन्थों के अनुवाद पठनीय बनते हैं ऐसा अनुभव भी किया था इसलिये इसमें मैंने इसी शैली का आश्रय लिया है। इस ग्रन्थ का कार्य पूज्य पण्डित श्री सुखलालजी की प्रेरणा से मैंने स्वीकार किया था और प्रकाशन से पूर्व उन्होंने एक-एक अक्षर पढ़कर करने योग्य संशोधन भी किये हैं तथा जहाँ पुनर्लेखन आवश्यक था वहाँ उनकी सूचना के अनुसार मैंने वैसा भी किया है। ऐसा करके मैं मोटे रूप में उनको आंशिक सन्तोष दे सका हूँ। पूज्य पण्डितजी ने इस काम में जो स्वाभाविक रस लिया है उसके लिये धन्यवाद के दो शब्द पर्याप्त नहीं हैं। वस्तुतः यह कार्य उन्हीं का है और मैं उनके कार्य में हाथ बँटा रहा हूँ ऐसा अनुभव मैंने निरन्तर किया है। इसलिये इस कृति को मैं मेरी न मान कर उनकी ही कृति मान लेता हूँ तब उनको धन्यवाद देने का अधिकारी मैं कैसे हो सकता हूँ? सहृदयस्नेही भाई रतिलाल दीपचन्द देसाई ने इस कृति के प्रथमादर्श को आद्यन्त पढ़कर पण्डितजी को सुनाया ही नहीं अपितु सुधारने योग्य सूचनायें भी प्रदान कीं एतदर्थ यहाँ उनको धन्यवाद देना आवश्यक है।

यह कार्य मेरे सिर पर आ पड़ने में निमित्त रूप श्री फतेचन्द बेलाणी भी हैं, इसलिए उनका भी यहाँ आभार मानता हूँ। उन्हीं के अनुवाद का कच्चा खरड़ा मेरे सामने था अतएव इस अनुवाद को संवादात्मक शैली में करने की तात्कालिक सूझ के लिये भी मैं उनका आभारी हूँ। इस ग्रन्थ के समस्त प्रूफ संशोधन का नीरस कार्य मान्यवर श्री क० का० शास्त्री ने संपन्न किया है और ग्रन्थ की बाह्य सज्जा में जो कुछ भी सौष्ठव है वह उन्हीं की बदौलत है अतएव उनका विशेष आभार मानना भी मेरा कर्तव्य है। अनुवाद का मुद्रण होने के पश्चात् प्रस्तावना आदि ग्रन्थ सामग्री में पाँच छह मास के विलम्ब को निभाने वाले और ग्रन्थ को सुन्दर बनाने की प्रेरणा देने वाले मान्यवर रसिकलाल भाई परीख अध्यक्ष बो० जे० अध्ययन विद्याभवन का विशेष रूप से ऋणी हूँ। पूज्यपाद मुनिराज श्री पुण्यविजयजी ने ग्रन्थ के लिये आवश्यक

हुई विशेषावश्यक भाष्य की प्रतिलिपि मुझे पाठान्तर लेने हेतु प्रदान की और प्रस्तावना पढ़कर उन्होंने शुद्धिपत्र की सूचना दी, एतदर्थ मैं उनका भी ऋणी हूँ। अन्त में सेठ श्री भोलाभाई दलाल और श्री प्रमथचन्द भाई कोटा वालों की रुचि ही इस ग्रन्थ को प्रस्तुत रूप में निर्माण करने में निमित्त बनी है अत उनका भी आभार मानता हूँ।

प्रस्तुत ग्रन्थ पाठकों और विद्वानों के समक्ष उपस्थित है। अब इसमें जो कोई दोष या त्रुटि हो उसका शोधन करने का काम उनका है। इस ग्रन्थों की द्वितीयावृत्ति भाग्य से ही प्रकाशित होती है तब भी सुयोग मिला तो उचित संशोधन करने का लाभ अवश्य लूँगा।

बनारस
30 8 52

—दलसुख मालवणिया

गणधरवाद की हिन्दी आवृत्ति के अवसर पर

प्रस्तुत गणधरवाद गुजराती में कई वर्षों से उपलब्ध नहीं है। इसके दूसरे संस्करण के लिये प्रकाशन संस्थाओं से निवेदन एवं प्रयत्न करने पर भी इसकी द्वितीयावृत्ति प्रकाशित नहीं हो सकी। ऐसी स्थिति में यह हिन्दी संस्करण प्रकाशित हो रहा है, अतः मैं संतोष एवं आनन्द का अनुभव कर रहा हूँ।

प्रा० पृथ्वीराज जैन एम० ए० ने मनोयोग पूर्वक कई वर्षों पूर्व इसका गुजराती से हिन्दी में अनुवाद किया था। वे आज अपने इस अनुवाद को प्रकाशित रूप में देखकर आनन्दित होते, किन्तु खेद है कि उनका गत वर्ष ही स्वर्गवास हो गया। मैं उनका ऋणी हूँ।

राजस्थान प्राकृत भारती संस्थान, जयपुर के सचिव श्री देवेन्द्रराज जी मेहता को धन्यवाद देना मेरा परम कर्त्तव्य हो जाता है जिनके उत्साह के बिना यह अनुवाद शायद प्रकाशित ही नहीं होता।

इस हिन्दी संस्करण के संशोधन का समग्र कार्य पण्डित श्री महोपाध्याय विनयसागरजी ने बड़े मनोयोग एवं प्रेम से किया है अतएव उनका भी मैं अत्यन्त आभारी हूँ।

राजस्थान प्राकृत भारती संस्थान, जयपुर ने इसे प्रकाशित करके हिन्दी भाषी पाठकों के लिये यह ग्रन्थ सुलभ कर दिया, एतदर्थ मैं इस संस्थान का भी ऋणी रहूँगा।

प्रस्तुत हिन्दी अनुवाद के प्रकाशन के समय मैं कुछ भी विशेष नहीं कर सका इसका मुझे खेद है, क्योंकि मेरा स्वास्थ्य अब ऐसा नहीं रहा कि मैं इसमें अब विशेष परिश्रम कर सकूँ।

वाचकों का ध्यान एक भ्रान्ति की ओर आकर्षित करना मेरा कर्त्तव्य है। जब गणधरवाद पुस्तक गुजराती में प्रकाशित हुई थी तब श्री अगरचन्दजी नाहटा ने मेरा ध्यान इस ओर खेंचा था किन्तु प्रस्तुत हिन्दी अनुवाद की छपाई के पूर्व मैं इस बात को भूल गया था, अतएव निम्न भ्रान्ति रह गई। प्रस्तावना पृष्ठ ६० में मुद्रित है कि भवभावना विवरण सं० ११७७ में पूर्ण हुआ किन्तु वस्तुतः वह सं० ११७० में होना चाहिए। अतएव सं० ११७७ मानकर भवभावना विवरण और विशेषावश्यक-वृत्ति के पूर्वापरभाव की जो चर्चा मैंने की है वह निरर्थक है। उसे वहाँ से हटा देना चाहिए।

अहमदाबाद
दि० २९ मार्च १९८२

—दलसुख मालवणिया

भाषान्तरों में विशिष्ट विधा का ग्रन्थ

भाई श्री दलसुख मालवणिया ने गणधरवाद विषयक जो ग्रन्थ तैयार किया है उसकी प्रस्तावना देखने के पश्चात् उसमें ऐतिहासिक विभाग सम्बन्धी जो स्थल संशोधन करने योग्य लगे उसकी ओर मैंने लेखक का ध्यान आकृष्ट किया था यह एक सामान्य बात थी। प्रस्तावना को आद्योपान्त पढ़ने के पश्चात् मैंने यह अनुभव किया कि भाई श्री मालवणिया ने गणधरवाद जैसे अतिगहन विषय को कुशलतापूर्वक अत्यधिक सरल बना दिया है। इसके अतिरिक्त उन्होंने गणधरवाद में चर्चित पदार्थों के उद्गम और विकास के विषय में वैदिक काल से लेकर जो सप्रमाण दार्शनिक और शास्त्रीय इतिहास प्रस्तुत किया है उससे तात्त्विक पदार्थों का क्रमिक विकास किस प्रकार होता गया और एक दूसरे दर्शनों पर उसका किस किस रूप में प्रभाव पड़ा यह स्पष्ट रूप से समझ में आ जाता है। इसके साथ ही यह भी लक्ष्य में आ जाता है कि सम्यग् ज्ञान दर्शन की भूमिका में स्थित महानुभावों को तात्त्विक पदार्थों का अध्ययन अवलोकन एवं चिन्तन किस विशाल और तटस्थ दृष्टि से करना चाहिये जिससे उनकी सम्यग् ज्ञान दर्शन की अवस्था दूषित न हो।

प्राचीन और गहन जैन ग्रन्थों के देश्य भाषाओं में जो विशिष्ट भाषान्तर ऐतिहासिक निरूपण आवश्यक विवेचन के साथ प्रकाशित हुए हैं उनमें गणधरवाद का प्रस्तुत भाषान्तर ग्रन्थ एक विशिष्ट मानव-विधा प्रस्तुत करता है, यह एक सत्य है।

—मुनि पुण्यविजय

अहमदाबाद
भाद्रपद कृष्णा अमावस्या
वि० सं० 2008

शुभ समाप्ति

कोई भी योग्य काम सुयोग्य हाथों से योग्य रीति से सम्पन्न होता है तो वह शुभ समाप्ति मानी जाती है। प्रस्तुत भाषान्तर ऐसी ही एक शुभ समाप्ति है। श्वेताम्बर परम्परा के संस्कार धारण करने वाले श्रद्धालुओं में भाग्य से ही कोई ऐसा होगा जिन्होंने कम से कम पर्युषण के दिनों में कल्पसूत्र न सुना हो। कल्पसूत्र के मूल में तो नहीं किन्तु उसकी टीकाओं में टीकाकारों ने भगवान् महावीर और गणधरों के मिलन प्रसंग में गणधरवाद की चर्चा सम्मिलित की है। मूलत इसकी चर्चा विशेषावश्यक भाष्य में आचार्य जिनभद्रगणि क्षमाश्रमण ने विस्तार से की है। विशेषावश्यक भाष्य जैन परम्परा के आचार विचार से सम्बन्धित छोटे मोटे लगभग समस्त मुख्य विषयों को स्पर्श करते हुए उन समस्त मुख्य विषयों की प्रामाणिक दृष्टि से तर्क पुरस्सर चर्चा करने वाला और तत्-तत्स्थानों में सम्भावित दर्शनान्तरों के मन्तव्यों की समालोचना करने वाला एक आकर ग्रन्थ है। इसीलिए आचार्य ने गणधरवाद का प्रकरण प्रकरणपूर्वक इसमें सम्मिलित किया है। इसमें जैन-परम्परा सम्मत जीव अजीव आदि नवतत्त्वों की प्ररूपणा भगवान् महावीर के मुख से आचार्य ने इस पद्धति से कराई है कि मानो प्रत्येक तत्त्व का निरूपण भगवान उन उन गणधरों की शंका के निवारण के लिए ही करते हों। प्रत्येक तत्त्व की स्थापना करते समय उस तत्त्व के किसी भी अंश में विरोध हो ऐसे अन्य तार्किकों के मन्तव्यों का उल्लेख कर भगवान तर्क और प्रमाण द्वारा स्वयं का तात्त्विक मन्तव्य प्रस्तुत करते हैं। इससे जैन तत्त्वज्ञान को केन्द्र में रखकर प्रस्तुत गणधरवाद विक्रम की सातवीं शताब्दी तक के चार्वाक बौद्ध और समस्त वैदिक आदि समग्र भारतीय दर्शन परम्परा की समालोचना करने वाला एक गम्भीर दार्शनिक ग्रन्थ बन गया है। ऐसे ग्रन्थ का प० श्री दलसुख मालवणिया ने जिस अभ्यासनिष्ठा और कुशलता से भाषान्तर किया है वैसे ही उसके साथ में अनेक विध ज्ञान-सामग्री सकलित कर प्रस्तावना परिशिष्ट आदि लिखे हैं उनका विचार करते हुए कहना पड़ता है कि योग्य ग्रन्थ का योग्य भाषान्तर योग्य हाथों से ही सम्पन्न हुआ है।

श्री पूनमचन्द करमचन्द कोटा वाला ट्रस्ट के दाता ट्रस्टियों (श्री प्रेमचन्द के कोटा वाला और श्री भोलाभाई जेसिंगभाई) की लम्बे समय से प्रबल इच्छा थी कि गणधरवाद का गुजराती में उत्तम भाषान्तर हो। इसके लिए दो तीन प्रयत्न भी हुये किन्तु वे कार्यसाधक नहीं हुए। अन्त में जुलाई 1950 में यह काम भा० जै विद्याभवन की ओर से श्रीयुत मालवणिया को प्रदान किया गया। अत्यधिक वाचन अभ्यास पर्याप्त समय और श्रम की अपेक्षा रखने वाला यह काम दो वर्ष जितने समय में पूर्ण हुआ और वह भी जैसा सोचा था उससे अधिक और सुन्दर रीति से पूर्ण हुआ।

गुजराती भाषा में जो कुछ उत्तम दार्शनिक साहित्य प्रकाशित हुआ है उसमें प्रस्तुत भाषान्तर की गणना अवश्य होगी ऐसा इसके विचारशील अधिकारी पाठकों को अवश्य ही

प्रतीत होगा। जैन दार्शनिक साहित्य के विकास में तो यह भाषान्तर अनुपम स्थान प्राप्त करने योग्य है।

इससे पूर्व श्रीयुत् मालवणिया ने न्यायावतारवार्तिक वृत्ति ग्रन्थ का हिन्दी भाषा में प्रस्तावना और टिप्पण के साथ सम्पादन कर हिन्दी भाषा के विज्ञ दार्शनिक जगत में एक प्रतिष्ठित स्थान प्राप्त किया हुआ है, अब इस गुजराती भाषान्तर के द्वारा गुर्जर भाषा के जानकार दार्शनिक मण्डल में भी वे विशिष्ट स्थान प्राप्त करेंगे ऐसी घोषणा करते हुए मुझे किंचित् भी संकोच नहीं हो रहा है।

मैं श्रीयुत मालवणिया के उत्तरोत्तर विस्तृत और विकसित दार्शनिक अध्ययन, चिन्तन और लेखन का पिछले 20 वर्षों से साक्षी रहा हूं। प्रस्तुत भाषान्तर के साथ जो अन्य ज्ञान सामग्री संयोजित की गई है उसके वैशिष्ट्य को देखने और समझने में कोई भी व्यक्ति मेरी उक्त यथार्थ मान्यता की पुष्टि करेगा ही।

प्रस्तुत प्रकाशन में ध्यानाकर्षण योग्य विशेषताओं का यहाँ निर्देश करना अनुपयुक्त न होगा।

(1) मूल टीका और उनके प्रणेताओं से सम्बन्धित परम्परागत एवं ऐतिहासिक परिचयात्मक तथ्यों का दोहन कर इस प्रस्तावना में प्रामाणिक रूप से प्रस्तुत किया गया है जो ऐतिहासिक दृष्टि से अवलोकन करने वालों का ध्यान सर्वप्रथम आकर्षित करता है।

(2) जैन दर्शन सम्मत नव तत्त्वों के विचार का विकास प्राचीन काल से चलने वाली अन्य अनेकविध दर्शन परम्पराओं के मध्य में किस प्रकार से हुआ है उसकी कालक्रम से तुलना करते हुए ऐसी पद्धति से प्रतिपादन किया है जिसमें वेद, उपनिषद्, बौद्ध पालि और संस्कृत के ग्रन्थों तथा वैदिक-सम्मत लगभग समस्त दर्शनों के प्रमाणभूत ग्रन्थों का निदर्शन आ जाता है। यह बात (वस्तु) तुलनात्मक दृष्टि से दार्शनिक अभ्यास करने वालों का ध्यान विशेष रूप से आकर्षित करती है।

(3) नव तत्त्वों को, आत्मा, कर्म और परलोक इन तीन तत्त्वों (मुद्दों) में संक्षिप्त कर उनकी अन्य दर्शन सम्मत विचारधारा के साथ विस्तार से ऐसी तुलना की गई है कि जिससे उन तत्त्वों से सम्बन्धित समस्त भारतीय दर्शनों के विचार वाचक एक ही स्थान पर हृदयंगम कर सकें।

प्रस्तावनागत उपरोक्त सूचित विशेषताओं के अतिरिक्त ग्रन्थ में जो भी विशेषताएं हैं उनमें से कुछ एक निम्न प्रकार हैं—

(1) टिप्पणियाँ—भाषान्तर पूर्ण होने के बाद उसके अनुसन्धान में अनेक दृष्टियों से पृष्ठ 180 से 210 पर्यन्त टिप्पणियाँ दी गई हैं। मूल गाथाओं में प्रयुक्त और अनुवाद में आगत एवं अनेक दार्शनिक शब्दों का स्पष्टीकरण उनमें किया गया है। इसी प्रकार आचार्य जिनभद्र

ने कोई विचार प्रकट किये हों अथवा कोई युक्तियाँ दी हों अथवा किसी शास्त्र का पद्य या वाक्य सूचित किया हो तो उन स्थलों की एतिहासिक पृष्ठभूमि दिखा कर के पश्चात् दार्शनिक विचारों की तुलना की गई है। आचार्य जिनभद्र द्वारा इन विचारों, युक्तियों और आधारों को जहां जहाँ से ग्रहण किये जाने की सम्भावना है उनमे से प्राप्त समस्त मत-स्थलों को यहाँ दिखलाया गया है। केवल इतना ही नहीं अपितु उनसे सम्बन्धित भिन्न भिन्न दर्शनशास्त्रों के अनेक विध ग्रन्थों में जो कुछ प्राप्त हुआ उन सब का ग्रन्थ-नाम और स्थल के साथ उल्लेख किया है। वस्तुतः ये टिप्पणियाँ ऐतिहासिक और तुलनात्मक दृष्टि से अध्ययन करने की इच्छा रखने वालों के लिये एक अभ्यास-ग्रन्थ जैसी हैं।

(2) मूल—विशेषावश्यक भाष्य की प्राचीन से प्राचीन लगभग दसवीं शताब्दी में लिखित प्रति जो जसलमेर भण्डार में प्राप्त हुई है उसके साथ मिलान करने के लिये वहाँ स्वयं जाकर लिये हुए पाठान्तरों के साथ में गणधरवाद की मूल गाथाएं परिशिष्ट में दी गई हैं व रचनाकालीन असली पाठशुद्धि के निकट पहुंचने के इच्छुक जिज्ञासु की दृष्टि से एवं कालक्रम से लेखन और उच्चारण-भेद को लेकर किस किस रीति से मूल पाठ में परिवर्तन होता है वह पाठालोचन की दृष्टि से विशेष महत्त्व का है।

(3) टीकाकार ने जो अवतरण (उद्धरण) उद्धत किये हैं और जो अवतरण चर्चा की भूमिका को पूर्ण करते हैं उन अवतरणों के मूल स्थानों का उल्लेख करने वाला परिशिष्ट संशोधक विद्वानों की दृष्टि में बहुत ही उपयोगी है।

(4) पृष्ठांक 255—264 में दी हुई शब्दसूची भाषान्तर में प्रयुक्त शब्दों और नामों के अतिरिक्त ग्रन्थगत विषय को स्पष्ट करने की दृष्टि से विशेष उपयोगी है।

समग्र भाषान्तर ऐसी सरसता और प्रवाहबद्ध मधुर भाषा में हुआ है कि पढ़ने के साथ ही जिज्ञासु अधिकारी को इसका मर्म रहस्य समझने में कोई कठिनाई नहीं होती। भाषान्तर की यह भी विशेषता है कि इसमें मूल और टीका दोनों का सम्पूर्ण आशय पुनरुक्ति के बिना आ जाता है और यह एक स्वतन्त्र ग्रन्थ हो ऐसा अनुभव होता है। संवादात्मक शैली के कारण जटिलता नहीं रहती और भगवान् एवं गणधरों के प्रश्नोत्तर पूर्णरूपेण पृथक् पृथक् ध्यान में आ जाते हैं। अनुवाद में जो पारिभाषिक शब्द आये हैं जो दार्शनिक विचार संकलित हुए हैं और जो दोनों पक्षों के तर्क दिये गये हैं उन सब का अत्यधिक स्पष्टीकरण हो जाने से भाषान्तर जटिल न बन कर सुगम बन गया है तथा विशेष जिज्ञासु के लिये अन्त में टिप्पणियाँ होने से उसकी विशिष्ट जिज्ञासा भी सन्तुष्ट हो जाती है।

वैदिक, बौद्ध या जैन आदि भारतीय दर्शनों में आत्मा, कर्म, पुनर्जन्म, परलोक जैसे विषयों की चर्चा साधारण है। उसमें कोई भी भारतीय दर्शन की शाखा का उच्चस्तरीय अध्ययन करने वाले एम० ए० की कक्षा के विद्यार्थियों अथवा उस विषय में शोधपूर्ण प्रबन्ध लिखकर डाक्टरेट उपाधि के अभिलाषियों अथवा अध्यापकों के लिये यह पूरी पुस्तक बहुत ही उपयोगी और बहुमूल्य सामग्री प्रदान करने वाली है।

सन्दर्भ-ग्रन्थ-संकेत सूची

अंगुत्तर निकाय (पाली टेक्स्ट)
अथर्ववेद
अनुयोगद्वार सूत्र
अनुयोगद्वार चूर्णि
अनुयोगद्वार हरिभद्रसूरि कृत टीका
हेमचन्द्रसूरि कृत टीका
अभिज्ञान शाकुन्तल
अभिधम्मत्थसंगहो (कोशाम्बी)
अभिधर्मकोष (काशी विद्यापीठ)
अष्टस०–अष्टसहस्री (विद्यानन्द)
आचा० नि०–आचारांग निर्युक्ति
आचारांग टीका
आत्मतत्त्वविवेक (उदयनाचार्य)
आप्तपरीक्षा (विद्यानन्द)
आप्तमीमांसा (समन्तभद्र)
आव० नि०–आवश्यक निर्युक्ति
आव० नि० दी०–आवश्यक निर्युक्ति दीपिका
आव० नि० हरि० टी०–आवश्यक निर्युक्ति हरिभद्र कृत टीका
आवश्यक निर्युक्ति मलयगिरि टीका
ईशावास्योपनिषद्
उत्तरा०–उत्तराध्ययन सूत्र
उत्त० नि०–उत्तराध्ययन निर्युक्ति
उत्थान' महावीरांक (स्था० जैन कान्फ्रेन्स बम्बई)
उदान (सारनाथ महाबोधि सोसायटी)
उपासकदशांग सूत्र
ऋग्वेद
ऐतरेय आरण्यक
कठो०–कठोपनिषद्
कथावत्थु (पाली टेक्स्ट)
कर्मग्रन्थ (भाग १–६ आगरा)
कर्मप्रकृति
कर्मप्रकृति चूर्णि
कल्पसूत्रार्थ प्रबोधिनी (विजयराजेन्द्रसूरि)
कषायपाहुड–जयधवला टीका (काशी)
कौषी०–कौषीतकी उपनिषद्
गीता
चतुःशतक (विश्व भारती)
छान्दो०–छान्दोग्योपनिषद्
जिनरत्नकोष (पूना)
जीतकल्प सूत्र
जीतकल्प सूत्र चूर्णि
जैन गुर्जर कविओ (देसाई)
जैन सत्यप्रकाश (अहमदाबाद)
जै० सा० सं० इ०–जैन साहित्य नो संक्षिप्त इतिहास (देसाई)
जैनागम (मालवणिया)
ज्ञानबिन्दु (सिंघी सिरीज)
तत्त्ववार्तिक
तत्त्वसंग्रह
तत्त्वार्थसूत्र
—विवेचन (पं० सुखलालजी)
—भाष्य
—भाष्य सिद्धसेनवृत्ति
तत्त्वार्थ भा० टी०–तत्त्वार्थ भाष्य टीका (सिद्धसेन)
तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक
तत्त्वोपप्लवसिंह
ताण्ड्य०–ताण्ड्य

यजुर्वेद
युक्त्यनुशासन
योगदर्शन
योगदर्शन भाष्य
योगदृ०—योगदृष्टिसमुच्चय
योगशिखोपनिषद्
लोकतत्त्वनिर्णय
वाक्यपदीय
विग्रहव्यावर्तिनी (नागार्जुन)
विजयोदया—भगवती आराधना टीका
विज्ञप्तिमात्रता सिद्धि
विनयपिटक—महावग्ग
विविधतीर्थ कल्प
विशेषणवती (जिनभद्र)
विशेषा० भा०—विशेषावश्यक भाष्य
विशुद्धिमग्ग
वैशे०—वैशेषिक सूत्र
व्यो०—व्योमवती प्रशस्तपाद भाष्य टीका
शतपथ ब्राह्मण
शाबर भाष्य
शास्त्रदी०—शास्त्रदीपिका
शास्त्रवार्तासमुच्चय
श्रीमद् भागवत (छायानुवाद)
श्लोकवा०—मीमांसा श्लोकवार्तिक
श्वेता०—श्वेताश्वतर उपनिषद्
षट्खण्डागम—धवला टीका
षड्दर्शनसमुच्चय (हरिभद्र)
षोडशक (हरिभद्र)
संयुत्तनिकाय (पाली टेक्स्ट)
सन्मतितर्क (गुजराती)
समयसार
समवायांग सूत्र
सर्वसारोपनिषद्
सर्वार्थसिद्धि—तत्त्वार्थ टीका
सांख्यका०—सांख्य कारिका
सांख्यत०—सांख्यतत्त्वकौमुदी
सामवेद
सुत्तनिपात
सूत्रकृ नि०
सूत्र० नि० —सूत्रकृतांग निर्युक्ति
सूर्यप्र —सूर्य प्रज्ञप्ति
सौन्दरनन्द
स्थानांग
स्याद्वादमञ्जरी
स्याद्वादर०—स्याद्वादरत्नाकर (पूना)
हरिवंश पुराण
हेतुबिन्दु
—Outlines of Indian Philosophy—Hiryanna
—Buddhist Conception of spirits—Law
—Buddhist Philosophy—Keith
—E.R.E. (Encyclopaedia of Religion and Ethics)
—Heaven and Hell—Law
History of Indian Philosophy Vol II—The Creative period—Belvelkar and Ranade
—Hymns of Rigveda
—Nature of Consciousness in Hindu Philosophy—Saxena
—Origin and development of Religion in Vedic Literature—Deshmukh

—0—

गणधरवाद—पृ० १-१७६

१ प्रथम गणधर इन्द्रभूति—जीव के अस्तित्व सम्बन्धी चर्चा ३-२८

२ द्वितीय गणधर अग्निभूति—कर्म के अस्तित्व की चर्चा २९-४८

३ तृतीय गणधर वायुभूति—जीव-शरीर चर्चा ४९-६६

४ चतुर्थ गणधर व्यक्त –शून्यवाद निरास ६७-९३

५ पंचम गणधर सुधर्मा—इस भव तथा परभव के सादृश्य की चर्चा ९४–१०२

६ छठे गणधर मण्डिक—बन्ध मोक्ष चर्चा १०३–१२०

७ सातवें गणधर मौर्यपुत्र—देव चर्चा १२१-१२७

८. आठवें गणधर अकम्पित—नारक-चर्चा १२८-१३३

९ नवमे गणधर अचलभ्राता—पुण्य-पाप-चर्चा १३४-१५१

१० दसवें गणधर मेतार्य—परलोक चर्चा १५२-१५८

११ ग्यारहवें गणधर प्रभास—निर्वाण-चर्चा १५९ १७९

प्रस्तावना

1 गणधरवाद क्या है ?

आवश्यक सूत्र जैनागम का एक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है। जैनसूत्रों की सर्वप्रथम प्राकृत पद्य व्याख्या अनुयोगद्वार सूत्र में दृष्टिगोचर होती है और वह आवश्यक सूत्र की व्याख्या के रूप में है। आचार्य भद्रबाहु ने जिन अनेक निर्युक्तियों की रचना की है उनमें आवश्यक सूत्र की निर्युक्ति का विशेष स्थान है। अन्य निर्युक्तियों के समान उसमें प्राकृत पद्य में आवश्यक सूत्र की व्याख्या की गई है। आवश्यक सूत्र के छः अध्ययन हैं जिनमें सामायिक अध्ययन प्रथम है। आचार्य जिनभद्र ने उस सामायिक अध्ययन तथा उस पर उसकी निर्युक्ति तक के सीमित भाग की प्राकृत पद्य में अति विस्तृत व्याख्या की है। वह विशेषावश्यक भाष्य के नाम से सुविख्यात है। विशेषावश्यक भाष्य की अनेक व्याख्याओं में आचार्य मलधारी हेमचन्द्र की विस्तृत संस्कृत व्याख्या सर्वाधिक प्रसिद्ध है। प्रस्तुत पुस्तक में आचार्य जिनभद्र के भाष्य की इस विस्तृत व्याख्या के आधार पर 'गणधरवाद' नामक प्रकरण का भाषान्तर है।

भाषान्तर की शैली

मेरे विचार में प्रस्तुत ग्रन्थ को केवल भाषान्तर न समझ कर रूपान्तर समझना अधिक उपयुक्त होगा। प्रकरण के नाम के अनुसार इसमें उस वाद का समावेश है जो भगवान् महावीर और ब्राह्मण-पण्डितों में हुआ था। इस वाद के पश्चात् ये ब्राह्मण पण्डित भगवान् से प्रभावित हुए, उनके मुख्य शिष्य बने और गणधर कहलाए। इसलिए इस वाद का नाम 'गणधरवाद' है। अतः भाषान्तर की शैली संवादात्मक रखी गई है। संवाद को अनुकूल रूप प्रदान करने के लिए मलधारी की व्याख्या के वाक्यों का भाषान्तर के साथ साथ रूपान्तर भी करना पड़ा है। अतः यह भाषान्तर संस्कृत से गुजराती भाषा में केवल अनुवाद नहीं है प्रत्युत इस व्याख्या को संवादात्मक रूप में उपस्थित करने का एक प्रयत्न है। इसी कारण मैंने इसे रूपान्तर कहा है।

संस्कृत भाषा की यह विशेषता है कि उसमें ऐसी परम्परा विद्यमान है जिसके आधार पर गम्भीर दार्शनिक विषयों की चर्चा अति संक्षिप्त शैली में हो सकती है और फिर भी विषय की अस्पष्टता लेशमात्र नहीं रहती। गुजराती भाषा की तथा संस्कृत भाषा की शैली में भी भेद है। अतः भाषान्तर को सुवाच्य बनाने के लिए यह आवश्यक है कि उसकी शैली गुजराती हो। केवल शब्दशः अनुवाद करने से भावों के अस्पष्ट रहने की अधिक संभावना रहती है। यह भी संभव है कि भाषान्तर गुजराती में हो और उसमें गुजरातीपन भी दृष्टिगोचर न हो। इन कारणों से भाषान्तरकार के लिए यह आवश्यक है कि वह केवल शब्दों को नहीं अपितु शब्दों और भावों को मिलाकर संस्कृत भाषा से गुजराती भाषा में रूपान्तर करे। इस भाषान्तर में इसी नीति के अनुसार कार्य करने का विनम्र प्रयास किया है। मुझे इसमें कहाँ तक सफलता मिली इस बात का निर्णय तो पाठक ही कर सकते हैं।

का यना म शिथिलता प्राप्त लग गई थी । यही कारण है कि अगबाह्य का भेद उमास्वाति द्वारा प्रतिपादित एक प्रकार का न होकर, तीन प्रकार का बताया गया है ।

नन्दी सूत्र की चूर्णि[1] म तथा आचार्य हरिभद्र रचित न दी सूत्र की टीका म अग बाह्य की रचना क विषय म दो धारायें(मत) प्राप्त होते हैं उसम भी एक मत तो आचार्य उमास्वाति स्वीकृत मत ही है कि जो गणधर रचित है व अग हैं और स्थविर प्रणीत होते हैं वे अग-बाह्य[2] । इसस यह भी सिद्ध होता है कि जस जस समय बीतता गया वस वस अग बाह्य गणधर कृत हैं एसी मान्यता की तरफ आकर्षित होते हुए भी आचाय गण प्राचीन मान्यता का स्मरण म रखते हुए उल्लख करते रहे ।

जो कुछ भी हो किन्तु प्राचीन मान्यता स यह प्रतिपादित होता है कि आवश्यक सूत्र अग बाह्य होने स इसक कर्ता गणधर नहीं अपितु कोई स्थविर थ ।

यह कहना कठिन है कि इस मान्यता क विरुद्ध दूसरी मान्यता कब स प्रारभ हुई ? तो भी इतना तो निश्चित है कि यह आवश्यक सूत्र भी गणधर प्रणीत है । इस प्रकार की मान्यता का सवप्रथम स्पष्ट प्रतिपादन आवश्यक नियुक्ति म दिखाई पड़ता है ।

आवश्यक सूत्र क सामायिकाध्ययन की उपोद्घात नियुक्ति म उद्देशादि[3] अनेक द्वार म जो प्रश्न उठाय गय हैं उनका नियुक्तिकार ने क्रमश उत्तर दिया है । उनका निरतर स्वाध्याय करने वाले की दृष्टि म यह तथ्य स्पष्ट हुए बिना नहीं रहता कि नियुक्तिकार बारम्बार यही तथ्य सिद्ध करना चाहते हैं कि सामायिकादि अध्ययनों की रचना भगवान क उपदेश क आधार पर गणधरों ने की है । इसी बात का समर्थन नियुक्ति का भाष्य करते हुए विशेषावश्यक भाष्यकार जिनभद्र ने किया है ।[4] नियुक्ति और भाष्य के टीकाकार आचाय हरिभद्र मलयगिरि मलधारी हेमचन्द्र भी उस उस प्रसग पर इसी बात का अनुसरण करें यह कोई आश्चय की बात नहीं । आचाय भद्रबाहु ने इस बात को भी स्पष्ट किया है कि इसम मैं जो कुछ कह रहा हू वह परम्परा से प्राप्त हुआ है ।[5] इस परम्परा का अनुसधान करें तो हम यह बात आवश्यक की प्राचीनतम व्याख्या अनुयोगद्वार म मिलती है । वहा भी आवश्यक के अध्ययनों के विषय म आवश्यक नियुक्ति म आगत उद्देशादि प्रश्नरूप गाथायें

---

1 नन्दी चूर्णी पृ 47

2 पृ 90

3 आव० नि० गा 140–141

4 आव नि की विशेषरूप स उसक भाष्यादि टीकाओं के साथ निम्नांकित गाथाए द्रष्टव्य हैं :— गा० 80 90 270 734 735 742 745 750 विशेषा 948–49 973–974 1484–1485 1533 1545–1548 2082 2083 2089 ।

5 आव नि 87

उचित समझा कि ये पुराण भी मात्र गणधर कृत हैं और हम तो यह वस्तु परम्परा से प्राप्त हुई है अतएव उसी के आधार से रचना करने में आई है।[1] इस प्रकार गणधर रचित न केवल अंग ग्रंथ ही अपितु अंग बाह्य ग्रंथों के साथ पुराण भी गणधर कृत माने जाने लगे।

इस प्रस्तुत चर्चा का उपयोगी निष्कर्ष यह है कि प्राचीन मान्यता के अनुसार यह आवश्यक अंगबाह्य होने से गणधर प्रणीत नहीं माना जाता था किन्तु बाद में आचार्यगण इसको भी गणधर रचित मानने लगे। साथ ही यह भी कहना चाहिए कि अंगबाह्य ग्रन्थों में से सर्व प्रथम आवश्यक को ही गणधर रचित मानने की परम्परा प्रारम्भ हुई और उसके बाद दूसरे अंग-बाह्य ग्रंथों को भी गणधर कृत ग्रन्थों में सम्मिलित करने लगे।[2]

अब यह प्रश्न उत्पन्न होता है कि ऐसा किसलिए करना पड़ा? इसका सीधा समाधान तो यह हो सकता है कि गणधर विशिष्ट ऋद्धि सम्पन्न माने जाते थे और उन्होंने भगवान से सीधा उपदेश ग्रहण किया था। इसलिए दूसरों की अपेक्षा उनकी रचना की प्रामाणिकता बढ़ जाय यह स्वाभाविक है। इसलिये पीछे के आचार्यों ने आगम में समावेश हो जाय ऐसे समस्त साहित्य को गणधरों के नाम चढ़ाना उचित समझा जिसमें उसकी प्रामाणिकता में सन्देह की गुंजाइश ही न रहे। इस प्रकार क्रमशः आवश्यक से लेकर पुराणों तक समस्त अंग बाह्य साहित्य गणधर कृत माना जाने लगा।

अंग बाह्य में तो अनेक ग्रंथ थे तो भी आवश्यक को सर्वप्रथम गणधर रचित मानने की परम्परा का प्रचलन इसलिये हुआ कि आगम ग्रन्थों में अनेक स्थानों पर जहां जहां भगवान महावीर के साक्षात् शिष्यों के अंगज्ञान अभ्यास का निर्देश है वहां-वहां उन्होंने सामायिकादि ग्यारह अंगों का अध्ययन किया ऐसे उल्लेख मिलते हैं। सामायिक यह आवश्यक का प्रथम प्रकरण है। अध्ययन क्रम में यदि उसका स्थान ग्यारह अंगों में भी पहिले है तो आवश्यक को गणधर-कृत मानने में कोई विशेष आपत्ति नहीं होती। अतएव अंग बाह्य में से आवश्यक को गणधरों की कृति के रूप में सर्वप्रथम स्वीकार करें यह स्वाभाविक है।

और आवश्यक की सब से प्राचीनतम व्याख्या अनुयोगद्वार सूत्र के उपक्रमद्वार में प्रमाणभेद की चर्चा करते हुए सूत्रागम आदि भेद किये हैं। आवश्यक सूत्र के सामायिक अध्ययन की ही चर्चा के प्रसंग में उक्त भेदों के करने से नियुक्तिकार भाष्यकार और अन्य टीकाकारों ने सामायिक अध्ययन को सामने रखकर ही इन भेदों का प्रतिपादन किया हो यह स्वाभाविक है। इसी कारण वे समस्त सामायिक के अर्थकर्त्ता के रूप में तीर्थंकर को सूत्रकर्त्ता के रूप में गणधर को मानते हैं। किन्तु इतना ध्यान रखना चाहिए कि अनुयोगद्वार सूत्र में आगम के सूत्रागम आदि भेद करते हुए भी प्रस्तुत सामायिक सूत्र में उसका उपक्रमद्वार

---

1 पद्मचरित 1 41–42 महापुराण (आदिपुराण) 1 26 1 198–201

2 अंगबाह्य की जिन भिन्न भिन्न व्याख्याओं का उल्लेख करने में आया है उन कारणों पर विचार करने से एक कारण यह प्रतीत होता है कि श्वेताम्बर और दिगम्बर परम्परा और उनके साहित्य के सम्बन्ध में ज्यों ज्यों मतभेद तीव्रतम होता गया त्यों-त्यों अंगबाह्य गणधरकृत मानने और मनवाने की प्रवृत्ति सबलता के साथ बढ़ती गई और पुराण जैसे ग्रंथों को भी गणधर-कृत कृतियों में समावेश करते गए।

वश को नमस्कार किया है[1] और भन्वान म यह प्रतिना की है कि इन्होने श्रुत का जो ग्रथ बनाया है वे उसकी नियक्ति अर्थात् श्रुत के साथ ग्रथ की योजना करेंगे। उन्होने प्रारम्भ म यह भी सकेत कर दिया है कि वे कौन कौन से ग्रन्थ के ग्रथ की योजना करने का विचार रखते हैं। उन ग्रथों के नाम ये हैं—1 आवश्यक 2 दशवकालिक 3 उत्तराध्ययन 4 आचाराग 5 सूत्रकृताग 6 दशाश्रुतस्कन्ध[3] 7 कल्प कल्प कल्प 8 व्यवहार 9 सूय प्रज्ञप्ति 10 ऋषिभाषित।

रचना क्रम

मेरा अनुमान है कि उन्होने जिस क्रम से आवश्यक नियुक्ति में ग्रन्थों का उल्लेख किया है उसी क्रम से उनकी-नियुक्तियो की रचना की होगी। इस बात का समथन निम्न लिखित कतिपय प्रमाणो से होता है —

1 उत्तराध्ययन नियक्ति मे विनय की नियुक्ति करते हुए कहा गया है कि इस विषय में पहले लिखा जा चुका है[4] यह बात दशवकालिक के विनय समाधि नामक अध्ययन की नियक्ति को लक्ष्य म रखकर लिखी गयी है। इससे सिद्ध होता है कि उत्तराध्ययन नियुक्ति से पहले दशवकालिक नियक्ति की रचना हो चुकी थी।

2 कामा पुव्वुद्दिट्ठा -उत्तराध्ययन नियुक्ति गा० 208 से सकेत किया है कि काम के विषय म पहले विवेचन हो चुका है। यह दशवकालिक नियुक्ति 161 मे है। अत उत्तराध्ययन नियुक्ति से पहले दशवकालिक नियुक्ति की रचना हुई।

3 उत्तराध्ययन नियुक्ति की–100वी गाथा आवश्यक नियुक्ति म से वसी की वसी उद्धरित की गई है (आवश्यक नियुक्ति 1279)।

4 आवश्यक नियुक्ति म निह्नववाद सम्बधी जो गाथाए हैं (778 से) वे सभी सामान्यत उसी रूप म उत्तराध्ययन म ली गई हैं (नि० गा० 164 से)। इससे और आवश्यक नियक्ति के प्रारम्भ की प्रतिज्ञा से भी सिद्ध होता है कि उत्तराध्ययन नियक्ति से पहले आवश्यक नियुक्ति बन चुकी थी।

5 आचाराग नियुक्ति 5 मे कहा है कि आचार और अग के निक्षेप का कथन पहले हो चुका है। इससे दशवकालिक नियुक्ति तथा उत्तराध्ययन नियक्ति की रचना आचाराग नियक्ति से पहले सिद्ध होती है। कारण यह है कि दशवकालिक के क्षुल्लिकाचार अध्ययन की नियक्ति म आचार की तथा उत्तराध्ययन के चतुरग अध्ययन की नियुक्ति म अग की जो नियक्ति की गई है आचार्य ने उसी का उल्लेख किया है।

6 इसी प्रकार आचाराग नियुक्ति 176 म कहा है कि लोगो भणिओ। इसम भी आवश्यक नियुक्ति के नागरस पाठ की नियक्ति का निर्देश है।

---

1 आव० नि गा० 82

2 आव नि० गा 83

3 आव० नि० गा० 84–86

4 उत्त० नि 29 विणओ पुव्वुद्दिट्ठो'

सामायिक श्रुत का अधिकारी होता है वही सभी अभेद विराग मार्ग का आश्रय लेकर तीर्थंकर बन सकता है और गुथे हुए ज्ञान को साकार रूप में परिणत करने के पश्चात अपना शासन स्थापित करने में सफल होता है तथा जिन प्रवचन को उत्पन्न कर जाता है।

इस पद्धति से जिन प्रवचन की उत्पत्ति के सामान्य क्रम का उल्लेख कर जिन प्रवचन सूत्र तथा अर्थ अर्थात् अनुयोग के पर्याय प्रकट किए गए हैं जो ये हैं[1]—

प्रवचन—श्रुत धर्म तीर्थ मार्ग ये पर्यायवाची हैं।

सूत्र—तन्त्र ग्रन्थ पाठ शास्त्र ये पर्यायवाची हैं।

अनुयोग—नियोग भाष्य विभाषा वार्तिक ये पर्यायवाची हैं।

उपोद्घात

अनुयोग तथा अननुयोग का सोदाहरण निक्षेप सहित विवरण करने के बाद भाषा विभाषा और वार्तिक के भेद दृष्टान्त सहित स्पष्ट किए[3] गए हैं। व्याख्यान विधि का विवेचन करते हुए आचार्य तथा शिष्य की योग्यता का सदृष्टान्त निरूपण[4] किया गया है।

इतना प्रासंगिक चर्चा करने के उपरान्त आचार्य सामायिक अध्ययन के उपोद्घात की रचना करते हैं। अर्थात् उन्होंने सामायिक सम्बन्धी कुछ प्रश्न उठाए हैं और उनकी चर्चा द्वारा उन सम्बन्धित विषयों का निरूपण किया है जिनका ज्ञान सामायिक के सूत्र-पाठ की व्याख्या करने से पहले जानना आवश्यक है। आजकल किसी भी पुस्तक की प्रस्तावना में जिन बातों की चर्चा आवश्यक होती है वैसी ही बातों की चर्चा आचार्य ने उपोद्घात में की है जो इस प्रकार है —

1 उद्देश—जिसकी व्याख्या करनी हो उसका सामान्य कथन, जैसे कि अध्ययन। 2 निर्देश—जिसकी व्याख्या करनी हो उसका विशेष कथन जैसे कि सामायिक। 3 निर्गम—व्याख्येय वस्तु का निर्गम सामायिक का आविर्भाव किस से हुआ? 4 क्षेत्र—उसके क्षेत्र-देश की चर्चा। 5 काल—उसके समय की चर्चा। 6 पुरुष—किस पुरुष से इस वस्तु की प्राप्ति हुई? 7 कारण चर्चा। 8 प्रत्यय—श्रद्धा की चर्चा। 9 लक्षण चर्चा। 10 नय विचार। 11 समवतार—नयों की अवतारणा। 12 अनुमत—व्यवहार निश्चय की दृष्टि से विचार। 13 किम—यह क्या है? 14 उसके भेद कितने हैं? 15 किसको है? 16 कहां है? 17 किसमें है? 18 किस तरह प्राप्त होती है? 19 कितने समय स्थिर रहती है? 20 कितने प्राप्त करते हैं? 21 विरह काल कितना है? 22 अविरह काल कितना है? 23 कितने भव तक प्राप्त करता है? 24 कितनी बार स्पर्श करता है? 25 कितने क्षेत्र का स्पर्श करता है? और 26 निरुक्ति।

---

1 आव० नि० गा० 130-131

2 आव० नि० गा० 132-134

3 आव० नि० गा० 135

4 आव० नि० गा० 136-139

5 आव० नि० गा० 140-141

भगवान ऋषभदेव—परिचय

निर्गम के विवरण में आचार्य ने उद्देशादि के समान निर्गम के भी सामान्य एवं विशेष[1] करके उसके अनेक भेद बताए हैं। इस प्रसंग पर यह भी लिखा है कि भगवान महावीर का मिथ्यात्वादि से निर्गम —निकलना किस प्रकार हुआ? इस प्रसंग में भगवान् महावीर के पूर्व भवों की चर्चा करते हुए भगवान् ऋषभदेव के युग से पूर्वकालीन कुलकरों के समय से आचार्य ने इतिहास प्रारम्भ किया है।[3] उसमें कुलकरों[4] के पूर्वभव, जन्म, नाम, प्रमाण, संहनन, संस्थान, वर्ण, उनकी स्त्रियां, आयु, किस वय की आयु में कुलकर बने, मर कर कौन से भव में गए, उनके समय की नीति—इन विषयों की चर्चा की गई है। अंतिम कुलकर नाभि की पत्नी का नाम मरुदेवा था। विनीता भूमि में उनका निवास था। ऋषभदेव उनके पुत्र थे। ऋषभदेव पूर्वभव में वज्रनाभ नाम के राजा थे। उस भव में उन्होंने तीर्थंकर नाम कर्म बांधा और वे सर्वार्थसिद्धि में देव हुए। वहां से च्युत होकर वे ऋषभदेव बने।[5] यहां पर ऋषभदेव के भी अनेक पूर्व भवों का वर्णन है।[6] जिन बीस कारणों के आधार पर उनके जीव ने तीर्थंकर नाम कर्म का बंधन किया उनके नाम का भी निर्देश है।[7] तीर्थंकर नाम कर्म सम्बन्धी कुछ और बातों का भी उल्लेख है।[8] इसके बाद ऋषभदेव के जीवन के विषय में निम्नलिखित बातों का वर्णन है —जन्म, नाम, वृद्धि, जातिस्मरण, विवाह, सन्तान, अभिषेक, राज्य संग्रह।[9] तत्पश्चात् आचार्य ने आहार, शिल्प, कर्म, परिग्रह, विभूषा इत्यादि 40 विषयों की चर्चा द्वारा उस युग का चित्र हमारे सम्मुख उपस्थित करने का प्रयत्न किया है और बताया है कि उस युग के निर्माण में ऋषभदेव की क्या देन थी।[10] नियुक्ति में इन सब विषयों की चर्चा नहीं की गई केवल उनका निर्देश है। ऋषभदेव का चरित्र वर्णन करते हुए 24 तीर्थंकरों के चरित्र पर भी साधर्म्य, वैधर्म्य, सम्बोधन, परित्याग इत्यादि 21 विषयों के आधार पर विचार किया गया है।[11] यहां अत्यन्त संक्षिप्त रूप में 24 तीर्थंकरों के जीवन का सार दे दिया गया है। इन सब बातों का वर्णन क्यों करना पड़ा? इस का पूर्वापर सम्बन्ध बताते हुए आचार्य ने कहा है कि सामायिक के निर्गम के विचार में भगवान महावीर के पूर्वभवों की चर्चा के अन्तर्गत उन के मरीचि जन्म का विचार आवश्यक था अतः भगवान

1 आव० नि० गा० 145
2 आव० नि० गा० 146
3 आव० नि० गा० 150
4 आव० नि० गा० 152
5 आव० नि० गा० 170
6 आव० नि० गा० 171–178
7 आव० नि० गा० 179–181
8 आव० नि० गा० 182–184
9 आव० नि० गा० 185–202
10 आव० नि० गा० 203 से
11 आव० नि० गा० 209–312

।। यज्ञवाटिका के उत्तर म एकान्त स्थान म देवे व दानव जिनेन्द्र की
र रहे थ ।[1] आचाय न समवसरण का भी विस्तत वणन किया है।
घोष का श्रवण कर यज्ञवाटिका मे बठे हुए लोगो को प्रसन्नता ह कि उनके
होकर दवता आ रहे हैं। भगवान क 11 गणधर उस यज्ञवाटिका म आए हुए
उत्सुकता क थ। आचाय न उनक नाम भी गिनाए हैं। उन्होन दीक्षा क्यो ली ?
क्या-क्या सशय थे ? उनके शिष्या की सख्या कितनी थी ? इन सब बाता का भा
है।[3]

न्तु जब उन्हें ज्ञात हुआ कि देवता तो जिन का यशोगान कर रहे हैं तब अभिमानी
ोध के साथ भगवान महावीर के पास आया। भगवान ने उस नाम गोत्र स बुलाया।
। उसक मन म विद्यमान सशय का कथन करक कहा कि तुम वद पदा का अथ नहा
न तुम्हे उनका सच्चा अथ बताता हू। जब उसके सशय का निवारण हो गया तब
न पाँच सौ शिष्यो क साथ दीक्षा लली। इसी प्रकार अन्य गणधरा की दीक्षा हुई।[4]
रख के बाद आचाय ने गणधरा के सम्बन्ध म कुछ बातें लिखी हैं।[5]

र

स पद्धति स उपोद्घात नियुक्ति के द्वारा म स निगम द्वार का वणन करते हुए
ाथक क अथकर्ता तीथकर और सूत्रकर्ता गणधरा के निगम का प्रतिपादन किया।[6]
न्त निगम के कालादि अन्य नि यों की विवेचना है।[7] इस प्रसग म विशेषत च्छाकार
ार आदि दस प्रकार की सामाचारी की व्याख्या विस्तार पूवक की गई है।[8]

त्र काल विवेचन म प्रश्न किया है कि प्रस्तुत क्या है ? खेत्तम्मि कम्मि काले
ा जिणवरिंदेण[9] (733) अथात किस क्षत्र और किस काल में जिनवरन्द्र न (सामायिक
किया ? इसक उत्तर म कहा है कि वशाख शुक्ल एकादशी क दिन पूवाह्न म
न स्थान मे भगवान न सामायिक को प्रकट किया। अथात इस क्षत्र और इस समय
ामायिक का साक्षात् निगम है। अन्य क्षत्रा और काल म उसका परम्परा स
।[10]

व नि गा० 539–542

व नि० गा० 543–590

गा 591–597

गा० 598–641

642–659

ामूत्रप्रणेतणा तीथकर गणधराणा निगम आव नि० हरि० टी०

0 का उ थान।

660

66–723

33 (विशेपा 2082)

34 (विशेपा० 2083 2089)

प्रवर्तित हुआ था। यज्ञवाटिका के उत्तर में एकान्त स्थान में देवेन्द्र व मानव जिनेन्द्र की महिमा का गान कर रहे थे।[1] आचार्य ने समवसरण का भी विस्तार से वर्णन किया है।[2]

दिव्य घोष का श्रवण कर यज्ञवाटिका में बैठे हुए लोगों को प्रसन्नता हुई कि उनके यज्ञ से आकृष्ट होकर देवता आ रहे हैं। भगवान् के 11 गणधर उस यज्ञवाटिका में आए हुए थे। वे सभी उपाध्याय थे। आचार्य ने उनके नाम भी गिनाए हैं। उन्होंने [illegible] क्या ली? उनके मन में क्या-क्या संशय थे? उनके शिष्यों की संख्या कितनी थी? इन सब बातों का भी वर्णन किया है।[3]

किन्तु जब उन्हें ज्ञात हुआ कि देवता तो जिनेन्द्र का यशोगान कर रहे हैं तब अभिमानी इन्द्रभूति क्रोध के साथ भगवान महावीर के पास आया। भगवान् ने उसे नाम-गोत्र से बुलाया। भगवान ने उसके मन में विद्यमान संशय का कथन करके कहा कि तुम वेदपदों का अर्थ नहीं जानते मैं तुम्हें उनका सच्चा अर्थ बताता हूँ। जब उसके संशय का निवारण हो गया तब उसने अपने पाँच सौ शिष्यों के साथ दीक्षा ले ली। इसी प्रकार अन्य गणधरों की दीक्षा हुई।[4] इस उपोद्घात के बाद आचार्य ने गणधरों के सम्बन्ध में कुछ बातें लिखी हैं।[5]

शेष द्वार

इस पद्धति से उपोद्घात नियुक्ति के द्वारों में से निर्गम द्वार का वर्णन करते हुए सामायिक के प्रवर्तक तीर्थंकर और सूत्रकर्ता गणधरों के निर्गम का प्रतिपादन किया।[6] तत्पश्चात् निर्गम के कालादि अन्य विषयों की विवेचना है।[7] इस प्रसंग में [illegible] इच्छाकार मिथ्याकार आदि दस प्रकार की सामाचारी की व्याख्या विस्तारपूर्वक की गई है।[8]

क्षेत्र काल विवेचन में प्रश्न किया है कि प्रस्तुत क्या है? खेत्तम्मि कम्मि काले विभासियं जिणवरिंदेण[9] (733) अर्थात् किस क्षेत्र और किस काल में जिनवरेन्द्र ने (सामायिक को) प्रकट किया? इसके उत्तर में कहा है कि वैशाख शुक्ल एकादशी के दिन पूर्वाह्न में महासेन उद्यान में भगवान ने सामायिक को प्रकट किया। अर्थात् इस क्षेत्र और इस समय में (सामायिक का) साक्षात् निर्गम है। अन्य क्षेत्रों और काल में उसका परम्परा से निर्गम है।[10]

---

1 आव० नि० गा० 539–542
2 आव० नि० गा० 543–590
3 आव० नि० गा० 591–597
4 आव० नि० गा० 598–641
5 आव० नि० गा० 642–659
6 उक्तं सामायिकार्थमूलप्रणेतॄणां तीर्थकरगणधराणां निर्गमः आव० नि० हरि० टी० पृ० 257 गा० 660 का उत्थान।
7 आव० नि० गा० 660
8 आव० नि० गा० 666–723
9 आव० नि० गा० 733 (विशेषा० 2082)
10 आव० नि० गा० 734 (विशेषा० 2083–2089)

सामायिक

इतनी प्रासंगिक चर्चा करने के पश्चात् अनुमत[1] द्वार की व्याख्या करके आचार्य ने सामायिक क्या है ?[2] इस द्वार की चर्चा प्रारम्भ की है। यहाँ नय-दृष्टि से सामायिक पर विचार किया गया है। सामायिक के भेदों पर विचार करते हुए उसके तीन भेद बताए गए हैं—सम्यक्त्व श्रुत चारित्र।[3] सामायिक किस की होती है ? इस प्रश्न के उत्तर में कहा गया है कि जिसकी आत्मा संयम नियम और तप में रमण करता है उसी की सामायिक है। जो सब जीवों के प्रति सम भाव रखता है उसकी सच्ची सामायिक है।[4] तदनन्तर सामायिक के कारण-आचरण का उपदेश दिया गया है।[5] सामायिक कहाँ है इस प्रश्न के उत्तर में क्षेत्र आदि अनेक द्वारों पर विचार किया गया है।[6] किसमें है ? इस पर विचार प्रकट करके आचार्य ने यह भी उल्लेख किया है कि वह किस प्रकार प्राप्त होती है[8] और साथ ही मनुष्य भव की दुर्लभता का दृष्टान्त सहित विवेचन किया है।[9] श्रुत की दुर्लभता[10] और बोधि-सामायिक की दुर्लभता का भी वर्णन किया गया है और उसकी प्राप्ति का क्रम सदृष्टान्त स्पष्ट किया गया है।[11] वह कब तक स्थिर रहती है इत्यादि[12] प्रश्नों का समाधान करके सामायिक के सम्यक्त्व आदि भेदों के पर्यायों का संग्रह[13] करके तथा उपोद्घात नियुक्ति के निरुक्ति नामक अन्तिम द्वार का विवेचन करके उन आठ प्रसिद्ध महापुरुषों के उदाहरण दिए गए हैं जिन्होंने सामायिक का पालन करके महर्षि पद को प्राप्त किया।[14] उन्हें नमस्कार करने के बाद उपोद्घात नियुक्ति का प्रकरण समाप्त हो जाता है।

उपसंहार

उपोद्घात नियुक्ति के उक्त विषयानुक्रम को सविस्तार इसलिए प्रतिपादित किया गया है कि पाठक यह बात समझ सकें कि आचार्य भद्रबाहु ने आवश्यक के उपोद्घात के व्याज से

---

1 आव० नि० गा० 789
2 790 794
3 795
4 796 97
5 799 803
6 804-829
7 830
8 831
9 832 40
10 841 843
11 844 48
12 849 60
13 861 864
14 865 879

इसका तात्पर्य यह है कि भगवान ने जो उपदेश दिया वह तो सिद्ध ही है उसे अनुमान द्वारा सिद्ध करने की आवश्यकता नहीं है तथापि श्रोता की दृष्टि को लक्ष्य में रखकर कहीं आवश्यक प्रतीत हो तो वहाँ दृष्टान्त का उपयोग करना चाहिए और श्रोता की योग्यता के अनुसार हेतु देकर भी समझाना चाहिए। इसका अर्थ यह हुआ कि भगवान के वचन का प्रामाण्य मान्य है अर्थात् वह स्वतन्त्र आगम प्रमाण है। उनके वचन में कई ऐसी बातें हो सकती हैं जो अनुमान या दृष्टान्त से सिद्ध न हो सकें। ऐसी बातें भी सम्भव हैं जो दृष्टान्त और हेतु द्वारा समझाई जा सकें। उनका यह आशय उनकी समस्त नियुक्तियों में लक्षित होता है। जिस वस्तु को वे दृष्टान्त योग्य समझते थे उसका स्पष्टीकरण उन्होंने एक नहीं अनेक दृष्टान्तों द्वारा किया है। अनेक विषयों के सम्बन्ध में दृष्टान्त के साथ साथ हेतुओं का भी प्रतिपादन किया है। विषय को स्पष्ट करने के लिए उनकी अधिकतर उपमायें पूर्णोपमा होती हैं।

व्याख्या करने की उनकी विशेषता यह है कि वे पहले व्याख्येय विषय के द्वार निश्चित कर लिख देते हैं और तत्पश्चात् एक एक द्वार का स्पष्टीकरण करते हैं। द्वारों में विशेषतः अनेक स्थल ऐसे हैं जहाँ नामादि निक्षेपों का आश्रय लिया गया है। व्याख्येय शब्द के पर्याय वाची शब्द अवश्य लिखे जाते हैं और शब्दार्थ के भेदों प्रभेदों का भी उल्लेख किया जाता है। इन सब बातों के परिणामस्वरूप अत्यन्त संक्षेप में वस्तु सम्बन्धी सभी ज्ञातव्य बातें अनावश्यक विस्तार के बिना ही बताई जा सकती हैं।

शब्दों की व्युत्पत्ति अर्थ प्रधान और शब्द प्रधान दोनों प्रकार से करते हैं। यहाँ प्राकृत भाषा के शब्द व्याख्येय हैं उनकी व्युत्पत्ति करते हुए आचार्य संस्कृत धातुओं से चिपके नहीं रहते वे प्रयत्न करते हैं कि शब्द को तोड़कर किसी भी प्रकार प्राकृत शब्द के आधार पर ही व्युत्पत्ति की जाए और उससे इष्ट अर्थ की प्राप्ति की जाए। इसके उदाहरण के लिए मिच्छा मि दुक्कडं (गा० 686–87) की नियुक्ति द्रष्टव्य है। आचार्य ने 'उत्तम' शब्द की जो व्युत्पत्ति की है वह मनस्वी होने के साथ साथ आध्यात्मिक अर्थ-युक्त होने के कारण रोचक प्रतीत होती है (आव० नि० गाथा 1100 टी०)। ऐसे अन्य अनेक उदाहरण दिए जा सकते हैं[1]।

आचार्य की किसी भी नियुक्ति को देखने से यह बात शीघ्र ध्यान में आ जाती है कि आचार्य का जैन परिभाषा तथा परम्परा सम्बन्धी ज्ञान अत्यन्त तलस्पर्शी है। आचार्य ने जैन

---

1 मिच्छा मि दुक्कडं इस पद में छह अक्षर हैं। उनमें मि का मृदुता छा का दोषाच्छादन मि का मर्यादा में रहना दु का दोषयुक्त आत्मा की जुगुप्सा क का किया गया दोष और डं का अतिक्रमण प्रकाराव वरके एक प्रकार में यह अर्थ सूचित किया है— नम्रता पूर्वक चारित्र की मर्यादा में रहकर दोष निवारण के निमित्त मैं आत्मा की जुगुप्सा करता हूँ। और किये गये दोष का इस समय ... । जिस प्रकार नियुक्ति ग्रन्थों में व्युत्पत्ति की गई है उसी ... भी

अन्य निर्युक्तियों में भी आवश्यक के समान आचार्य ने प्रारम्भ में उन उन मूल ग्रन्थों के प्रादुर्भाव की कथा का वर्णन किया है किन्तु यह वर्णन उसी ग्रन्थ में है जिसकी उत्पत्ति की कथा आवश्यक से भिन्न है। अन्यत्र अध्ययनों के नाम और विषयों का निर्देश कर उनका निष्पत्ति का मूल स्थान या ग्रन्थ बताकर और प्रायः प्रत्येक अध्ययन के नाम का निरूपण कर व्याख्या की गई है। अध्ययन के अन्तर्गत किसी महत्त्वपूर्ण शब्द अथवा उसमें विद्यमान मौलिक भाव को लेकर आचार्य ने उसका अपने ढंग से विवेचन करके ही सन्तोष माना है। अन्य ग्रन्थों में आवश्यक के समान मूल स्पर्शी निर्युक्ति प्रायः अल्प दिखाई देती है। यही कारण है कि अन्य ग्रन्थों की निर्युक्ति का परिमाण मूल ग्रन्थ की अपेक्षा बहुत कम है। आवश्यक की स्थिति इससे विपरीत है।

5 आचार्य जिनभद्र

पूर्व भूमिका

इस विश्व का मूल सत है अथवा असत है इस विषय में दो परस्पर विरोधी वादों का खण्डन मण्डन उपनिषदों में उपलब्ध होता है। त्रिपिटक तथा गणिपिटक—जैन आगम में भी विरोधी का खण्डन करने की प्रवृत्ति दृग्गोचर होती है अतः हम यह विश्वास कर सकते हैं कि वाद विवाद का इतिहास अति प्राचीन है और उत्तरोत्तर उसका विकास होता रहा है। किन्तु दार्शनिक विवादों के इतिहास में नागार्जुन से लेकर धर्मकीर्ति के समय तक का काल ऐसा है जिसमें दार्शनिकों की वाद विवाद सम्बन्धी प्रवृत्ति तीव्रतम हो गई है। नागार्जुन वसुबन्धु और दिङ्नाग जैसे बौद्ध आचार्यों के तार्किक प्रहारों के वार सभी दर्शनों पर सतत पड़ रहे थे और उनके प्रतीकार के रूप में भारतीय दर्शनों में पुनर्विचार की धारा प्रवाहित हुई थी। न्यायदर्शन में वात्स्यायन और उद्योतकर वैशेषिक दर्शन में प्रशस्तपाद मीमांसा दर्शन में शबर और कुमारिल जैसे प्रौढ़ विद्वानों ने अपने दर्शनों पर होने वाले प्रहारों के प्रत्युत्तर दिए। यही नहीं उन्होंने इस व्याज से स्वदर्शन को भी नया प्रकाश प्रदान कर उसे सुव्यवस्थित करने का प्रयत्न किया। दार्शनिक विवादों के इस प्रवाह में जैन तार्किकों ने भी भाग लिया और अपने आगम के आधार पर जैन दर्शन को तर्क-पुरस्सर सिद्ध करने का प्रयत्न किया।

ऐसा प्रतीत होता है कि आचार्य उमास्वाति ने इस विवाद से तत्त्वार्थ सूत्र लिखने की प्रेरणा प्राप्त की परन्तु उन्होंने उन सब का खण्डन कर जैन दर्शन को स्वकीय रूप प्रदान करने का कार्य नहीं किया उन्होंने केवल जैन दर्शन के तत्त्वों को सूत्रात्मक शैली में उपस्थित किया और विवाद का काम बाद में होने वाले पूज्यपाद अकलंक सिद्धसेन गणि विद्यानन्द आदि टीकाकारों के लिए छोड़ दिया।

आचार्य सिद्धसेन दिवाकर ने इस विवाद में से जैन न्याय की आवश्यकता का अनुभव कर 'न्यायावतार' जैसी अत्यन्त संक्षिप्त कृति की रचना की और जैन-न्याय में महत्त्वपूर्ण स्थान रखने वाले अनेकान्तवाद के मूल में स्थित नयवाद का विवेचन करने के लिए सन्मतितर्क

अन्य निर्युक्तियों में भी आवश्यक के समान आचार्य ने प्रारम्भ में उन उन मूल ग्रन्थों के प्रादुर्भाव की कथा का वर्णन किया है किन्तु यह वर्णन उसी ग्रन्थ में है जिसकी उत्पत्ति की कथा आवश्यक में भिन्न है। अध्ययन अध्ययनों के नाम और विषयों का निर्देश कर उनकी निष्पत्ति का मूल स्थान या ग्रन्थ बताकर और प्रायः प्रत्येक अध्ययन के नाम का निरुक्त कर व्याख्या की गई है। अध्ययन के अन्तर्गत किसी महत्त्वपूर्ण शब्द अथवा उसमें विद्यमान मौलिक भाव को लेकर आचार्य ने उसका अपने ढंग से विवेचन करके ही सन्तोष माना है। अन्य ग्रन्थों में आवश्यक के समान सूत्रस्पर्शी निर्युक्ति अत्यन्त अल्प दिखाई देती है। यही कारण है कि अन्य ग्रन्थों की निर्युक्ति का परिमाण मूल ग्रन्थ की अपेक्षा बहुत कम है। आवश्यक की स्थिति इससे विपरीत है।

5 आचार्य जिनभद्र

पूर्व भूमिका

इस विश्व का मूल सत् है अथवा असत् है इस विषय में दो परस्पर विरोधी वादों का खण्डन मण्डन उपनिषदों में उपलब्ध होता है। त्रिपिटक तथा गणिपिटक—जैन आगम में भी विरोधी का खण्डन करने की प्रवृत्ति दृग्गोचर होती है अतः हम यह विश्वास कर सकते हैं कि, वाद विवाद का इतिहास अति प्राचीन है और उत्तरोत्तर उसका विकास होता रहा है। किन्तु दार्शनिक विवादों के इतिहास में नागार्जुन से लेकर धर्मकीर्ति के समय तक का काल ऐसा है जिसमें दार्शनिकों की वाद विवाद सम्बन्धी प्रवृत्ति तीव्रतम हो गई है। नागार्जुन वसुबन्धु और दिग्नाग जैसे बौद्ध आचार्यों के तार्किक प्रहारों के कारण सभी दर्शनों पर सतत पड़ रहे और उनके प्रतीकार के रूप में भारतीय दर्शनों में पुनर्विचार की धारा प्रवाहित हुई थी। न्यायदर्शन में वात्स्यायन और उद्योतकर वैशेषिक दर्शन में प्रशस्तपाद मीमांसा दर्शन में शबर और कुमारिल जैसे प्रौढ़ विद्वानों ने अपने दर्शनों पर होने वाले प्रहारों के प्रत्युत्तर दिए। यही नहीं उन्होंने इस व्याज से स्वदर्शन को भी नया प्रकाश प्रदान कर उसे सुव्यवस्थित करने का प्रयत्न किया। दार्शनिक विवादों के इस अखाड़े में जैन तार्किकों ने भी भाग लिया और अपने आगम के आधार पर जैन दर्शन को तर्क पुरस्सर सिद्ध करने का प्रयत्न किया।

ऐसा प्रतीत होता है कि आचार्य उमास्वाति में इस विवाद से तत्त्वार्थ सूत्र लिखने की प्रेरणा प्राप्त की परन्तु उन्होंने उन सब का खण्डन कर जैन दर्शन को स्वकीय रूप प्रदान करने का कार्य नहीं किया उन्होंने केवल जैन दर्शन के तत्त्वों को सूत्रात्मक शैली में उपस्थित किया और विवाद का काम बाद में होने वाले पूज्यपाद अकलंक सिद्धसेन गणि विद्यानन्द आदि टीकाकारों के लिए छोड़ दिया।

आचार्य सिद्धसेन दिवाकर ने इस विवाद में से जैन न्याय की आवश्यकता का अनुभव कर 'न्यायावतार' जैसी अत्यन्त संक्षिप्त कृति की रचना की और जैन-न्याय में महत्त्वपूर्ण स्थान रखने वाले अनेकान्तवाद के मूल में स्थित नयवाद का विवेचन करने के लिए सन्मतितर्क

मूल स्थान भी पश्चिम में ही है। अतः हम कह सकते हैं कि यह अनुमान कर सकते हैं कि प्रथम शताब्दी के बाद जैन साधुओं का विहार विशेष रूप से पश्चिम में हुआ। जैन नगरी का महत्त्व उनके नष्ट होने तक रहा है और उनके नष्ट होने के बाद वलभी के निकटवर्ती पालीताना आदि नगर जैन धर्म के इतिहास की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण बने रहे हैं।

आचार्य जिनभद्र कृत विशेषावश्यक भाष्य की प्रति शक संवत् 531 में लिखी गई और वलभी के किसी जैन मंदिर को समर्पित की गई। इससे ज्ञात होता है कि वलभी नगरी से आचार्य जिनभद्र का कोई सम्बन्ध होना चाहिए। अतः हम यह अनुमान कर सकते हैं कि वलभी और उसके आसपास उनका विहार हुआ होगा।

विविधतीर्थकल्प में मथुरा कल्प के प्रसंग में आचार्य जिनप्रभ ने लिखा है कि—आचार्य जिनभद्र क्षमाश्रमण ने मथुरा में देवनिर्मित स्तूप के देव की एक पक्ष की तपस्या कर आराधना की और दीमक द्वारा खाए हुए महानिशीथ सूत्र का उद्धार किया[1]। इससे यह तथ्य ज्ञात होता है कि जिनभद्र ने वलभी के उपरान्त मथुरा में भी विचरण किया था और उन्होंने महानिशीथ सूत्र का उद्धार किया था।

अभी कुछ ही समय पूर्व अकोट्टक (अर्वाचीन अकोटा गाँव) से प्राप्त हुई प्राचीन जैन मूर्तियों का अध्ययन करते हुए श्री उमाकान्त प्रेमानन्द शाह को दो अत्यन्त महत्त्वपूर्ण प्रतिमाएं मिली हैं। उन्होंने जैन सत्यप्रकाश (अंक 196) में उन मूर्तियों का परिचय दिया है। कला तथा लिपि विद्या के आधार पर उन्होंने इन्हें ई. सन् 550 से 600 तक के काल में रखा है। उन्होंने यह भी निर्णय किया है कि इन मूर्तियों के लेख में जिन आचार्य जिनभद्र का नाम है वे विशेषावश्यक भाष्य के कर्ता क्षमाश्रमण जिनभद्र ही हैं अन्य नहीं। उनकी वाचनानुसार[2] एक मूर्ति के पभासण (पद्मासन) के पृष्ठ भाग में ओं देवधर्मोयं निवृतिकुले जिनभद्रवाचनाचार्यस्य ऐसा लेख है और दूसरी मूर्ति के भा मण्डल में ओं निवृतिकुले जिनभद्रवाचनाचार्यस्य यह लेख उपलब्ध होता है।

उपर्युक्त वर्णन से निश्चयपूर्वक ये तीन नई बातें ज्ञात होती हैं—आचार्य जिनभद्र ने इन मूर्तियों को प्रतिष्ठित किया होगा, उनके कुल का नाम निवृति कुल था और वे वाचनाचार्य कहलाते थे। इससे एक तथ्य यह भी फलित होता है कि वे चैत्यवासी थे[3] क्योंकि लेख में लिखा है कि जिनभद्रवाचनाचार्य का। इस तथ्य को इस कारण विचाराधीन समझना चाहिए

1 इत्थ देवनिम्मियथूभे पक्खखमणेण देवयं आराहित्ता जिणभद्दखमासमणेहिं उद्देहिया भक्खियपुत्थयपत्तत्तणेण तुट्टं भग्गं महानिसीहं संधिअं। वि० तीर्थकल्प पृ० 19

2 श्री शाह की वाचना प्रामाणिक है और उनका लिपि के समय का अनुमान भी ठीक है। इस बात का समर्थन बनारस हिन्दू यूनिवर्सिटी के प्राचीन लिपि विशारद प्रो० अवधकिशोर ने भी किया है। अतः इसमें शंका का अवकाश नहीं है।

3 श्री शाह ने भी यह संकेत किया है, परन्तु कारण अन्य बताया है।

गाथाम्रा के म्राधार पर निणय किया है कि उनकी रचना वि० सं० 666 मे हुई। वे गाथाए य हैं —

> पच सता इगतीसा सगरिणवकालस्स वट्टमाणस्स ।
> तो चेत्तपुण्णिमाए बुधदिरण सातिमि णक्खत्त ॥
> रज्जे ण पालणपर सी [लाइ]च्चम्मि णरवरिंदम्मि ।
> वलभीरणगरीए इम महवि मि जिरणभवरण ॥[1]

श्री जिनविजयजी इन गाथाम्रो का तात्पय यह बताते हैं कि शक सवत 531 मे वलभी मे जब शिलादित्य राज्य करत थे तब चत्र की पूर्णिमा बुधवार तथा स्वाति न त्र म विशेषावश्यक की रचना पूण हुई। किन्तु मूल गाथाम्रो स उनका बताया हुम्रा तात्पय नहीं निकलता। इस गाथा मे रचना के विषय म कुछ भी नही कहा गया है। टूटे हुए म्रक्षरो को हम यदि किसी मन्दिर का नाम मानें तो इन दोनों गाथाम्रो म कोई क्रिया ही नही है इसलिए यह निश्चयपवक नहीं कहा जा सकता कि इस भाष्य की रचना शक सवत 531 (वि० स 666) म हुई। इस बात की सम्भावना म्रधिक है कि वह प्रति उस वष लिखी गई म्रौर उस मन्दिर म रखी गई। गाथाम्रो का तात्पय रचना से नहीं म्रपितु मन्दिर म स्थापित करने से है यह बात निम्नलिखित कारणो से म्रधिक सगत प्रतीत हाती है —

1 ये गाथाए केवल जसलमर की प्रति मे ही मिलती हैं म्रन्यत्र किसी भी प्रति म य नही हैं म्रत यह मानना पड़गा कि ये गाथाए मूल कर्त्ता की नही किन्तु प्रति के लिख जाने म्रौर उक्त मन्दिर मे रख जाने की सूचक हैं। जो प्रति मन्दिर म रखी गई होगी उसी की नक़ल जसलमेर की प्रति होगी म्रत उसम भी इन गाथाम्रो के सम्मिलित हो जाने की सम्भावना है। हम यह म्रनुमान कर सकते हैं कि इस प्रति के म्राधार पर दूसरी कोई प्रति नही लिखी गई इसीलिए म्रन्य किसी प्रति म इनका समावेश नहा हुम्रा।

2 यदि इन गाथाम्रो को रचनाकाल सूचक माना जाए तो यह भी स्वीकार करना पड़गा कि इन्हे म्राचाय जिनभद्र ने बनाया। एसी दशा म उनकी टीका भी उपलब्ध हानी चाहिए किन्तु जिनभद्र द्वारा म्रारम्भ की गई म्रौर म्राचाय कोट्टाय द्वारा पूण की गई विशेषा वश्यक की सव प्रथम टीका म म्रथवा कोट्याचाय म्रौर म्राचाय हेमचन्द्र मलधारी की टीकाम्रो म भी इन गाथाम्रों की टीका दृगोचर नहा होती यही नही इन गाथाम्रो के म्रस्तित्व का भी सकेत नहीं मिलता। म्रत हम कह सकते हैं कि य गाथाएं म्राचाय जिनभद्र की रचना नही हैं। म्रर्थात हा सकता है कि प्रति की नक़ल करने वाले या करवाने वाले ने इन्हें लिखा हो। तब इन गाथाम्रों मे उल्लिखित समय रचना सवत नही किन्तु प्रति लखन सवत सिद्ध होता है। कोट्टाय के उल्लेख स यह भी सिद्ध होता है कि म्राचाय जिनभद्र की म्रन्तिम कृति विशेषावश्यक भाष्य है। कोट्टाय ने यह स्पष्ट उल्लख किया है कि उस भाष्य की स्वोपज्ञ टीका उनका स्वगवास हो जाने के कारण पूण न हो सकी।

म्रब यदि विशेषा की यह प्रति शक सवत 531 मे म्रर्थात वि० स० 666 म लिखी गई तो उसकी रचना का समय वि 660 के बाद का तो हो ही नहीं सकता। हम यह भी

जानते हैं कि यदि आचार्य जिनभद्र की अन्तिम कृति थी। उसकी टीका भी उनके स्वर्गवास के कारण अपूर्ण रही। अतः स्वयं जिनभद्र की भी उत्तरावधि वि० 650 के पश्चात् नहीं हो सकती।

एक परम्परा के आधार पर भी उनकी इस उत्तर अवधि का समर्थन होता है। विचार श्रेणी के उल्लेख के अनुसार आचार्य जिनभद्र का स्वर्गवास वि० 630 में निश्चित किया जा सकता है क्योंकि उसमें वीर निर्वाण 1055 में आचार्य हरिभद्र का स्वर्गवास[1] लिखा है और उसके बाद 65 वर्ष तक जिनभद्र का युगप्रधान काल बताया है। अतः आचार्य जिनभद्र का स्वर्गवास 1120 वीर निर्वाण संवत् में निश्चित होता है अर्थात् वि० 630 में उनका स्वर्गवास हुआ। विचारश्रेणी के अनुसार हम इसी परिणाम पर पहुँचते हैं। विचारश्रेणी का यह मत हमारी उपर्युक्त विचारणा के अनुकूल है अतः उसे यदि निश्चय कोटि में नहीं तो सम्भव कोटि में अवश्यमेव रख सकते हैं।

दूसरी परम्परा के अनुसार आचार्य जिनभद्र वीर निर्वाण 1115 में युगप्रधान बने। इसका उल्लेख धर्मसागरीय पट्टावली में है। इस युगप्रधान काल को 60 या 65 वर्ष का गिनने से उनका स्वर्गवास विक्रम 705–710 में निश्चित होता है किन्तु इसके साथ उक्त प्रति के उल्लेख का मेल नहीं बैठता क्योंकि वह वि० 666 में लिखी गई थी अतः उनका निर्माण उससे पहले ही पूर्ण हो चुका था। अन्तिम कृति होने के कारण उसके निर्माण और आचार्य की मृत्यु के समय में 10 या 15 वर्ष से अधिक के अन्तर की कल्पना भी नहीं की जा सकती। फिर भी यदि कल्पना करें कि यह उल्लेख ग्रन्थ के निर्माण का सूचक है तो ऐसी दशा में इस ग्रन्थ की रचना के चालीस वर्ष बाद उनकी मृत्यु माननी पड़ेगी किन्तु कोट्याचार्य का उल्लेख इसमें स्पष्ट रूप से बाधक है। अतः धर्मसागरीय पट्टावली में वर्णित समय से विचारश्रेणी में प्रतिपादित समय अधिक उपयुक्त है अर्थात् आचार्य जिनभद्र का स्वर्गवास अधिक से अधिक वि० 650 में हुआ यह मानना अधिक ठीक है।

ऐसी जनश्रुति है कि आचार्य जिनभद्र की पूर्ण आयु 104 वर्ष की थी। उसके अनुसार उनका समय वि० 545 से 650 तक माना जा सकता है। जब तक इसके विरुद्ध प्रमाण न मिले तब तक हम आचार्य जिनभद्र के इस समय को प्रामाणिक मान सकते हैं।

उनके ग्रन्थों में उपलब्ध होने वाले उल्लेखों की शोध करने पर भी ऐसा कोई उल्लेख नहीं मिलता जो इस मान्यता में बाधक हो। सामान्यतः उनके ग्रन्थों में आचार्य सिद्धसेन [illegible] जैसे प्राचीन आचार्यों के मतों का निर्देश है किन्तु वि० 650 के बाद के किसी भी आचार्य का उल्लेख उनके ग्रन्थों में देखने में नहीं आता। जिनदास की चूर्णि में जिनभद्र के मत का उल्लेख मिलता है। इससे भी उक्त समयावधि का समर्थन हो जाता है।

---

1 आचार्य हरिभद्र के समय के विषय में यह उल्लेख भ्रान्त है। यह बात आचार्य जिनविजयजी ने सप्रमाण अपने लेख में सिद्ध की है वह उचित है फिर भी आचार्य जिनभद्र का समय अभ्रान्त हो सकता है।

न की चूर्णि तो निश्चित रूप से 733 वि० में बनी थी और उसमें पग-पग पर विशेषावश्यक का उल्लेख है।

6 आचार्य जिनभद्र के ग्रन्थ

निम्न लिखित ग्रन्थ आचार्य जिनभद्र के नाम से प्रसिद्ध हैं —

1 विशेषावश्यक भाष्य—प्राकृत पद्य
2 विशेषावश्यक भाष्य स्वोपज्ञवृत्ति—संस्कृत गद्य
3 बृहत् संग्रहणी—प्राकृत पद्य
4 बृहत् क्षेत्रसमास—प्राकृत पद्य
5 विशेषणवती—प्राकृत पद्य
6 जीतकल्प सूत्र – प्राकृत पद्य
7 जीतकल्पसूत्र भाष्य—प्राकृत पद्य
8 ध्यानशतक

(1) विशेषावश्यक भाष्य—

यदि इस ग्रन्थ को जैन ज्ञान महोदधि की उपमा दी जाए तो इसमें लेशमात्र भी अतिशयोक्ति नहीं होगी। इसमें जैन आगमों में बिखरी हुई अनेक दार्शनिक चर्चाओं को सम्यक् और व्यवस्थित रीति से तर्क-पुरस्सर सुव्यवस्थित कर उपस्थित किया गया है। जैन परिभाषाओं को स्थिर रूप प्रदान करने में इस ग्रन्थ को जो श्रेय प्राप्त है वह शायद ही अन्य अनेक ग्रन्थों को एक साथ मिलाकर मिल सके। जब से इस महान ग्रन्थ की रचना हुई तब से जैन आगम की व्याख्या करने वाला कोई भी ऐसा ग्रन्थ नहीं बना जिसमें इस ग्रन्थ का आधार न लिया गया हो। इस से हम सहज ही यह समझ सकते हैं कि इस ग्रन्थ का महत्त्व कितना है। इस ग्रन्थ के अनेक प्रकरण ऐसे हैं जो स्वतन्त्र ग्रन्थ के समान हैं। पाँच ज्ञान चर्चा गणधरवाद निह्नववाद नयाधिकार नमस्कार प्रकरण सामायिक विवेचन तथा अन्य ऐसे अनेक प्रकरण हैं जो स्वतन्त्र ग्रन्थ का उद्देश्य पूरा करते हैं। आचार्य जब किसी भी विषय की चर्चा का प्रारम्भ करते हैं तब उस की गहराई में तो जाते ही हैं साथ ही उसका विस्तृत वर्णन करने में भी संकोच नहीं करते। फलतः किसी भी विषय का गम्भीर व विस्तृत चर्चा एक ही स्थान पर पाठकों को उपलब्ध हो जाती है।

यह ग्रन्थ आवश्यक सूत्र की निर्युक्ति की टीका के रूप में लिखा गया है अतः इसका मूल के अनुसार होना स्वाभाविक है किन्तु आचार्य वस्तु-संकलन में इतने कुशल हैं कि मूल की स्पष्टता के आधार पर वे अनेक सम्बद्ध विषयों की चर्चा कर देते हैं। इस ग्रन्थ के परिचय के लिए एक स्वतन्त्र ग्रन्थ के लिखे जाने की आवश्यकता है अतः यहाँ उसका अधिक विस्तार करना अनावश्यक समझ कर सामान्य परिचय देकर ही सन्तोष मानना उचित है।

इस भाष्य की 3606 गाथाएँ हैं इनकी टीका स्वयं आचार्य ने संस्कृत में लिखी थी। वह ग्रन्थ के प्रारम्भ से छठे गणधर तक है उनके स्वर्गवास के कारण यह टीका अधूरी रह गई अतः उसे आचार्य कोट्याय ने पूरा किया।

दूसरी टीका कोट्याचार्य की है और तीसरी मलधारी हेमचन्द्र की। प्रस्तुत अनुवाद इसी तीसरी टीका के आधार पर तैयार किया गया है।

(2) विशेषावश्यक भाष्य स्वोपज्ञ वृत्ति

आचार्य ने यह टीका संस्कृत में लिखी है। प्राय प्राकृत गाथाओं का संक्षिप्त संस्कृत भाषा में लिख दिया गया है और कहीं कहीं कुछ अधिक चर्चा भी की है। यह वृत्ति अत्यन्त संक्षिप्त है अत साधारण पाठक मूल का तात्पर्य नहीं समझ सकते। इसीलिए आचार्य कोट्याचार्य तथा मलधारी हेमचन्द्र ने इस पर उत्तरोत्तर विस्तृत टीका लिखना उचित समझा। इस टीका का विशेष परिचय मुनि श्री पुण्यविजयजी ने ही कुछ समय पूर्व दिया है और उन्होंने ही सर्वप्रथम उसकी शोध की है।

आचार्य ने इस टीका में आचार्य सिद्धसेन के नाम का उल्लेख किया है, अत अब यह बात निश्चित हो जाती है कि अन्य टीकाकारों ने जिन कुछ मतों को सिद्धसेन के मत के रूप में माना है उनका आधार प्रस्तुत टीका ही है[1]। उनकी स्वोपज्ञ टीका से यह भी सिद्ध होता है कि उन्होंने स्वयं ही इस भाष्य का नाम विशेषावश्यक रखा। गाथा 1863 तक आचार्य ने व्याख्या की तत्पश्चात उनकी मृत्यु हो जाने के कारण व्याख्या अधूरी रह गई[2,3]।

(3) बृहत् संग्रहणी

बृहत् संग्रहणी के विवरण के मंगलाचरण प्रसंग पर आचार्य मलयगिरि ने इस ग्रन्थ के कर्ता के रूप में आचार्य जिनभद्रगणि क्षमाश्रमण का उल्लेख अत्यन्त आदर-पूर्वक किया है[4] अत इस बात में सन्देह नहीं रह जाता कि इस कृति के कर्ता आचार्य जिनभद्र हैं। आचार्य जिनभद्र ने स्वयं इस ग्रन्थ का नाम संग्रहणी दिया है[5] किन्तु अन्य संग्रहणियों से पृथक करने के लिए इसे बृहत् संग्रहणी कहा जाता है। इसमें चारों गति के जीवों की स्थिति आदि का संग्रह किया गया है अत इस ग्रन्थ का नाम संग्रहणी पड़ा। प्रारम्भ की दो गाथाओं में आचार्य ने इस ग्रन्थ के प्रतिपाद्य विषय का संग्रह किया है उससे ज्ञात होता है कि देवों व नारकों की

---

1 गाथा 65 की व्याख्या देखें।

2 गाथा 1442 की व्याख्या देखें।

3 निर्माप्य षष्ठगणधरवक्तव्यं किल दिवंगता पूज्या।
अनुयोगमार्ग (ग) देशिकजिनभद्रगणिक्षमाश्रमणा ॥
तानेव प्रणिपत्यातः परमवि (व) शिष्टविवरणं क्रियते।
कोट्टार्यवादिगणिना मन्दधिया शक्तिमनपेक्ष्य ॥ गाथा 1863

4 नमत जिनबुद्धितेजः प्रतिहतनिःशेषकुमतपटलतिमिरम्।
जिनवचनैकनिरतं जिनभद्रगणिक्षमाश्रमणम् ॥
यामकृत संग्रहणिं जिनभद्रगणिक्षमाश्रमणपूज्य।
तस्या गुरूपदेशानुसारतो वच्मि विवृतिमहम् ॥

5 ता संगहणि त्ति नामेण ॥ गा० 1

स्थिति भवन तथा अवगाहना मनुष्यों व तिर्यचों के देह मान तथा आयु प्रमाण देवों और नारकों के उपपात तथा उद्वर्तन के विरहकाल संख्या एक समय में कितनों का उपपात तथा उद्वर्तन होता है और समस्त जीवों की गति व आगति का इस ग्रन्थ में क्रमशः वर्णन किया गया है[1]।

वस्तुत यह ग्रन्थ भूगोल व खगोल के अतिरिक्त देवों तथा नारकों के विषय में सम्पूर्ण जैन मन्तव्य का प्रतिपादन करता है। यही नहीं मनुष्यों तथा तिर्यचों के सम्बन्ध में भी अनेक ज्ञातव्य बातें इसमें संगृहीत हैं। वास्तविक रूप में इस ग्रन्थ को जीव व जगत विषयक मन्तव्यों का संग्राहक ग्रन्थ कहना चाहिए। आचार्य मलयगिरि ने इस ग्रन्थ की कलश रूप जो टीका लिखी है उससे इस ग्रन्थ का स्थान सहज ही जीव व जगत सम्बन्धी जैन मन्तव्यों के एक विश्वकोश का हो जाता है। अन्त में आचार्य ने लिखा है कि इसमें जो कुछ प्रतिपादित किया गया है, वह मूल श्रुत ग्रन्थों और पूर्वाचार्यों द्वारा कृत ग्रन्थों के आधार पर स्व मति से उद्धृत है। इसमें यदि कोई त्रुटि हो तो श्रुतधर और श्रुतज्ञ क्षमा करें[2]।

इस ग्रन्थ की कुल गाथाएँ 367 हैं किन्तु आचार्य मलयगिरि के अनुसार उनमें कुछ अन्यकृत[3] और कुछ मतान्तर सूचक प्रक्षिप्त[4] गाथायें भी हैं। उन्हें निकाल कर मूल गाथाओं की संख्या 353 है। प्रक्षेप की चर्चा के अवसर पर यह भी बताया गया है कि आचार्य हरिभद्र ने भी इसकी एक टीका लिखी थी।

(4) बृहत् क्षेत्रसमास

आचार्य मलयगिरि ने अपनी वृत्ति के प्रारम्भ में और अन्त में क्षेत्रसमास को आचार्य जिनभद्र की कृति बताया है। बृहत् क्षेत्रसमास के नाम से प्रसिद्ध क्षेत्र समास कृति आचार्य जिनभद्र की है इसमें सन्देह का स्थान नहीं है। आचार्य जिनभद्र ने स्वयं इस ग्रन्थ का नाम[5] समय क्षेत्र-समास अथवा क्षेत्र-समास प्रकरण[6] सूचित किया है। आचार्य मलयगिरि ने मंगलाचरण के प्रसंग पर प्रारम्भ में इसका नाम क्षेत्र समास सूचित किया है। दूसरे क्षेत्र समास से इसके पृथक्करण के लिए तथा इसके बड़े होने के कारण यह ग्रन्थ बृहत् क्षेत्र समास के नाम से विशेषरूपेण प्रसिद्ध है तथापि आचार्य ने स्वयं इसका जो समय-क्षेत्र समास नाम प्रदान किया है वह भी सार्थक है। कारण यह है कि इसमें जितने क्षेत्र में सूर्यादि की गति के आधार पर

---

1 गाथा 2 व 3 देखें।

2 गाथा 367

3 गाथा 9 10 15 16 68 (सूय प्र०) 69 (सूय प्र) 72 (सूय प्र०)

4 अथेयं प्रक्षेपगाथेति कथमवसीयते ? उच्यते मूलटीकाकारेण हरिभद्रसूरिणा। लेशतोऽप्यस्या असूचनात्। एवमुत्तरा अपि मतान्तरप्रतिपादिका गाथा प्रक्षेपगाथा अवसेया। मलयगिरि टीका गाथा 73 से 79 तक की गाथाएं प्रक्षिप्त हैं।

5 गाथा 1 1 76

6 गाथा 50 75

समास की टीका लिखी है और व चन्गच्छीय प्रभयदेवपरम्परा म—धनश्वर-अजितसिंह-वद्धमान-चन्द्रप्रभ-भद्रश्वर-हरिभद्र-जिनचन्द्र क शिष्य थ।

5 दवानन्द कृत वत्ति—यह वत्ति पद्मप्रभ क शिष्य देवानन्द न सवत 1455 म 3332 श्लोक प्रमाण लिखी।

6 देवभद्र कृत वत्ति—सवत् 1233 म देवभद्र न एक हजार श्लोक प्रमाण इस वत्ति की रचना की।

7 ग्रानन्दसूरि कृत वत्ति—देवभद्र के शिष्य जिनश्वर क शिष्य ग्रानन्दसूरि न इसकी रचना की। इसका प्रमाण 2000 श्लोक है।

8–10 वत्तियाँ—य किन की हैं ज्ञात नहीं किन्तु मगलाचरणा से पता चलता है कि पूर्वोक्त वत्तिया स य भिन्न हैं।

(5) विशेषणवती[2]

ग्राचाय जिनभद्र तक की अपेक्षा ग्रागम की प्रतिष्ठा महत्व रत थ ग्रत ग्रागम गत ग्रसगतियों का निराकरण करना उनका परम कत्तव्य था। विशेषणवती ग्रथ लिखकर उन्होंने ग्रपने इस कत्तव्य का ही पालन किया। उन्होंने ग्रसगति का निराकरण विशेष प्रकार की ग्रपेक्षा को सम्मुख रखकर किया है। ग्रर्थात एक ही विषय म दो विरोधी मत उपस्थित हो तब उन दोनों की विशषता किस बात म है यह बताकर ग्रसगति का निवारण करते समय उन मतों या वा विशेषण स विशिष्ट करना पडता है। ऐसा प्रतीत होता है कि इसी कारण इस ग्रन्थ का नाम विशेषणवती पडा। पुनश्च ग्रागम गत ग्रसगतियों क उपरान्त जनाचार्यों के ही कतिपय ऐसे मन्तव्य थे जो ग्रागम की मान्यता के विरुद्ध थे। उनका ग्राचाय जिनभद्र न इस ग्रन्थ म निराकरण करते हुए ग्रौर ग्रागम-पक्ष की स्थापना की है। इस ग्रन्थ म जिन विषयों की चर्चा की गई है उनम से कुछ य हैं —

प्रारम्भ म ही उत्सेधागल प्रमाणागल और ग्रात्मागुल क माप की चर्चा है। भगवान् महावीर की ऊचाई जिस शास्त्र म बताई गई है उसक साथ इन ग्रगुलों के माप का मल नहीं है। ऐसी स्थिति म इसका समाधान कसे करना चाहिए यह प्रश्न उपस्थित कर उसका ग्रपेक्षा विशष से समाधान किया है[3]। कुलकरों की शास्त्रों म जो सात दस ग्रौर पन्द्रह सख्या दृष्टिगोचर होती है उसका भी सक्षेप व विस्तार-दृष्टि स विवेचन किया है[4]। तियच म चारित्र नहीं है यह बात ग्रागम म बताई गई है फिर भी तियच को महाव्रत ग्रारोपण करने क उदाहरण शास्त्र म मिलते हैं। इस विरोध का परिहार यह कह कर किया है कि महाव्रतों

1 जन साहित्य का सक्षिप्त इतिहास पृ० 278

2 रतलाम की ऋषभदेवजी केशरीमलजी की पेढी की ग्रोर स वि० स० 1984 में प्रत्याख्यान स्वरूपादि पाँच ग्रन्थ एक साथ प्रकाशित हुए हैं उनमें एक यह विशेषणवती है।

3 गाथा 1 से

4 गाथा 18 से

केवल 34 का ही क्या निर्देश है ? इसका उत्तर यह दिया गया है कि 34 का कथन नियत अतिशयों की अपेक्षा से है। अन्य अनियत कितने ही हो सकते हैं[1]। आचार्य सिद्धसेन का मत है कि केवली में ज्ञान दर्शनोपयोग का भेद ही नहीं है। दूसरे आचार्यों के मत में केवली में ज्ञान दर्शन का उपयोग युगपद है किन्तु आचार्य जिनभद्र की मान्यता है कि आगम में ज्ञान दर्शन का उपयोग क्रमिक लिखा है। सिद्धसेन आदि आचार्य आगम पाठों का अपनी पद्धति से अर्थ कर उनकी संगति का प्रतिपादन करते हैं किन्तु आचार्य जिनभद्र ने आगम के अनेक पाठ तथा मन्तव्य उपस्थित कर विरोधी मतों की समालोचना की है और बताया है कि पूर्वापर संगति की दृष्टि से आगम के प्रमाणानुसार क्रमिक उपयोग ही मानना चाहिए[2]। इस ग्रन्थ में यह प्रकरण सबसे लम्बा है और लगभग एक सौ गाथाओं में इसकी चर्चा है। इस चर्चा के उपसंहार में आचार्य ने अपना हृदय खोलकर रख दिया है और यह स्पष्ट किया है कि उनकी बुद्धि स्वतन्त्र नहीं किन्तु आगम-तन्त्र से बंधी हुई है। इन गाथाओं से आचार्य जिनभद्र की प्रकृति का ठीक-ठीक परिचय मिल जाता है। वे कहते हैं कि मुझे क्रमिक उपयोग के विषय में कोई एकान्त अभिनिवेश नहीं जिसके आधार पर मैं किसी भी प्रकार उस मत की स्थापना का प्रयत्न करूँ[3] तथापि मुझे यह कहना चाहिए कि जिनमत को अन्यथा करने की मुझ में शक्ति नहीं है। पुनश्च आगम और हेतुवाद की मर्यादा भिन्न है अतः उनका कथन है कि तर्क[4] को एक ओर रखकर मात्र आगम का ही अवलम्बन करना चाहिए और तदनन्तर यह विचार करना चाहिए कि युक्त क्या है और अयुक्त क्या है ? अर्थात् युक्तियों को आगम का अनुकरण करना चाहिए न कि जिस विषय का युक्ति से पहले विचार कर लिया जाय उसके समर्थन में आगमों को रखा जाय[5]। उन्होंने यह भी कहा है कि आगम में जो कुछ कहा है वह अहेतुक

1 गाथा 109–110

2 गाथा 153–249

3 ण वि अभिणिवेसबुद्धी अम्हं एगन्तरोवओगम्मि ।
तह वि भणिमो न तीरइ ज जिणमयमण्णहा काउ । गाथा 247

4 मोत्तूण हेउवायं आगममेत्तावलंबिणो होउं ।
सम्ममणुचिंतणिज्जं किं जुत्तमजुत्तमयं ति ।

5 यह बात ध्यान में रखनी चाहिए कि सिद्धसेन दिवाकर ने हेतुवाद और आगमवाद के पारस्परिक विरोध का परिहार दोनों वादों के विषय का पृथक् करके किया है। (देखें सन्मतितर्क काण्ड 3 गाथा 43–45 गुजराती विवेचन)। हेतु अहेतुवाद का संघर्ष मात्र एक परम्परा में ही नहीं है। ऐसा संघर्ष प्रत्येक दर्शन परम्परा में उत्पन्न होता ही है। उदाहरणतः पूर्व मीमांसा और उत्तर मीमांसा दोनों श्रुति या आगम का ही मुख्य आश्रय लेते हैं। वे तर्क का उपयोग आगम के समर्थन के लिए ही करते हैं स्वतन्त्र रूप से नहीं। इसके विपरीत सांख्य जैसे दर्शन मुख्यतः हेतुजीवी हैं वे तर्क सिद्ध वस्तु की स्थापनार्थ ही श्रुति का अवलम्बन लेते हैं ऐसा संघर्ष अनिवार्य है इसीलिए जैनाचार्यों ने इसका समाधान अपने अपने ढंग से प्रदर्शित किया है उसमें क्षमाश्रमण जिनभद्र का पहला स्थान है और सिद्धसेन का दूसरा।

प्रायश्चित्त है अतः मुमुक्षुओं के लिए प्रायश्चित्त का ज्ञान आवश्यक है। इस प्रकार इस ग्रन्थ की रचना का प्रयोजन बताकर (गा० 2–3) आचार्य ने प्रायश्चित्त के आलोचनादि दस भेद बताए हैं (गा० 4) और तदनन्तर उन्होंने प्रत्येक प्रायश्चित्त के योग्य अपराध-स्थानों का निर्देश किया है—अर्थात् कौन-सा अपराध होने पर क्या प्रायश्चित्त लेना चाहिए इसका निर्देश किया है (गा० 5–101)। अन्त में उन्होंने कहा है कि अनवस्थाप्य तथा पाराञ्चिक नाम के दो प्रायश्चित्त चौदह पूर्वधारियों के समय तक प्रचलित थे—अर्थात् आचार्य भद्रबाहु के समय तक इनका व्यवहार था उसके बाद उनका विच्छेद हो गया (गा 102)। उपसंहार करते हुए बताया गया है कि इस जीतकल्प की रचना सुविहितों पर अनुकम्पा की दृष्टि से की गई है। इस शास्त्र का उपयोग गुणों की परीक्षा कर के करना चाहिए।

(7) जीतकल्प भाष्य

आचार्य जिनभद्र ने अपने 103 गाथा परिमाण वाले मूल जीतकल्प सूत्र पर 2606 गाथाओं का भाष्य लिखा है। इसमें मूल-सम्बद्ध अनेक विषयों की चर्चा करके आचार्य ने जीत व्यवहार शास्त्र का ही नहीं अपितु सम्पूर्ण छेदशास्त्र का रहस्य प्रकट किया है।

मूल-सूत्र के एक एक शब्द की व्याख्या प्रथम पर्याय बताकर और तत्पश्चात् भावार्थ का प्रदर्शन कर की गई है। आचार्य को इससे भी सन्तोष न हुआ, अतः अनेक शब्दों की व्युत्पत्ति बताकर भी इष्टार्थ की सिद्धि की है। भाष्य का उद्देश्य केवल अर्थ प्रदर्शन नहीं अपितु उसमें प्रतिपादित विषयों से सम्बद्ध अनेक उपयोगी विषयों का स्पष्टीकरण करने में भी आचार्य ने सङ्कोच का अनुभव नहीं किया और इस प्रकार इस ग्रन्थ को उन्होंने एक शास्त्र का रूप प्रदान कर दिया।

आचार्य ने मूल में (गा० 1) प्रवचन को नमस्कार किया है अतः भाष्य में सर्वप्रथम प्रवचन शब्द की व्याख्या अनेक प्रकार से की गई है (गा० 1–3) और फिर प्रायश्चित्त शब्द की व्याख्या की है कि—

> पावं छिंदति जम्हा पायच्छित्तं ति भण्णते तेणं।
> पायेण वा वि चित्तं सोहयई तेण पच्छित्तं ॥ गा० 5॥

संस्कृत शब्द प्रायश्चित्त के प्राकृत में दो रूप प्रचलित हैं—पायच्छित्त और पच्छित्त। अतः दोनों शब्दों की स्वतन्त्र व्युत्पत्ति दी गई है—जो पाप का छेद करे वह पायच्छित्त और जिसके द्वारा प्रायः चित्त शुद्ध होता है वह पच्छित्त। ये दोनों व्युत्पत्तियाँ शब्द रूपानुसारी हैं। इन शब्दों के मूल में कौन सी धातु थी इसको लक्ष्य में रखकर व्युत्पत्ति नहीं की गई है। इससे ज्ञात होता है कि प्राकृत शब्दों की व्युत्पत्ति करने में टीकाकार कितने स्वतन्त्र हैं। प्रथम गाथा गत जीत व्यवहार शब्द की व्याख्या के प्रसङ्ग से (गा० 7) आगम श्रुत आदि सब मिलाकर पाँच व्यवहारों की विस्तार से विवेचना की है (गा० 8–705)। जीत व्यवहार की व्याख्या यह की है कि जो व्यवहार परम्परा प्राप्त हो महाजन सम्मत हो और बहुश्रुतों ने जिसका बार-बार सेवन किया हो परन्तु उनके द्वारा जिसका निवारण न किया गया हो वह जीत व्यवहार कहलाता है (गा० 675–677)। आगम श्रुत आज्ञा अथवा धारणा में से जिस व्यवहार का एक भी आधार न हो वह जीत व्यवहार कहलाता है क्योंकि उसके मूल में

वर्तमान काल में ऐसी योग्यता वाले महापुरुष नहीं हैं तो प्रायश्चित्त कैसे किया जाए ? इस प्रश्न के उत्तर में कहा गया है कि यह सत्य है कि अधुना केवली और 14 पूर्वधारी नहीं हैं परन्तु प्रायश्चित्त की विधि का मूल प्रत्याख्यान पूर्व की तृतीय वस्तु में है और उसके आधार[1] पर कल्प प्रकल्प तथा व्यवहार इन तीन ग्रन्थों का निर्माण हुआ है। वे आज भी विद्यमान हैं और उनके ज्ञाता भी। अतः इन ग्रन्थों के आधार पर प्रायश्चित्त का व्यवहार अत्यन्त सरलता से हो सकता है। इससे चारित्र की शुद्धि भी हो सकती है फिर उसका आचरण क्यों न किया जाए ? (गा० 254–273)

प्रायश्चित्त देते हुए देने वाले को दया भाव रखना चाहिए और जिसको प्रायश्चित्त देना हो उसकी शक्ति का भी विचार करना चाहिए। ऐसा होने पर ही प्रायश्चित्त करने वाला संयम में स्थिर होता है अन्यथा प्रतिक्रिया उत्पन्न होती है और वह शुद्धि के स्थान पर संयम का ही सर्वथा त्याग कर देता है। किन्तु दया भाव इतना महान न होना चाहिए कि प्रायश्चित्त देने का विचार ही छोड़ दिया जाए। ऐसा करने से दोष परम्परा की वृद्धि होती है और चारित्र शुद्धि नहीं हो पाती (गा० 307)। प्रायश्चित्त न देने से चारित्र स्थिर नहीं रहता और उसके अभाव में तीर्थ चारित्र शून्य हो जाता है। तीर्थ में चारित्र न हो तो निर्वाण की प्राप्ति कैसे सम्भव है ? निर्वाण लाभ के अभाव में कोई दीक्षा ही क्यों लेगा ? यदि कोई दीक्षित साधु ही न होगा तो तीर्थ का व्यवहार ही सम्भव नहीं अतः तीर्थ की स्थिति पर्यन्त प्रायश्चित्त की परम्परा जारी रखनी ही चाहिए। (315–317)

प्रसंगवश भक्त परिज्ञा (322–511) इंगिनीमरण (512–515) और पादपोपगमन (516–559) नामक तीन प्रकार की मारणान्तिक साधना का विवेचन इसलिए किया गया है कि वर्तमान काल में भी ऐसा कठिन तपस्या का आचरण करने वाले विद्यमान हैं। सामान्य प्रायश्चित्तों का आचरण तो उनकी अपेक्षा अत्यन्त सरल है अतः उसका अवलम्बन विच्छिन्न क्यों माना जाए ?

मूल की प्रथम गाथा के भाष्य में आचार्य ने इसके अतिरिक्त अनेक अन्य प्रासंगिक विषयों की विशद चर्चा की है। इसके बाद मूलानुसारी भाष्य है अर्थात् मूल में जहां साधुओं से होने वाले दोष गिनाए हैं और उनकी शुद्धि के लिए प्रायश्चित्तों का विधान है वहां सर्वत्र मूल के एक-एक शब्द की व्याख्या के पश्चात् आवश्यक सम्बद्ध विषयों की चर्चा भी आचार्य ने भाष्य में की है और भाष्य को एक सुविस्तृत एवं विशद ग्रन्थ का रूप दिया है।

मुनिराज श्री पुण्यविजयजी ने भाष्य सहित जीतकल्प का सम्पादन किया है और उसे श्री बबलचन्द केसवलाल मोदी ने अहमदाबाद से प्रकाशित किया है।

---

1 कल्प बृहत्कल्प के नाम से ज्ञात ग्रन्थ है प्रकल्प अर्थात् निशीथ तथा व्यवहार यह व्यवहार सूत्र नाम का ग्रन्थ है ये तीनों आज भी विद्यमान हैं।

गृहस्थाश्रम का नाम प्रद्युम्न था और वे राजमन्त्री थे। उन्होंने अपनी चार स्त्रियों को छोड़कर आचार्य अभयदेव मलधारी के पास दीक्षा ली थी[1]। इससे ज्ञात होता है कि आचार्य हेमचन्द्र मलधारी राजमन्त्री थे और सम्भव है कि इसके कारण उनका अनेक राजाओं पर प्रभाव पड़ा हो। मुनिसुव्रत चरित्र की प्रशस्ति[2] में श्रीचन्द्रसूरि ने उक्त दोनों आचार्यों का जो प्रभावशाली जीवन दिया है वह इतना रोचक और वास्तविक है कि उनके विषय में विशेष कहने की आवश्यकता नहीं रहती। अतः यहीं से उसे उद्धृत करता हूँ —

71–73 भगवान् पार्श्वनाथ के 250 वर्ष बाद तीर्थंकर महावीर हुए जिनका तीर्थ आज भी प्रवर्तमान है। इन अन्तिम तीर्थंकर के तीर्थ में श्री प्रश्नवाहन कुल में हर्षपुर गच्छ में शाकम्भरी मण्डल में श्री जयसिंहसूरि एक प्रसिद्ध आचार्य हुए। वे गुणों के भण्डार थे और आचार परायण थे।

74–76 उनके शिष्य रत्नाकर के समान अभयदेवसूरि हुए। उन्होंने अपने उत्तम गुण द्वारा सुरगुरु (?) का मन आकर्षित कर लिया। उनके गुणगान की शक्ति सुरगुरु में भी नहीं है फिर मुझ में यह सामर्थ्य कहाँ? फिर भी उनके असाधारण गुणों की भक्ति के अधीन होकर उनके गुण माहात्म्य का गान करता हूँ।

77 ऐसा प्रतीत होता है कि उनके उत्तम गुणों का अनुसरण करने के निमित्त ही उनका शरीर-परिमाण भी ऊँचा था अर्थात् आचार्य लम्बे और बलिष्ठ थे।

78 उनका रूप देखकर कामदेव भी पराजित हो गया। इसीलिए वह कभी उनके समीप नहीं आया अर्थात् आचार्य सुन्दर भी थे और काम विजेता भी।

79–81 तीर्थंकर रूपी सूर्य के अस्त होने पर कालवश में लोग मदन मार्ग के विषय में प्रमादी हो गए किन्तु उन्होंने तप नियमादि द्वारा धर्मदीप को प्रदीप्त किया अर्थात् उन्होंने क्रियोद्धार किया।

82 उनके किसी भी अनुष्ठान में कषाय का अल्पांश भी नहीं रहता था। स्वपक्ष तथा परपक्ष के विषय में उनका व्यवहार माध्यस्थ्यपूर्ण था अर्थात् वे सब धर्म सहिष्णु थे।

83 वे आचार्य मात्र एक चोलपट्ट (कटिवस्त्र) तथा एक चादर का ही उपयोग निरीह भाव से करते थे अर्थात् वे अपरिग्रही जन थे।

84 यशस्वी आचार्य वस्त्र एवं देह में मलधारण करते थे। ऐसा ज्ञात होता था कि आभ्यन्तर मल भयभीत होकर बाहर आ गया था।

85 आचार्य रसगृद्धि से भी रहित थे। घी के अतिरिक्त उन्होंने शेष सभी विगयों (विकृतियों) का जीवन पर्यन्त त्याग किया था।

86 वे अपने कर्मों की निर्जरा के लिए ग्रीष्म ऋतु में ठीक मध्याह्न के समय मिथ्या दृष्टि के घर भिक्षार्थ जाया करते थे।

---

1 जैन साहित्य स० इ० पृ० 245

2 पाटन जैन भण्डार ग्रन्थ सूची पृ० 314 (गायकवाड़ सिरीज़)

करते हुए अन्त में भोजन का सर्वथा त्याग कर दिया। उनके इस उत्तम व्रत की बात जान कर परतीर्थिक लोग भी अश्रुपूर्ण नेत्रों से उनका दर्शन करने आने लगे। गजरनरेन्द्र नगर में ऐसा कोई भी व्यक्ति न था जो उस समय उनका दर्शन करने न आया हो। शान्तिभद्रादि अनेक सूरि भी शोक सहित उनके पास गए थे।

112–116 भादों के महीने में 13वाँ उपवास होने पर भी किसी की सहायता लिए बिना स्वयं पैदल चल कर राजमान्य तथा निकटस्थ सभी प्रदेशों में सम्मानित सीयम (श्रीयक) सेठ की अन्तिमकालीन दर्शन की अभिलाषा को पूर्ण करने के लिए साढ़िम (शोभित) श्रावक के घर से निकल कर वे उस सेठ के पास गए और दर्शन देकर उसकी मृत्यु को सफल किया। इससे ज्ञात होता है कि आचार्य वस्तुतः दाक्षिण्य के समुद्र और परोपकार रसिक थे। इस सेठ ने आचार्यश्री के उपदेश से धर्मव्रत (काय) में बीस हजार द्रम खर्च किये।

117 आचार्य की सलेखना का समाचार सुनकर प्रायः समस्त गुजरात के नगरों और गाँवों के लोग उनके दर्शनार्थ आए थे।

118 आचार्य ने 47 दिन के समाधि-पूर्वक अनशन के पश्चात् धर्म ध्यान-परायण रहते हुए शरीर का त्याग किया। चन्दन की पालकी में प्रतिष्ठित कर उनका शरीर बाहर लाया गया। उस समय घर की रक्षा के लिए एक एक आदमी को रखकर सभी लोग उनकी शवयात्रा में भक्ति तथा कौतुक से सम्मिलित हुए। अनेक प्रकार के वाद्यों की ध्वनि से आकाश गूँज उठा था।

119 स्वयं राजा जयसिंह भी अपने परिवार सहित पश्चिम अट्टालिका से आकर इस शवयात्रा का दृश्य देख रहे थे। इस आश्चर्यजनक घटना को देखकर राजा के नौकर परस्पर बात करते थे कि यद्यपि मृत्यु अनिष्ट है तथापि ऐसी विभूति मिले तो वह भी इष्ट ही है।

120–130 शवयात्रा का विमान प्रातः सूर्योदय के समय निकला था और वह मध्याह्न में यथास्थान पहुँचा। वहाँ लोगों ने उसका सत्कार करने के लिए उस पर अनेक प्रकार के वस्त्रों का ढेर लगा दिया। चन्दन की पालकी और इन वस्त्रों सहित ही उनकी देह का दाह संस्कार किया गया। लोगों ने चन्दन और कपूर की ऊपर से वर्षा भी की। आग बुझने पर लोगों ने राख ले ली और राख समाप्त होने पर उस स्थान की मिट्टी भी उठा ली। अतः उस जगह पर शरीर परिमाण गड्ढा पड़ गया। इस राख और मिट्टी से मस्तक छूने से अनेक प्रकार के रोग नष्ट हो जाते हैं।

131 मैंने भक्तिवश होकर भी इसमें लेश मात्र भी मिथ्या कथन नहीं किया जो कुछ मैंने उनके जीवन में प्रत्यक्ष देखा उसी के एक मात्र अंश का वर्णन किया है।

आचार्य मलधारी हेमचन्द्र ऐसे प्रभावशाली गुरु के शिष्य थे। उनके ही शिष्य चन्द्रसूरि ने उनका जो परिचय दिया है वह उनके जीवन पर प्रकाश डालता है अतः यहाँ उसे उद्धृत किया जाता है। यह परिचय उक्त प्रशस्ति में ही आचार्य अभयदेव के परिचय के अनन्तर वर्णित है।

चढवाए तथा धधुका और सचउर (सत्यपुर साचोर) में परतीर्थिक-कृत पीडा का निवारण करवा कर जयसिंह की आज्ञा से उन स्थानों में तथा अन्यत्र रथयात्रा चालू करवाई। पुनश्च जिनमन्दिर के भाग की जो आय बन्द हो गई थी उसे चालू करवायी और जो आय राज भण्डार में जमा हो चुकी थी उसे भी राजा को समझा कर वापिस दिलवाई। अधिक क्या कहा जाए! जहाँ-जहाँ जैन धर्म का पराभव हुआ था वहाँ-वहाँ मसक्कत उपाय कर पुन जैन धर्म की प्रतिष्ठा की। जैनशासन की प्रभावना के लिए ऐसे ऐसे काम किए कि दूसरे जिनकी कल्पना भी न कर सकें। उन्होंने ऐसा प्रबन्ध करवाया कि कहीं भी कभी किसी साधु का अनादर न हो सके।

163–177 अणहिलपुर नगर से तीर्थ यात्रा के निमित्त निकले हुए संघ ने प्रार्थना कर आचार्यश्री को अपने साथ लिया। इस संघ में विविध प्रकार के 1100 तो वाहन थे और घोड़े आदि जानवरों की संख्या का तो पार ही न था। इस संघ ने वामणथली (वथली) में पड़ाव किया। उस समय ऐसा प्रतीत होता था कि मानो राजा की बहुत बड़ी सेना ने पड़ाव किया हो। श्रावकों ने सोने के बहुमूल्य आभूषण पहन रखे थे। यह सब समृद्धि देख कर सोरठ के राजा खेंगार के मन में दुर्भावना उत्पन्न हुई। दूसरों ने भी उसे भड़काया कि सम्पूर्ण अणहिलवाड नगर की समृद्धि पुण्य प्रताप से तुम्हारे आँगन में आई है इसलिए इस पर अधिकार कर अपना भण्डार भर लेना चाहिए तुम्हें एक करोड का द्रव्य मिलेगा। लोभवश हो उस राजा ने संघ से सारा धन छीन लेने का निश्चय किया किन्तु दूसरी ओर यह कार्य लोक मर्यादा के विरुद्ध था अत लज्जावश उसने अपने उक्त निर्णय को दबाए रखा। लू या न लूँ इस दुविधा में पड़ कर किसी न किसी बहाने वह संघ को आगे नहीं बढ़ने देता था। कहने पर भी वह संघ के किसी भी व्यक्ति से मिलता नहीं था। इस अवधि में उसके किसी स्वजन की मृत्यु हो गई। इस निमित्त आचार्य हेमचन्द्र शोक निवारण के बहाने से राजा के पास गए और उसे समझा कर संघ को मुक्त करवाया। बाद में संघ ने क्रमश गिरनार तथा शत्रुंजय में नेमिनाथ और ऋषभदेव के दर्शन किए। उस अवसर पर गिरनार तीर्थ में पचास हजार और शत्रुञ्जय में तीस हजार पारुत्थय (सिक्का) की आय हुई। आचार्य के उपदेश को ग्रहण कर भव्य-जन भाविक श्रावक बन जाते और यथाशक्ति देश विरति अथवा सर्व विरति आचार को ग्रहण करते।

178–179 अन्त में उन्होंने अपने गुरुदेव अभयदेव के समान ही मृत्यु समय में आराधना की। अन्तर यह था कि उन्होंने सात दिन का अनशन किया था तथा राजा सिद्धराज स्वयं इनकी शवयात्रा में सम्मिलित हुए थे।

180 उनके तीन गणधर थे—विजयसिंह श्रीचन्द्र और विबुधचन्द्र उनमें से श्रीचन्द्रसूरि उनके पट्टधर हुए।

इन श्रीचन्द्र आचार्य ने गुरु के स्वर्गवास के उपरान्त थोड़े ही समय में मुनिसुव्रत चरित लिखा था वह संवत 1193 में पूर्ण हुआ था[1]।

---

1 समय सूचक प्रशस्ति भाग अप्राप्त है किन्तु वहीं गोपिनिका में संवत 1193 का निर्देश है। पाटन भण्डार की सूची की प्रस्तावना देखें—पृष्ठ 22

महापुरुष ने मुझ संसार समुद्र पार करने के लिए सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्र रूप विशाल नौका में बिठा दिया जिससे मैं उसकी सहायता से निवरल्लोप (मार्ग) को सरलता से प्राप्त कर सकूँ।

नौका में बिठाने के बाद उस महापुरुष ने सद्भावना की मंजूषा में रखकर मुझे शुभ मनोरूप एवं महान रत्न दिया। उन्होंने साथ ही यह कहा कि जब तक तुम इस शुभ मन रूपी रत्न की रक्षा कर सकोगे तब तक तुम्हारी नौका सुरक्षित रूप से मार्ग बढ़कर निर्विघ्न रूप से तुम्हें यथेष्ट स्थान पर ले जायगी यदि इस शुभ मन की रक्षा नहीं कर सके तो तुम्हारी नौका टूट जायगी। फिर तुम्हारे पास यह शुभ मनोरूप रत्न है इसलिए मोहराज के सैनिक चोर इसकी चोरी करने के लिए तुम्हारा पीछा करेंगे। तब सम्भव है कि मंजूषा के पटिये टूट जावें उस समय उस मंजूषा को किसी भी प्रकार से उसके नवीन अंगों का निर्माण कर उस को सुरक्षित रखने की विधि भी उन्होंने मुझे समझा दी। कुछ समय तक मेरे साथ नौका विहार कर वे अन्तर्धान हो गए। यह समाचार प्रमाद नगरी में रहने वाले मोहराज के कानों में पहुँचा। उसी समय उसने अपने सैनिकों को सावधान कर दिया कि अपने शत्रु ने अमुक संसारी जीव को निवरल्लोप का मार्ग बता दिया है और वह उस मार्ग का पालन कर यात्रा करने के लिए आगे बढ़ रहा है यही नहीं उसने अपने आदेश को मानने वाले अन्य अनेक साथियों को भी अपने साथ लिया है इसलिए वे हमारे इस संसार नाटक को समाप्त न कर दें इस उद्देश्य से तुम लोग शीघ्र ही उसके पीछे दौड़ो ऐसा कह कर वह दुर्बुद्धि-नाव में सवार हुआ और उसके साथी दुर्वासना-नावों में सवार हो गए। मेरी नौका के समीप आने पर तो आसुरी तथा दैवी वृत्तियों का युद्ध प्रारम्भ हुआ। उस समय उन्होंने मेरी सद्भावना मंजूषा के अंग जर्जरित कर दिये अतः उस महापुरुष के उपदेश का अनुसरण करते हुए मैंने उस मंजूषा के नूतन अंगों के निर्माण का संकल्प करके सर्वप्रथम (1) आवश्यक टिप्पण की नई पट्टी उस मंजूषा में जड़ दी और तत्पश्चात् क्रमश: मंजूषा के जो नवीन नवीन अंग जड़ित किए गए हैं—2 शतक विवरण 3 अनुयोगद्वार वृत्ति 4 उपदेशमाला सूत्र 5 उपदेश माला वृत्ति 6 जीवसमास विवरण 7 भव भावना सूत्र 8 भव भावना विवरण 9 नन्दि टिप्पण 10 विशेषावश्यक विवरण (विशेषावश्यक भाष्य बृहद्वृत्ति)

उपर्युक्त वर्णन से ज्ञात होता है कि मलधारी हेमचन्द्र ने अपने गुरु की आज्ञा से उक्त दस ग्रन्थ लिखे थे। लेखन में इनका मुख्य उद्देश्य अपने शुभाध्यवसाय को स्थिर रखना था गौण उद्देश्य यह था कि उनके ग्रन्थों को पढ़ कर दूसरे व्यक्ति भी मोक्ष मार्ग की शुद्धि कर शिवनगरी की ओर प्रयाण करें।

उनके ग्रन्थों में जैन सिद्धान्त प्रतिपादक चारों अनुयोगों का समावेश हो जाता है। उनके ग्रन्थ जैन धर्म के आचार और जैन दर्शन के विचार इन दोनों क्षेत्रों को आच्छादित कर लेते हैं। उन्होंने केवल विद्वद्भोग्य ग्रन्थ ही नहीं लिखे अपितु ऐसे ग्रन्थ भी लिखे जिन्हें सामान्य व्यक्ति भी अपनी भाषा में समझ सके अर्थात् उनकी ग्रन्थ रचना संस्कृत और प्राकृत दोनों भाषाओं में है। अनुयोगद्वार वृत्ति और विशेषावश्यक भाष्य-वृत्ति जैसे गम्भीर ग्रन्थों का भी उन्होंने निर्माण किया तथा साथ ही उपदेशमाला और भव भावना जैसे लोक भोग्य ग्रन्थों का भी स्वोपज्ञ टीका सहित निर्माण किया।

तथा अनुयोग मुख्यत संयमी के लिए लाभदायक ग्रन्थ है जब कि यह उपदेशमाला धर्म के जिनमुद्रा को यह बात सिखाता है कि उत्तरोत्तर आध्यात्मिक विकास के मार्ग पर आगे कैसे बढ़ना चाहिए। इस उपदेशमाला को वस्तुत आचार शास्त्र की बाल पोथी कहना चाहिए।

5 उपदेशमाला विवरण

उपदेशमाला की यह टीका संस्कृत में लिखी गई है किन्तु उसका अधिकतर भाग प्राकृत गद्य और पद्य की कथाओं द्वारा भरा हुआ है। मूल में आचार्य ने दृष्टान्त का संकेत किया है परन्तु विवरण में उसके सम्पूर्ण कथानक को कथाकार के ढंग से वर्णित कर दिया है अत इस विवरण का परिमाण खूब बड़ा हो गया है और वह परिमाण 13868 श्लोक का है। जैन कथा साहित्य के अभ्यासी के लिए यह ग्रन्थ कथा कोष का काम देता है।

आचार्य ने अधिकतर कथानक ग्रन्थ ग्रन्थों से उद्धृत किये हैं और कुछ को अपनी भाषा में प्रतिपादित किया है अत इस ग्रन्थ से अधिकतर कथाओं को उनके प्राचीन रूप में ही सुरक्षित रखने का उद्देश्य पूरा हो जाता है।

आचार्य सिद्धर्षि की रूपक-कथा उपमिति भव प्रपंचा से मलधारी हेमचन्द्र बहुत प्रभावित हुए अत उन्होंने उससे आध्यात्मिक अर्थ गर्भित कथानक भी इस ग्रन्थ में लिए हैं और प्रारम्भ में ही उसका आभार माना है। विवरण सहित उपदेशमाला रतलाम की श्री ऋषभदेवजी केशरीमलजी की पेढी से प्रकाशित हुई है।

6 जीवसमास विवरण

अथवा जीवसमास वृत्ति नाम का ग्रन्थ आचार्य ने वि० 1164 से पूर्व लिखा होगा। इसका कारण यह है कि उनके हस्ताक्षर वाली वि 1164 की लिखी हुई एक प्रति खम्भात के शान्तिनाथ भण्डार में विद्यमान[1] है। जीवसमास का कर्ता कौन है? यह ज्ञात नहीं हो सका। इसका लेखक कोई प्राचीन आचार्य होना चाहिए। इससे पहले शीलांकाचार्य ने भी जीवसमास की टीका लिखी थी[2] इससे उनके समय में भी इस ग्रन्थ का महत्व सिद्ध होता है। आगमोदय समिति ने मूल सहित यह विवरण मुद्रित किया है और उसका गुजराती भावार्थ मास्टर चन्दुलाल नानाचन्द ने प्रकाशित किया है।

जीवसमास—अर्थात् जीवों का चौदह गुण-स्थानों में संग्रह। अनुयोग के सत्पद प्ररूपणा आदि आठ द्वारों से जीवसमास का विचार इस ग्रन्थ में मुख्यतः किया गया है। प्रसंगवश अजीव के विषय में भी कुछ वर्णन है तथापि ग्रन्थ रचना का मुख्य प्रयोजन जीवों के गुणस्थान-कृत भेदों का विचार करना है अत इसका जीवसमास नाम सार्थक है। आचार्य मलधारी ने पूर्वाचार्य कृत टीकाओं के विद्यमान होने पर भी अपनी प्रकृति के अनुसार नई टीका लिखी इसमें उनका प्रधान लक्ष्य सम्पूर्ण विषय को हस्तामलकवत् स्पष्ट कर देना था। पाठक यह अनुभव किये बिना नहीं रह सकते कि आचार्य को इसमें पूर्ण सफलता मिली। इस वृत्ति के बहाने आचार्य ने जीव-तत्त्व का सर्वग्राही विवेचन कर दिया है।

---

1 जैन साहित्य सं० इ० पृष्ठ 247

2 जिनरत्नकोश देखें।

विषय में कुछ नहीं लिखा । अधिकतर यह टिप्पण भी आवश्यक के समान आचार्य हरिभद्र की नन्दि टीका पर होना चाहिए । नन्दिसूत्र में पाँच ज्ञानों का विवेचन है अतः इस टिप्पण का भी यही विषय होना चाहिए ।

10 विशेषावश्यक विवरण

यह वही ग्रन्थ है जिसके एक प्रकरण के आधार पर प्रस्तुत अनुवाद किया गया है। आवश्यक सूत्र के सामायिक अध्ययन तक का भाष्य आचार्य जिनभद्र ने लिखा था । इस भाष्य की स्वोपज्ञ आदि अनेक टीकाएं थीं किन्तु आचार्य मलधारी की टीका की रचना के बाद वे सभी टीकाएं उपेक्षित हो गई । यही कारण है कि इसकी प्रति अनेक भण्डारों में उपलब्ध है। यह टीका विशद और सरल है और दार्शनिक विषयों को अत्यन्त स्पष्ट करती है अन्य ग्रन्थ टीकाओं की अपेक्षा इसका महत्व बढ़ गया है। अन्य टीकाएं अत्यन्त संक्षिप्त हैं और यह अति विस्तृत है इसलिए इसका बृहद्वृत्ति यह सार्थक नाम प्रसिद्ध हुआ किन्तु ग्रन्थकार ने तो इसे वृत्ति ही कहा है।

वि० स० 1175 की कार्तिक सुदि पंचमी के दिन आचार्य ने इस वृत्ति को पूर्ण किया इसका परिमाण 28000 श्लोक जितना है।

यह वृत्ति यशोविजय ग्रन्थ माला में प्रकाशित हुई है और इसका गुजराती भाषान्तर आगमोदय समिति ने दो भागों में प्रकाशित किया है।

इस वृत्ति के लेखनकार्य में जिन व्यक्तियों ने आचार्य मलधारी की सहायता प्रदान की थी उनके नामों का निर्देश आचार्य ने ग्रन्थ के अन्त में किया है वह इस प्रकार है —

1 अभयकुमारगणि 2 धनदेवगणि 3 जिनभद्रगणि 4 लक्ष्मणगणि तथा 5 विबुधचन्द्र नाम के मुनि और 1 श्री महानन्दा तथा 2 महत्तरा श्री वीरमति गणिनी नाम की साध्वियाँ।

इस ग्रन्थ के अन्त में भी वही प्रशस्ति दी गई है जो बन्धशतक-वृत्ति के अन्त में है केवल उपान्त्य श्लोक में शतकवृत्ति के स्थान पर प्रकृतवृत्ति लिखा है और अन्तिम श्लोक नया रखा है जिसमें लेखनकाल वि० स० 1175 दिया गया है।

9 गणधरों का परिचय

आगमों में गणधरों के सम्बन्ध में बहुत ही कम उल्लेख हैं। समवायाङ्ग सूत्र में गणधरों के नामों तथा आयु के विषय में बिखरी हुई बातें उपलब्ध हैं[1]। कल्पसूत्र में भगवान् महावीर का जीवन चरित्र वर्णित है किन्तु उसमें गणधरवाद का कोई भी उल्लेख नहीं है। कल्पसूत्र की टीकाओं में गणधरवाद के प्रसंग का वर्णन है। कल्पसूत्र में स्थविरावलि[2] के प्रकरण में कहा है कि भगवान् महावीर के नव गण और ग्यारह गणधर थे। उसके स्पष्टीकरण में कल्पसूत्र में 11 गणधरों के नाम गोत्र तथा शिष्य को निर्दिष्ट संख्या

---

1 समवायांग–11 74 78 92 इत्यादि।

2. कल्पसूत्र (कल्पलता) पृ 215

छद्मस्थ पर्याय	केवल पर्याय	सर्वायु	शिष्य	शिष्य परम्परा	निर्वाण भूमि	संस्थान	संहनन	निर्वाण समय	शास्त्र	
30	12	92	500	×	राजगृह	समचतुरस्र	वज्रऋषभ नाराच	महावीर के बाद	बारह अंग चौदह पूर्व	ये तीनों सगे भाई थे।
12	16	74	500	×				महावीर से पहले		
10	18	70	500	×	,					
12	18	80	500	×						
42	8	100	500	जम्बू स्वामि				महावीर के बाद		
14	16	83	350	×				महावीर से पहले		ये दोनों एक ही माता परन्तु भिन्न भिन्न पिता के पुत्र थे।
14	16	95	350	×						
9	21	78	300	×						
12	14	72	300	×						
10	16	62	300	×						
8	16	40	300	×				,		

संकेत लेकर उन्होंने वार्ता का रूप प्रदान किया है। उसी का अनुसरण कर आवश्यक नियुक्ति तथा कल्पसूत्र के टीकाकारों ने भी उस प्रसंग पर वार्ता की रचना की है। यह समस्त वार्ता प्रस्तुत ग्रन्थ में दिया हो गया है अतः उसका विशेष विवेचन यहाँ अनावश्यक है।

गणधरों के जीवन के सम्बन्ध में जो नई बातें बाद के साहित्य में उपलब्ध होती हैं उनका निर्देश कर यह प्रकरण पूरा करूँगा।

आचार्य हेमचन्द्र ने उस समय में सुलभ कथानुयोग का दोहन कर त्रिषष्टिशलाका पुरुष चरित्र लिखा था। अतः उसमें वर्णित तथ्यों के आधार पर ही यहाँ कुछ लिखना उचित है। उसमें भी इन्द्रभूति गौतम के अतिरिक्त अन्य गणधरों के विषय में कोई विशेष बात दृग्गोचर नहीं होती। अतः इन्द्रभूति गौतम के जीवन की वर्णनीय बातों का ही यहाँ प्रतिपादन किया जाता है।

छद्मावस्था में सुदंष्ट्र नामक नागकुमार ने भगवान को उपसर्ग किया था। वह मर कर एक किसान बना था। उसे सुलभ बोधि जीव देखकर भगवान ने गौतम इन्द्रभूति को उस किसान के पास उपदेश देने के लिए भेजा। गौतम ने उसे उपदेश देकर दीक्षा दी। तत्पश्चात् गौतम अपने गुरु भगवान महावीर के अतिशयों का वर्णन करके उसे उनके पास ले जाने लगे। भगवान महावीर को देखते ही किसान के मन में पूर्वभव के वैर के कारण उनके प्रति घृणा उत्पन्न हुई और वह यह कहकर चलता बना कि यदि यही तुम्हारे गुरु हैं तो मुझे आपसे कोई प्रयोजन नहीं। इसका कारण पूछने पर भगवान् ने गौतम को अपने पूर्वभव का सम्बन्ध बताते हुए कहा—मैंने त्रिपृष्ठ के भव में जिस सिंह को मारा था उसी का जीव यह किसान है। उस समय क्रोध से उद्दीप्त उस सिंह को तुमने मेरे सारथि के रूप में आश्वासन दिया था। इसी से वह सिंह तब से तुम्हारे प्रति स्नेहशील और मेरे प्रति द्वेष-युक्त बना। पर्व 10 सर्ग 9

इस घटना का मूल मालूम करना हो तो वह भगवती सूत्र में मिल जाता है। वहाँ भगवान ने गौतम से स्वयं कहा है कि हमारा सम्बन्ध कोई नया नहीं किन्तु पूर्वजन्म से चला आता है। सम्भव है कि इस या अन्य किसी ऐसे उद्गार को आधार बनाकर कथाकारों ने महावीर और गौतम का उक्त कथा में निर्दिष्ट सम्बन्ध जोड़ा हो।

इसी प्रकार अभयदेव आदि टीकाकार भगवती के इसी प्रसंग को गौतम के लिए आश्वासन रूप समझते हैं। उसके अनुसन्धान में जिस कथा की रचना की गई है वह यह है—गौतम ने पृष्ठ चम्पा के गागली राजा को उसके माता पिता के साथ दीक्षा दी थी और वे सब भगवान को वन्दना करने के लिए पृष्ठ चम्पा से चम्पा जा रहे थे। इसी अवधि में उन्हें केवल ज्ञान की प्राप्ति हुई किन्तु गौतम को इस बात का पता न था। अतः जब भगवान की प्रदक्षिणा करके वे केवली परिषद् में बैठने लगे तब गौतम कहने लगे—प्रभु को वन्दना तो करो। यह सुनकर भगवान ने गौतम से कहा—तुमने केवली की आशातना की है। तब गौतम ने प्रायश्चित्त किया किन्तु उनके मन में दुःख हुआ कि जब मेरे शिष्यों को केवलज्ञान हो जाता है तो मुझे क्यों नहीं होता[1]?

---

1 त्रिषष्टि० पर्व 10 सर्ग 9

[illegible] घटना [illegible] है। गौतम ने [illegible] पर्वत पर [illegible] का उल्लंघन किया और वापिस लौटे [illegible] गौतम [illegible] तथा तापसों को [illegible] केवलज्ञान [illegible] हो गया [illegible]। तापसों को भी गौतम के प्रति भक्ति [illegible] तथा भगवान के पास पहुँचते [illegible] केवलज्ञान की प्राप्ति [illegible] मार्ग में [illegible] ही घटना घटित हुई। [illegible] भी गौतम को [illegible] कि उन्हें केवलज्ञान क्यों नहीं होता? इस प्रसंग पर भगवान ने गौतम को [illegible] किया कि [illegible] हम दोनों समान बनेंगे।

कथाकार की तथा प्राय सभी आचार्यों की मान्यता है कि गौतम के हृदय में भगवान के प्रति जो दृढ़ राग था वह उनके केवलज्ञान की प्राप्ति में बाधक था। जिस क्षण वह दूर हुआ उसी क्षण उन्हें केवलज्ञान की प्राप्ति हुई। वह क्षण भगवान के निर्वाण के बाद का था। उस प्रसंग का वर्णन करते हुए आचार्य हेमचन्द्र कहते हैं कि उसी रात को अपना मोह नाश कर प्रभु ने विचार किया कि मेरे प्रति गाढ़ राग के कारण ही गौतम को केवलज्ञान नहीं होता अत इस राग के उच्छेद का उपाय करना चाहिए। यह सोचकर उन्होंने गौतम को एक निकटस्थ गाँव में देवशर्मा को प्रतिबोधित करने के निमित्त भेज दिया। उनके वापिस आने से पूर्व ही भगवान का निर्वाण हो गया। भगवान के निर्वाण का समाचार गौतम को मिला तो दुख हुआ कि अंतिम समय में भगवान ने मुझे अपने से दूर क्यों किया किन्तु अन्त में उन्होंने विचार किया कि मैं ही अब तक भ्रांति में ग्रस्त था। निर्मम तथा वीतराग प्रभु में मैंने राग और ममता रखी मेरा राग और मेरी ममता ही बाधक है इस विचार श्रेणी पर चढ़ते चढ़ते उन्हें केवलज्ञान हो गया[1]।

वस्तुत उक्त सभी कथाओं की उत्पत्ति भगवती सूत्र के उक्त एक ही प्रसंग के आधार पर हुई ज्ञात होती है। कारण यह है कि उसमें विशदरूपेण यह बात कही गई है कि गौतम का भगवान के प्रति दृढ़ अनुराग था उन दोनों का पूर्व जन्म में भी सम्बन्ध था और वे दोनों भविष्य में भी एक समान होने वाले थे[2]।

10 विषय प्रवेश

शैली—

प्राचीन उपनिषदों में अथवा भगवद्गीता में जिस प्रकार की संवादात्मक शैली दिखाई देती है अथवा जैन आगमों एवं बौद्ध त्रिपिटक में जिन विविध संवादों की रचना की गई है उसी प्रकार के संवादों की रचना कर आचार्य जिनभद्र ने गणधरवाद के प्रकरण की रचना नहीं की परन्तु उस समय के प्रसिद्ध दार्शनिक ग्रन्थों में जिस शैली से दर्शन के विविध विषयों की चर्चा की जाती थी, उसी शैली का आश्रय प्रस्तुत गणधरवाद के लिखने में लिया गया

1 त्रिषष्टि० पर्व 10 सर्ग 13
2 भगवती सूत्र 14 7

परन्तु इसका अर्थ यह नहीं है कि ऊपर जो कुछ लिखा गया है वह सब प्रारम्भ से परम्परा में प्राप्त हुआ है। प्रस्तुत गणधरों की शंकाओं के विषय में सबसे बड़ा बाधक प्रमाण तो यह है कि श्वेताम्बर पूर्वधर भद्रबाहु-कृत मान्य एवं कल्पसूत्र में इस विषय में संकेत तक भी नहीं है अतः इस सम्बन्ध में जो सम्भावना प्रतीत होती है उसका निर्देश आवश्यक है। बहुत सम्भव है कि आगम के उद्धार प्रयोग के परिणाम स्वरूप उस समय चर्चा प्राप्त दार्शनिक विषयों को उन्होंने गणधरों की शंका के बहाने व्यवस्थित कर लिया हो। सामान्यतः दार्शनिक चर्चा ब्राह्मणों में हुआ करती थी। ब्राह्मणों के इष्ट शास्त्र वेद थे अतः आचार्य भद्रबाहु ने इन शंकाओं का सम्बन्ध भी वेद के वाक्यों से स्थापित करने का कौशल दिखाया है यह बात मानने में औचित्य की क्षति नहीं पहुंचती।

आचार्य भद्रबाहु के परवर्ती दिगम्बर ग्रन्थों में भी कहीं कहीं गणधरों की जीवादि सम्बन्धी शंकाओं का उल्लेख मिलता है। इससे भी यह बात कही जा सकती है कि आचार्य भद्रबाहु के समय तथा उनके उपरान्त भी इन मान्यताओं ने गहरी जड़ें जमा दी थीं[1]।

कुछ भी हो किन्तु यह बात निश्चित है कि गणधरों के मन की शंका वेदों के परस्पर विरोधी अर्थ वाले वाक्यों के आधार पर ही बनाई गई है और भगवान महावीर पहले तर्क द्वारा और तत्पश्चात् वेदवाक्यों का ही यथार्थ अर्थ करके उनका समाधान करते हैं यह बात महत्त्वपूर्ण है। इस में हम उस भावना का दर्शन कर सकते हैं जो जैन धर्म की सर्व-समन्वय शील भावना है। सामान्यतः दार्शनिकों के विषय में यह बात देखी जाती है कि जब उन्हें अपनी मान्यता की बात का प्रतिपादन करना होता है तो वे प्रतिपक्षी के मत के खण्डन की ओर ही दृष्टि रखते हैं और अपने सम्मुख अपनी परम्परा के ही प्रमाण रखते हैं। ऐसी स्थिति में चर्चा के अन्त में दोनों वहीं के वहीं रहते हैं क्योंकि दोनों में अपने मत का कदाग्रह होता है। भारतीय सभी दर्शनों के विषय में अधिकतर यही बात दिखाई देती है किन्तु यहाँ इससे विपरीत मार्ग का आश्रय लिया गया है। इसमें दोनों पक्ष वेद के आधार पर ही लिए गये हैं और कथा भी वीतराग कथा है। प्रतिपक्षी को पराजित कर विजय प्राप्त करने की भावना के स्थान पर प्रतिपक्षी को सद्बुद्धि प्रदान करने की भावना यहाँ मुख्य है अतः भगवान महावीर वेद-वाक्यों का ही यथार्थ अर्थ बताते हैं और उसके समर्थन में भी अन्य वेद वाक्य ही उपस्थित करते हैं। प्रतिपक्षी अपनी वेद भक्ति के कारण भी शीघ्र ही भगवान महावीर की बात मानने इस योजना से इस व्यवहार-कुशलता का निदर्शन कराया गया है। इसमें भगवान् महावीर को पूर्ण सफलता भी मिली है। इससे एक और बात भी सिद्ध होती है वह यह है कि किसी भी शास्त्र का सर्वथा तिरस्कार करने की अपेक्षा उस शास्त्र का युक्ति युक्त अर्थ निकाल कर उपयोग करने की भावना का प्रचार करना चाहिए। आचार्य की यह अभिरुचि जैन-दृष्टि का ही अनुसरण करने वाली है। नन्दी सूत्र में कहा है कि महाभारत जैसे शास्त्र एकान्त मिथ्या अथवा एकान्त-सम्यक् नहीं किन्तु जो मनुष्य उसे पढ़ता है उसकी दृष्टि के अनुसार उसका परिणमन होता है अर्थात् जो वाचक सम्यग्-दृष्टि है वह स्वयं उस शास्त्र को पढ़कर उसका उपयोग निर्वाण मार्ग में करता है अतः उसके लिये वह शास्त्र सम्यक् है। किन्तु यदि मिथ्या-दृष्टि

1 महापुराण (पुष्पदन्त) 97 6 त्रिलोक प्रज्ञप्ति 1 76–79

(अ) आत्म विचारणा

1 अस्तित्व

प्रथम गणधर इन्द्रभूति ने जीव के अस्तित्व के विषय में शंका उपस्थित की है और तृतीय गणधर वायुभूति ने जीव शरीर से भिन्न है अथवा नहीं इस सम्बन्ध में सन्देह प्रस्तुत किया है। इसलिए स्वभावतः यह प्रश्न उत्पन्न होता है कि इन दोनों शंकाओं में क्या अन्तर है? इस प्रश्न का उत्तर हमें दोनों गणधरों के साथ होने वाले वाद में मिल जाता है। जब हम किसी भी विषय पर विचार करना प्रारम्भ करते हैं तब सर्वप्रथम उसके अस्तित्व का प्रश्न विचारणीय होता है तत्पश्चात् ही उसके स्वरूप का प्रश्न सामने आता है। इसी नियम के अनुसार यहाँ भी जीव का अस्तित्व है या नहीं इस विषय पर मुख्य रूप से विचार किया गया है। इन्द्रभूति का कथन था कि किसी भी प्रमाण से जीव को सिद्ध नहीं किया जा सकता किन्तु भगवान महावीर ने बताया कि प्रमाण द्वारा जीव की सिद्धि शक्य है। इस प्रकार जीव का अस्तित्व सिद्ध हुआ परन्तु जीव का अस्तित्व सिद्ध हो जाने पर भी यह प्रश्न विद्यमान रहता है कि उसका स्वरूप कैसा माना जाए? शरीर को ही जीव क्यों न मान लिया जाए? तृतीय गणधर वायुभूति ने इस विवाद का प्रारम्भ किया। तात्पर्य यह है कि प्रथम और तृतीय गणधरों की चर्चा का विषय प्रधानतः जीव का अस्तित्व एवं उसका स्वरूप रहा है। इस विषय पर विचार करने से पूर्व यह आवश्यक है कि हम जीव के अस्तित्व के सम्बन्ध में भारतीय दर्शनों की विचारणा पर दृष्टिपात कर लें।

ब्राह्मणों एवं श्रमणों की बढ़ती हुई आध्यात्मिक प्रवृत्ति के कारण आत्मवाद के विरोधी लोगों का साहित्य सुरक्षित नहीं रह सका। ब्राह्मणों ने अनात्मवादियों के सम्बन्ध में जो भी उल्लेख किए हैं वे केवल प्रासंगिक हैं और उनके आधार पर ही वैदिक-काल से लेकर उपनिषद् काल तक की उनकी मान्यताओं के विषय में कल्पनाएं की जा सकती हैं। उसके बाद हम जैन आगम और बौद्ध त्रिपिटकों के आधार पर यह मालूम कर सकते हैं कि भगवान महावीर और बुद्ध के समय तक अनात्मवादियों की क्या मान्यताएं थीं। दार्शनिक टीका-ग्रन्थों के प्रमाण से यह कहा जा सकता है कि दार्शनिक सूत्रों के रचना-काल में अनात्मवादियों ने अपनी मान्यताओं का प्रतिपादन बृहस्पति सूत्र में किया किन्तु दुर्भाग्यवश वह मूल ग्रन्थ आज उपलब्ध नहीं है। ऐसी परिस्थिति में अनात्मवादियों से सम्बन्ध रखने वाली सामग्री का आधार मुख्यतः विरोधियों का साहित्य ही है अतः उसका उपयोग करते समय विशेष सावधानी की आवश्यकता है क्योंकि विरोधियों द्वारा किए गए वर्णन में न्यून या अधिक मात्रा में एकाङ्गीपन की सम्भावना रहती ही है।

अनात्मवादी चार्वाक यह नहीं कहते कि आत्मा का सर्वथा अभाव है। किन्तु उनकी मान्यता का सार यह है कि जगत के मूलभूत एक या अनेक जितने भी तत्त्व हैं उनमें आत्मा कोई स्वतन्त्र तत्त्व नहीं है। दूसरे शब्दों में उनके मतानुसार आत्मा मौलिक तत्त्व नहीं है। इस तथ्य को दृष्टि सम्मुख रखते हुए न्यायवार्तिककार उद्योतकर ने कहा है कि आत्मा के अस्तित्व

उपनिषदों के आधार पर हमने यह देखा कि प्राचीन काल के अनात्मवादी जगत के मूल में केवल किसी एक तत्त्व को ही मानते थे। हम उन्हें अद्वैतवादी की श्रेणी में रख सकते हैं और उनकी मान्यता को अनात्म-अद्वैत का सार्थक नाम भी दे सकते हैं क्योंकि उनके मतानुसार आत्मा को छोड़कर अन्य कोई एक ही पदार्थ विश्व के मूल में विद्यमान है। यह कहा जा चुका है कि अनात्माद्वैत की इस परम्परा से ही क्रमशः आत्माद्वैत की मान्यता का विकास हुआ।

प्राचीन जैन आगम, पालि त्रिपिटक और सांख्यदर्शन आदि इस बात के साक्षी हैं कि दार्शनिक विचार की इस अद्वैत धारा के समानान्तर द्वैत धारा भी प्रवाहित थी। जैन, बौद्ध और सांख्य-दर्शन के मत में विश्व के मूल में केवल एक चेतन अथवा अचेतन तत्त्व नहीं अपितु चेतन एवं अचेतन ऐसे दो तत्त्व हैं। यह बात इन दर्शनों ने स्वीकृत की है। जैनों ने उन्हें जीव और अजीव का नाम दिया, सांख्यों ने पुरुष और प्रकृति कहा तथा बौद्धों ने उसे नाम और रूप कहा।

उक्त द्वैत विचार धारा में चेतन और उसका विरोधी अचेतन इस प्रकार दो तत्त्व माने गए, इसीलिए उसे द्वैत-परम्परा का नाम दिया गया है, किन्तु वस्तुतः सांख्यों और जैनों के मत में व्यक्ति भेद से चेतन अनेक हैं, वे सब प्रकृति के समान मूलरूप में एक तत्त्व नहीं हैं। जैनों की मान्यतानुसार केवल चेतन ही नहीं प्रत्युत अचेतन तत्त्व भी अनेक हैं। जड़ और चेतन इन दो तत्त्वों को स्वीकार करने के कारण न्याय दर्शन तथा वैशेषिक दर्शन भी द्वैत विचार धारा के अन्तर्गत गिने जा सकते हैं किन्तु उनके मत में भी चेतन एवं अचेतन ये दोनों सांख्य सम्मत प्रकृति के समान एक मौलिक तत्त्व नहीं परन्तु जैनों द्वारा मान्य चेतन-अचेतन के समान अनेक तत्त्व हैं। ऐसी वस्तुस्थिति में इस समस्त परम्परा को बहुवादी अथवा नानावादी कहना चाहिए। यह बताने की आवश्यकता नहीं है कि बहुवादी विचार धारा में पूर्वोक्त सभी दर्शन आत्मवादी हैं किन्तु जैन आगम और पालि त्रिपिटक इस बात की भी साक्षी प्रदान करते हैं कि इस बहुवादी विचार धारा में अनात्मवादी भी हुए हैं। उनमें ऐसे भूतवादियों का वर्णन उपलब्ध होता है जो विश्व के मूल में चार या पाँच भूतों को मानते थे[1]। उनके मत में चार या पाँच भूतों से ही आत्मा की उत्पत्ति होती है, आत्मा जैसा कोई स्वतन्त्र मौलिक पदार्थ नहीं है। दार्शनिक-सूत्रों के टीका ग्रन्थों के समय में जहाँ चार्वाक, नास्तिक, बार्हस्पत्य अथवा लोकायत मत का खण्डन किया गया है, वहाँ पर भी चार भूत अथवा पाँच भूतवाद का ही खण्डन है। अतः हम यह कह सकते हैं कि दार्शनिक सूत्रों की व्यवस्था के समय में उपनिषदों के प्राचीन स्तर के अद्वैती अनात्मवादी नहीं थे, मगर उनका स्थान नाना भूतवादियों ने ले लिया था। ये नाना भूतवादी विश्वास रखते थे कि चार अथवा पाँच भूतों के एक विशिष्ट समुदाय-सम्मिश्रण होने पर आत्मा अर्थात् चैतन्य का प्रादुर्भाव होता है। आत्मा के समान अनादि अनन्त किसी शाश्वत वस्तु का अस्तित्व ही नहीं है क्योंकि इस भूत समुदाय का नाश होने पर आत्मा का भी नाश हो जाता है।

---

1 सूत्रकृतांग 1 1 1 7–8 2 1 10 ब्रह्मजाल सूत्र

जिस प्रकार कोई पुरुष म्यान से तलवार को बाहर निकाल कर दिखा सकता है उसी प्रकार आत्मा को शरीर से निकाल कर अलग नहीं दिखाया जा सकता। अथवा जिस प्रकार तिलों से तेल निकाल कर दिखाया जा सकता है या दही से मक्खन निकालकर दिखाया जा सकता है उसी प्रकार जीव को शरीर से पृथक् निकाल कर नहीं दिखाया जा सकता। जब तक शरीर स्थिर रहता है तभी तक आत्मा भी स्थिर रहता है, शरीर का नाश होने पर आत्मा का भी नाश हो जाता है[1]।

बौद्धों के दीघनिकायान्तर्गत पायासी सुत्त में और जैनों के रायपसेणइय सुत्त में उन प्रयोगों का समान रूप से विस्तृत वर्णन है जिन्हें नास्तिक राजा पायासी–पएसी ने 'जीव शरीर से पृथक् नहीं है' इस बात को सिद्ध करने के लिए किए थे। उनसे पता चलता है कि उसने मरने वालों से कहा हुआ था कि तुम मर कर जिस लोक में जाओ वहाँ से मुझे समाचार बताने के लिए अवश्य आना किन्तु उनमें से एक भी व्यक्ति उस मृत्यूपरान्त की स्थिति के विषय में समाचार देने नहीं आया। अतः उसे यह विश्वास हो गया कि मृत्यु के समय ही आत्मा का नाश हो जाता है शरीर से भिन्न आत्मा नामक कोई पदार्थ नहीं है। शरीर ही आत्मा है। इस बात को प्रमाणित करने के उद्देश्य से राजा ने जीवित मनुष्य को लोहे की पेटी में अथवा हाँडी में बन्द करके यह देखने का प्रयत्न किया कि मृत्यु के समय उसका जीव बाहर निकलता है या नहीं। परीक्षण के अन्त में उसने निश्चय किया कि मृत्यु के समय शरीर से कोई जीव बाहर नहीं निकलता। जीवित और मृत व्यक्ति को तोलकर उसने यह परीक्षा भी की कि यदि मृत्यु के समय जीव चला जाता हो तो वजन में कमी हो जानी चाहिए किन्तु ऐसा नहीं हुआ प्रत्युत इसके विपरीत उसे यह पता चला कि मृत व्यक्ति का वजन बढ़ जाता है। मनुष्य के शरीर के टुकड़े टुकड़े कर क्रमशः हड्डियाँ मांस आदि में जीव की खोज की किन्तु वह उनमें भी नहीं मिला। इसके अतिरिक्त राजा यह युक्ति दिया करता था कि यदि शरीर और जीव अलग अलग हैं तो क्या कारण है कि एक बालक अनेक बाण नहीं चला सकता और एक युवक यह काम कर सकता है अतः शक्ति आत्मा की नहीं अपितु शरीर की है और शरीर के नाश के साथ ही उसका नाश हो जाता है।

पायासी राजा की भिन्न भिन्न परीक्षाओं एवं युक्तियों से ज्ञात होता है कि वह आत्मा को भूतों के समान ही इन्द्रियों का विषय मानकर आत्मा सम्बन्धी शोध में लीन था और आत्मा को एक भौतिक तत्त्व मानकर ही उसने तद्विषयक खोज जारी रखी। इसीलिए उसे निराशा का मुख देखना पड़ा। यदि वह आत्मा को एक अमूर्त तत्त्व मानकर उसे ढूँढने का प्रयत्न करता तो उसकी शोध की प्रक्रिया और ही होती। रायपसेणइय के वर्णन के अनुसार पएसी का मन्तव्य भी उसी की भाँति नास्तिक था। इससे ज्ञात होता है कि आत्मा को भौतिक समझकर उसके विषय में विचार करने वाले व्यक्ति अति प्राचीनकाल में भी थे। इस बात का समर्थन पूर्वोक्त तैत्तिरीय उपनिषद् से भी होता है जहाँ आत्मा को अन्नमय कहा गया है[2]।

---

1 सूत्रकृतांग 2 1 9 2 1 10

2 तैत्तिरीय 2 1 2

इसके अतिरिक्त उपनिषदों से भी प्राचीन ऐतरेय आरण्यक में आत्मा के विकास के क्रम के जो सोपान दिखाये गये हैं उनसे भी यह बात प्रमाणित होती है कि आत्म विचारणा में आत्मा को भौतिक मानना उसका प्रथम सोपान है। उस आरण्यक[1] में वनस्पति पशु एवं मनुष्य के चेतन में पारस्परिक सम्बन्ध का विश्लेषण किया गया है और यह बताया गया है कि औषधि वनस्पति और ये जो समस्त पशु एवं मनुष्य हैं उनमें आत्मा का विकास उत्तरोत्तर होता है। कारण यह है कि औषधि और वनस्पति में तो वह केवल रस रूप में ही दिखाई देता है किन्तु पशुओं में चित्त भी दृष्टिगोचर होता है और मनुष्य में वह विकास करते करते सोचने वाला या विचारक बन जाता है।

(2) प्राणात्मवाद—इन्द्रियात्मवाद

उपनिषद् में उपलब्ध विरोचन और इन्द्र की कथा का एक अंश देहात्मवाद की चर्चा में लिखा जा चुका है। यह भी कहा जा सकता है कि इन्द्र को प्रजापति के इस स्पष्टीकरण से सन्तोष भी नहीं हुआ था कि देह ही आत्मा है अतः हम यह मान सकते हैं कि उस युग में केवल इन्द्र ही नहीं अपितु उन जैसे कई विचारकों के मन में इस प्रश्न के विषय में उलझनें हुई होंगी और उनकी इस उलझन ने ही आत्मतत्त्व के विषय में अधिक विचार करने के लिए उन्हें प्रेरित किया होगा। चिन्तनशील व्यक्तियों ने जब शरीर की आध्यात्मिक क्रियाओं का निरीक्षण परीक्षण प्रारम्भ किया होगा तब सर्वप्रथम उनका ध्यान प्राण की ओर आकृष्ट हुआ हो यह स्वाभाविक है। उन्होंने अनुभव किया होगा कि निद्रा की अवस्था में जब समस्त इन्द्रियाँ अपनी अपनी प्रवृत्ति स्थगित कर देती हैं तब भी श्वासोच्छ्वास जारी रहता है। केवल मृत्यु के पश्चात् ही इस श्वासोच्छ्वास के दर्शन नहीं होते। इस बात से वे इस परिणाम पर पहुंचे कि जीवन में प्राण का ही सर्वाधिक महत्त्व है अतः उन्होंने इस प्राण तत्त्व को ही जीवन की समस्त क्रियाओं का कारण माना[2]। जिस समय विचारकों ने शरीर में स्फुरित होने वाले तत्त्व को प्राणरूप से पहिचान की उस समय उसका महत्त्व बहुत बढ़ गया और उस विषय में अधिक से अधिक विचार होने लगा। परिणाम-स्वरूप प्राण के सम्बन्ध में छान्दोग्य[3] उपनिषद् में कहा गया कि इस विश्व में जो कुछ है वह प्राण है। बृहदारण्यक[4] में तो उसे देवों का भी देव का पद प्रदान किया गया है।

प्राण अर्थात् वायु को आत्मा मानने वालों का खण्डन नागसेन ने मिलिन्दप्रश्न[5] में किया है।

शरीर में होने वाली क्रियाओं के जो भी साधन हैं उनमें इन्द्रियों का भाग अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है अतः यह स्वाभाविक है कि विचारकों का ध्यान उस ओर प्रवृत्त हो और वे

---

1 ऐतरेय आरण्यक 2 3 2
2 तैत्तिरीय 2 2 3 कौषीतकी ? 2
3 छान्दोग्य 3 15 4
4 बृहदारण्यक 1 5 22–23
5 मिलिन्दप्रश्न 2 10

सदानन्द ने वेदान्तसार में कहा है कि तैत्तिरीय उपनिषद् के 'अन्योऽन्तरात्मा मनोमय' (2 3) वाक्य के आधार पर चार्वाक मन को आत्मा मानता है। सोम्या द्वारा मान्य किए गए उपासना में मन को आत्मा मानने वालों का समाधान है[1]।

मन क्या है इस विषय में बृहदारण्यक में चार दृष्टान्तों से विचार किया गया है। उसमें बताया गया है कि मेरा मन दूसरी ओर था मैं नहीं देख रहा था, मेरा मन दूसरी ओर था अतः मैं सुन नहीं सका—अर्थात् वस्तुतः देखा जाए तो मनुष्य मन के द्वारा देखता है और उसके द्वारा ही सुनता है। काम संकल्प विचिकित्सा (संशय) श्रद्धा अश्रद्धा धृति अधृति लज्जा बुद्धि भय—यह सब मन ही है। इसलिए यदि कोई व्यक्ति किसी मनुष्य की पीठ का स्पर्श करता है तो वह मनुष्य मन से इस बात का ज्ञान कर लेता है[2]। पुनश्च वहीं मन को परम ब्रह्मसम्राट[3] भी कहा गया है। छान्दोग्य में भी उसे ब्रह्म[4] कहा है।

मन के कारण जो भी विश्व प्रपंच है उसका निरूपण तेजोबिन्दु उपनिषद् में किया गया है। उससे भी मन की महिमा का परिचय मिलता है। उसमें बताया गया है कि मन ही समस्त जगत् है मन ही महान् शत्रु है मन संसार है मन ही त्रिलोक है मन ही महान् दुःख है मन ही काल है मन ही संकल्प है मन ही जीव है मन ही चित्त है मन ही अहंकार है मन ही अन्तःकरण है मन ही पृथ्वी है मन ही जल है मन ही अग्नि है मन ही महान् वायु है मन ही आकाश है मन ही शब्द है स्पर्श रूप रस गन्ध और पाँच कोष मन से उत्पन्न हुए हैं जागरण स्वप्न सुषुप्ति इत्यादि मनोमय हैं दिक्पाल वसु रुद्र आदित्य भी मनोमय है[5]।

(4) प्राणात्मा प्रज्ञानात्मा विज्ञानात्मा

कौषीतकी उपनिषद् में प्राण को प्रज्ञा और प्रज्ञा को प्राण संज्ञा दी गई है। उससे विदित होता है कि प्राणात्मा के बाद जब प्रज्ञात्मा का अन्वेषण हुआ तब प्राचीन और नवीन का समन्वय आवश्यक था[6]। इन्द्रियाँ और मन ये दोनों प्रज्ञा के बिना सर्वथा अकिंचित्कर हैं यह बात कह कर कौषीतकी[7] में बताया गया है कि प्रज्ञा का महत्व इन्द्रियों और मन की अपेक्षा से भी अधिक है। इससे प्रतीत होता है कि प्रज्ञात्मा मनोमय आत्मा की भी अन्तरात्मा है। इसी बात का संकेत तैत्तिरीय उपनिषद् में (2 4) विज्ञानात्मा को मनोमय आत्मा का अन्तरात्मा बताकर किया गया है। अतः प्रज्ञा और विज्ञान का पर्यायवाची स्वीकार करने में कोई हानि नहीं है। ऐतरेय उपनिषद् में प्रज्ञान-ब्रह्म के जो पर्याय दिए गए हैं, उनमें मन भी है[8]। इससे ज्ञात

1 माण्डूक्यकारिका 44

2 बृहदारण्यक 1 5 3

3 बृहदारण्यक 4 1 6

4 छान्दोग्य 7 3 1

5 तेजोबिन्दु उपनिषद् 5 98 104

6 प्राणोऽस्मि प्रज्ञात्मा कौषीतकी 3 2 3 3 यो वै प्राण सा प्रज्ञा या वा प्रज्ञा स प्राण कौषी॰ 3 3 3 4

7 कौषी॰ 3 6 7 गुजराती अनुवाद वेदो—पृ॰ 892

8 ऐतरेय 3 2

होता है कि पूर्वकल्पित मनोमय आत्मा के साथ प्रज्ञानात्मा का समन्वय है। उसी उपनिषद् में प्रज्ञा और प्रज्ञान को एक ही माना[1] है और प्रज्ञान के पर्याय के रूप में विज्ञान भी दिया है।

सारांश यह है कि विज्ञान, प्रज्ञा, प्रज्ञान ये समस्त शब्द एकार्थक माने गए और उसी अर्थ के अनुसार आत्मा को विज्ञानात्मा, प्रज्ञात्मा, प्रज्ञानात्मा स्वीकार किया गया। मनोमय आत्मा सूक्ष्म है[2] किन्तु मन किसी के मतानुसार भौतिक और किसी के मतानुसार अभौतिक है। किन्तु जब विज्ञान को आत्मा की संज्ञा प्रदान की गई तब उसके बाद ही इस विचारणा को बल मिला कि आत्मा एक अभौतिक तत्त्व है। आत्म विचारणा के क्षेत्र में विज्ञान, प्रज्ञा अथवा प्रज्ञान को आत्मा कह कर विचारकों ने आत्म विचार की दिशा में ही परिवर्तन कर दिया। अब उन्होंने इस मान्यता की ओर अग्रसर होना प्रारम्भ किया कि आत्मा मौलिक रूपेण चेतन तत्त्व है। प्रज्ञान की प्रतिष्ठा इतनी अधिक बढ़ी कि आन्तरिक और बाह्य सभी पदार्थों का प्रज्ञान का नाम दिया गया[3]।

अब प्रज्ञा तत्त्व का विश्लेषण अनिवार्य था, अतः उसके विषय में विचार प्रारम्भ हुआ। समस्त इन्द्रियों और मन को प्रज्ञा में ही प्रतिष्ठित माना गया। जिस समय मनुष्य सुप्त अथवा मृतावस्था में होता है उस समय इन्द्रियाँ प्राण रूप प्रज्ञा में अन्तर्हित हो जाती हैं, अतः किसी भी प्रकार का ज्ञान नहीं हो सकता। जब मनुष्य नींद से जागता है या पुनः जन्म ग्रहण करता है तब जिस प्रकार चिनगारी में से अग्नि प्रकट होती है उसी प्रकार प्रज्ञा में से इन्द्रियाँ पुनः बाहर आती[4] हैं और मनुष्य को ज्ञान होने लगता है। इन्द्रियाँ प्रज्ञा के एक अंश के समान[5] हैं इसलिए वे प्रज्ञा के बिना अपना काम करने में असमर्थ[6] हैं, अतः इन्द्रियों और मन से भी भिन्न प्रज्ञात्मा का ज्ञान प्राप्त करने का प्रयत्न करना चाहिए। इस बात की भी प्रेरणा की गई है कि इन्द्रियों के विषयों का नहीं परन्तु इन्द्रियों के विषयों के ज्ञाता प्रज्ञात्मा का ज्ञान प्राप्त किया जाए। मन का ज्ञान आवश्यक नहीं है किन्तु मनन करने वाले का ज्ञान आवश्यक है। इस प्रकार कौषीतकी उपनिषद् में इस बात पर जोर दिया गया है कि इन्द्रियादि साधनों से भी उच्च प्रज्ञात्मा[7]-साधक को जानना चाहिए।

कौषीतकी उपनिषद् के उपर्युक्त विश्लेषण के आधार पर यह कहा जा सकता है कि इस उपनिषद् में प्रज्ञा को इन्द्रियों का अधिष्ठान माना गया है। किन्तु अभी प्रज्ञा के स्वतः प्रकाशित रूप की ओर विचारकों का ध्यान नहीं गया था। अतः सुप्तावस्था में इन्द्रियों के

---

1 ऐतरेय 3 3
2 ऐतरेय 3 2
3 ऐतरेय 3 1 2–3
4 कौषीतकी 3 2
5 कौषीतकी 3 5
6 कौषीतकी 3 7
7 कौषीतकी 3 8

व्यापार के अभाव में उनमें स्व या पर का किसी भी प्रकार का ज्ञान स्वीकृत नहीं किया गया[1]। इसी प्रकार मृत्यूपरान्त जब तक नई इन्द्रियों का निर्माण नहीं होता तब तक प्रज्ञा भी अकिंचित्कर ही रहती है। इन्द्रियाँ प्रज्ञा के अधीन हैं इस बात को मानकर भी यह स्वीकार किया गया है कि प्रज्ञा भी इन्द्रियों के बिना कुछ नहीं कर सकती। चूंकि अभी प्रज्ञा और प्राण को एक ही समझा जाता था अतः प्राण से भी पर स्वतः प्रकाशक प्रज्ञा का स्वरूप किसी के ध्यान में न आए यह स्वाभाविक है।

कठोपनिषद्[2] में जहाँ उत्तरोत्तर उच्चतर तत्त्वों की गणना की गई है वहाँ मन से बुद्धि, बुद्धि से महान्, महत् से अव्यक्त प्रकृति और प्रकृति से पुरुष को उत्तरोत्तर उच्चतर माना गया है। यही बात गीता में भी कही गई है। यह प्रक्रिया सांख्य सम्मत है। इससे यह ज्ञात होता है कि प्राचीन मत यह था कि विज्ञान किसी चेतन पदार्थ का धर्म नहीं अपितु अचेतन प्रकृति का धर्म है। इस मत की उपस्थिति में यह बात स्वीकार नहीं की जा सकती कि विज्ञानात्मा की शोध पूरी हो जाने पर आत्मा सर्वथा चेतन-स्वरूप किंवा अजड़ रूप सिद्ध हो गया, किन्तु जब विचारक प्रज्ञात्मा की सीमा तक उड़ान कर चुके तब उनका भावी मार्ग स्पष्ट था। अतएव अब ऐसी परिस्थिति नहीं थी कि आत्मा से भौतिक गन्ध को सर्वथा निर्मूल करने में विलम्ब हो।

(5) आनन्दात्मा

यदि मनुष्य के अनुभव का विश्लेषण किया जाए तो उसमें उस अनुभव के दो रूप स्पष्ट दृग्गोचर होते हैं। पहला तो पदार्थ की विज्ञप्ति सम्बन्धी है—अर्थात् हमें पदार्थ का जो ज्ञान होता है वह अनुभव का एक रूप है और दूसरा रूप वेदना सम्बन्धी है। एक को हम संवेदन कहते हैं और दूसरे को वेदन। पदार्थ को जानना एक रूप है और उसका भोग करना दूसरा। ज्ञान का सम्बन्ध जानने से है और वेदना का भोग से। ज्ञान का स्थान पहला है और भोग का दूसरा। यह वेदना भी अनुकूल और प्रतिकूल के भेद से दो प्रकार की होती है। प्रतिकूल वेदना किसी के लिए भी रुचिकर नहीं होती परन्तु अनुकूल वेदना सब को इष्ट है। इसी का दूसरा नाम सुख है और सुख की पराकाष्ठा को आनन्द की संज्ञा दी गई है। बाह्य पदार्थों के भोग से सर्वथा निरपेक्ष अनुकूल वेदना आत्मा का स्वरूप है और विचारक पुरुषों ने उसे ही आनन्दात्मा कहा है। इस बात की अधिक सम्भावना है कि अनुभव के संवेदन रूप को लक्ष्य में रख कर प्रज्ञा अथवा विज्ञानात्मा की कल्पना ने जन्म लिया तथा उसके वेदन रूप को लक्ष्य में रख कर आनन्दात्मा की कल्पना को बल मिला। यह स्वाभाविक है कि जब आत्मा [illegible] को बाह्य-बाह्य कर दिया जाए, तो विचारकों के सम्मुख स्वतः विज्ञानात्मा और आनन्दात्मा क्रम क्रम से उपस्थित हो जाते हैं।

---

1 [illegible] का सभाव न हुआ था और उसने प्रजापति से मुक्तात्मा [illegible] पर [illegible] का ज्ञान प्राप्त किया था वह [illegible] में है-8.11 [illegible] 11.5.20 भी [illegible] है।

2 कठोपनिषद् 1.3.10-11

विज्ञान का न य भी आन न्द ही है अत इसमे कोई आश्चर्य की बात नहीं कि विचारकों ने आनन्दात्मा को विज्ञानात्मा का अन्तरात्मा स्वीकार किया[1]। पुनश्च मनुष्य म दो भावनाए हैं—दार्शनिक और धार्मिक। दार्शनिक विज्ञानात्मा को मुख्य मानते है किन्तु दार्शनिको के अन्तर म ही स्थित धार्मिक आत्मा आनन्दात्मा की कल्पना कर सन्तोष का अनुभव कर तो यह कोई नई या आश्चर्य की बात नहीं।

(6) पुरुष चेतन आत्मा-चिदात्मा-ब्रह्म

विचारकों ने आत्मा के विषय म अन्नमय आत्मा स लेकर आनन्दात्मा पर्यन्त प्रगति की किन्तु उनकी यह प्रगति अभी तक आत्म-तत्त्व के भिन्न भिन्न आवरणों को आत्मा समझ कर ही हो रही थी। इन सब आत्माओं की भी जो मूल रूप आत्मा थी उसका अन्वेषण अभी बाकी था। जब उस आत्मा की शोध होने लगी तब यह कहा जाने लगा कि अन्नमय आत्मा जिसे शरीर भी कहा जाता है रथ के समान है उस चलाने वाला रथी ही वास्तविक आत्मा है[3]। आत्मा से रहित शरीर कुछ भी करने म असमर्थ है। शरीर की सचालक शक्ति ही आत्मा है। इस प्रकार यह बात स्पष्ट कर दी गई कि शरीर और आत्मा ये दोनों तत्त्व पृथक हैं। आत्मा स स्वतन्त्र होकर प्राण कुछ भी क्रिया नहीं करता। आत्मा प्राण का भी प्राण[4] है। प्रश्नोपनिषद में लिखा है कि प्राण का जन्म आत्मा से ही होता है। मनुष्य की छाया का आधार स्वय मनुष्य है उसी प्रकार प्राण आत्मा पर अवलम्बित[5] है। इस प्रकार प्राण और आत्मा का भेद सामने आया।

केनोपनिषद[6] मे यह सूचित किया गया है कि यह आत्मा इन्द्रिय और मन स भी भिन्न है। वहाँ बताया गया है कि इन्द्रियाँ और मन ब्रह्म आत्मा के बिना कुछ भी करने म असमर्थ हैं। आत्मा का अस्तित्व होने पर ही चक्षु आदि इंद्रियाँ और मन अपना अपना काय करते हैं। जिस प्रकार विज्ञानात्मा की अन्तरात्मा आनन्दात्मा है उसी प्रकार आनन्दात्मा की अन्तरात्मा सत्रूप ब्रह्म है। इस बात का प्रतिपादन करके विज्ञान और आनन्द स भी परे ऐस ब्रह्म की कल्पना[7] की गई।

ब्रह्म और आत्मा पृथक पृथक नहीं हैं किन्तु एक ही तत्त्व के दो नाम हैं[8]। इसी आत्मा को समस्त तत्त्वों से परे ऐसा पुरुष भी माना गया है और सब भूतों म गूढात्मा भी कहा

---

1 तत्तिरीय 2 5
2 Nature of Consciousness in Hindu Philosophy p 29
3 छान्दोग्य उपनिषत का सार देखें–History of Indian Philosophy vol 2 p 131 मैत्रयी उपनिषद 2 3 4 कठोपनिषद् 1 3 3
4 केनोपनिषद् 1–2
5 प्रश्नोपनिषद 3–3
6 केनोपनिषद 1 4–6
7 तत्तिरीय 2–6
8 सर्व हि एतद् ब्रह्म अयमात्मा ब्रह्म–माण्डूक्य 2 बृहदा० 2–5–19

गया है[1]। कठोपनिषद् में बुद्धि विज्ञान को प्राकृत जड़ बताया गया है। अतः यह बात स्वाभाविक है कि विज्ञानात्मा की कल्पना में विचारक सन्तुष्ट न हों। अतः उससे भी आगे चिदात्मा पुरुष चेतन आत्मा की शोध आवश्यक थी और वह ब्रह्म अथवा चेतनात्मा की कल्पना में पूर्ण हुई। इस प्रकार चिन्तकों ने अभौतिक तत्त्व के रूप में आत्मा का निश्चय किया। इस क्रम से भूत से लेकर चेतन तक की आत्म विचारणा की उत्क्रान्ति का इतिहास यहाँ पूर्ण हो जाता है।

विज्ञानात्मा का वर्णन करते हुए पहले यह लिखा जा चुका है कि उसे स्वतः प्रकाशित नहीं माना गया। सुषुप्तावस्था में वह अचेतन हो जाता है[2]। वह स्वप्रकाशक नहीं है, किन्तु इस पुरुष चेतन आत्मा अथवा चिदात्मा के विषय में यह बात नहीं है। वह स्वयं प्रकाश-स्वरूप है स्वतः प्रकाशित होता है। वह विज्ञान का भी अन्तर्यामी है[3]। इस सर्वान्तरात्मा के विषय में कहा गया है कि वह साक्षात् है अपरोक्ष है प्राण का ग्रहण करने वाला वही है आँख का देखने वाला वही है कान का सुनने वाला वही है मन का विचार करने वाला वही है ज्ञान का जानने वाला वही है[4]। वही द्रष्टा है वही श्रोता है वही मनन करने वाला है वही विज्ञाता[5] है। यह नित्य चिन्मात्र रूप है सर्व प्रकाश रूप है चिन्मात्र ज्योति स्वरूप है[6]।

इस पुरुष अथवा चिदात्मा को अजर अमर अमृत अमर अव्यय अज नित्य ध्रुव, शाश्वत अनन्त माना गया है[7]। इस विषय में कठोपनिषद् (1-3-15) में लिखा है कि "वह अशब्द अस्पर्श अरूप अव्यय अरस नित्य अगन्धवत् अनादि अनन्त महत् तत्त्व से पर ध्रुव ऐसी आत्मा का ज्ञान प्राप्त कर मनुष्य मृत्यु के मुख से मुक्त हो जाता है।

(7) भगवान बुद्ध का अनात्मवाद

हम यह देख चुके हैं कि विचारक सबसे पहले बाह्य दृष्टि से ग्राह्य भूत को ही मौलिक तत्त्व मानते थे किन्तु कालक्रम से उन्होंने आत्मतत्त्व को स्वीकार किया। वह तत्त्व इन्द्रिय-ग्राह्य न होकर अतीन्द्रिय था। जब उन्हें इस प्रकार के अतीन्द्रिय तत्त्व का बोध हुआ तब यह स्वाभाविक था कि वे उस के स्वरूप के सम्बन्ध में विचार करने लगें। जिस समय प्राण मन और प्रज्ञा से भी पर आत्मा की कल्पना का जन्म हुआ तब चिन्तकों के समक्ष नये-नये प्रश्न उपस्थित होने लगे। प्राण मन और प्रज्ञा तो ऐसे पदार्थ थे जिनका ज्ञान सरल था किन्तु आत्मा तो इन सब से पर माना गया। अतः उस का ज्ञान किस प्रकार प्राप्त किया जाए? वह कैसा है? उस का स्वरूप क्या है? ये प्रश्न उठे। वास्तविक आत्म विद्या का श्रीगणेश इसी समय हुआ और आत्मा की इस विद्या का इतना अधिक महत्त्व बढ़ने लगा कि उन्होंने आत्मा की शोध में ही अपने जन्म की इतिश्री समझी। उन्हें आत्म सुख की अपेक्षा इस संसार के भोग अथवा स्वर्ग के सुख

---

1 कठोपनिषद् 1 3 10–12

2 बृहदा० 4 3 6 तथा 9 विज्ञानात्मा व प्रज्ञानघन (बृहदा० 4-5-13) आत्मा में अन्तर है। पहला प्राकृत है जब कि दूसरा पुरुष चेतन है।

3 बृह० 3-7-22

4 बृहदा० 3 4 1-2

5 बृहदा० 3 7 23 3 8 11

6 मैत्र्युप[illegible] 16 21

7 कठ 3 [illegible] बृहदा० 4 4 20 3 8 8 4-4 25 श्वेता० 1-9 इत्यादि।

मुझ प्रतीत हुए और उन्होंने इसमें एक तपश्चर्या की कठिन यातनाओं को सहर्ष सहन किया[1]। नचिकेता जैसे बालक भी मृत्यु के उपरान्त आत्मा की दशा का ज्ञान प्राप्त करने के लिए इतने उत्सुक हो गए कि उन्हें रथिक अथवा स्वर्ग के सुख साधन हेय दिखाई दिए। मैत्रेयी जैसी महिलाएँ अपने पति की सम्पत्ति का उत्तराधिकार लेने की अपेक्षा आत्मविद्या की शोध में संलग्न हो गईं और स्पष्ट ही कहा गया कि जिससे मैं अमर नहीं हो सकती उसे लेकर क्या करूँ? हे भगवन्! यदि आप अमर होने का उपाय जानते हैं तो मुझे बताइए। कुछ लोग तो पुकार-पुकार कर कहने लगे कि जिसमें द्युलोक अन्तरिक्ष और पृथ्वी तथा सब प्राणों सहित मन ओतप्रोत है उस एक मात्र आत्मा का ही ज्ञान प्राप्त करो शेष सब बातें छोड़ दो। अमरता प्राप्त करने के लिए यह आत्मा सेतु के समान है[3]। याज्ञवल्क्य तो सब से आगे बढ़ कर यह घोषणा करते हैं कि पति पत्नी पुत्र धन पशु ये सब चीजें आत्मा के निमित्त ही प्रिय मालूम होती हैं अतः इस आत्मा को ही देखना चाहिए उस के विषय में ही सुनना चिन्तन विचार करना चाहिए ध्यान करना चाहिए ऐसा करने से सब कुछ ज्ञात हो जाएगा[4]।

इस प्रवृत्ति का एक शुभ फल यह हुआ कि विचारकों के मन में वेदों के कर्मकाण्ड के प्रति विरोध की भावना जागरित हो गई किन्तु आत्म विद्या का भी अतिरेक हुआ और अतीन्द्रिय आत्मा के विषय में प्रत्येक व्यक्ति मनमानी कल्पना करने लगा। ऐसी परिस्थिति में औपनिषद आत्मविद्या के विषय में प्रतिक्रिया का सूत्रपात होना स्वाभाविक था। भगवान बुद्ध के उपदेशों में हमें यही प्रतिक्रिया दृष्टिगोचर होती है। सभी उपनिषदों का अन्तिम निष्कर्ष तो यही है कि विश्व के मूल में मात्र एक ही शाश्वत आत्मा-ब्रह्म-तत्त्व है और इसे छोड़ कर अन्य कुछ भी नहीं है। उपनिषद् के ऋषियों ने अन्त में यहाँ तक कह दिया कि अद्वैत तत्त्व के होते हुए भी जो व्यक्ति संसार में भेद की कल्पना करते हैं वे अपने सर्वनाश को निमन्त्रण देते हैं[5]। इस प्रकार उस समय आत्मवाद की भीषण बाढ़ आई थी, अतः उस बाढ़ को रोकने के लिए बाँध बाँधने का काम भगवान बुद्ध ने किया। इस कार्य में उन्हें स्थायी सफलता कितनी मिली यह एक पृथक् प्रश्न है। हमें केवल यह बताना है कि भगवान् बुद्ध ने उस बाढ़ को अनात्मवाद की ओर मोड़ने का भरसक प्रयत्न किया।

जब हम यह कहते हैं कि भगवान् बुद्ध ने अनात्मवाद का उपदेश दिया तब उसका अर्थ यह नहीं समझना चाहिए कि उन्होंने आत्मा जैसे पदार्थ का सर्वथा निषेध किया है। उस निषेध का अभिप्राय इतना ही है कि उपनिषदों में जिस प्रकार के शाश्वत अद्वैत आत्मा का

---

1 कठोपनिषद् 1 1 23 29
2 बृहदा० 2 4 3
3 मुण्डक 2 2 5
4 बृहदा 4 5 6
5 मनसैवानुद्रष्टव्य नेह नानास्ति किंचन। मृत्योः स मृत्युमाप्नोति य इह नानेव पश्यति। बृहदा 4 4 19 कठ 4 11

स्थान नहीं है। हो सकता है कि कोई व्यक्ति इस बात के लिए उत्सुक हो कि पूर्वोक्त मनोमय आत्मा के साथ बौद्ध सम्मत पुद्गल अर्थात् स्कन्धधारी जीव जिसे चित्त भी कहा गया है की तुलना की जाए। किन्तु वस्तुतः इन दोनों में भेद है। बौद्ध मत में मन को अन्तःकरण माना गया है और इन्द्रियों की भांति चित्तोत्पाद में यह भी एक कारण है। अतः मनोमय आत्मा से उसकी तुलना शक्य नहीं है परन्तु विज्ञानात्मा से उसकी आंशिक तुलना सम्भव है। विज्ञानात्मा सतत जागरित नहीं होता न ही सतत सवेदक होता है। मगर सुप्तावस्था में अथवा मृत्यु के समय में यह लीन हो जाता है और बाद में पुनः सवेदक बन जाता है। पुद्गल के विषय में भी यही बात कही जा सकती है। सुप्तावस्था अथवा मृत्यु के समय उसका भी निरोध होता है। इस तुलना को आंशिक इसलिए कहा गया है कि विज्ञानात्मा ही पुनः जागरित होता है यह बात मानी गई थी। किन्तु बुद्ध ने तो जागरित होने वाले पुद्गल अथवा मृत्यु के पश्चात् उत्पन्न होने वाले पुद्गल के विषय में यह वही है या भिन्न है इन दोनों विधानों में से किसी को भी उचित स्वीकार नहीं किया। यदि वे यह कहें कि उसी पुद्गल ने पुनः जन्म ग्रहण किया तो उपनिषत् सम्मत शाश्वतवाद का समर्थन हो जाता है जो कि उन्हें अभीष्ट नहीं है और यदि वे यह बात कहें कि भिन्न है तो भौतिकवादियों के उच्छेदवाद का समर्थन प्राप्त होता है वह भी बुद्ध के लिए इष्ट नहीं। अतः बुद्ध केवल इतना ही प्रतिपादन करते हैं कि प्रथम चित्त था इसीलिए दूसरा उत्पन्न हुआ। उत्पन्न होने वाला वही नहीं है और उससे भिन्न भी नहीं है किन्तु वह उसकी धारा में ही है। दूसरे शब्दों में कहा जा सकता है कि बुद्ध का उपदेश था कि जन्म जरा मरण आदि किसी स्थायी ध्रुव जीव के नहीं होते किन्तु वे सब अमुक कारणों से उत्पन्न होते हैं। बुद्ध मत में जन्म जरा मरण इन सब का अस्तित्व तो है किन्तु बौद्ध यह स्वीकार नहीं करते कि इन सबका कोई स्थायी आधार[1] भी है। तात्पर्य यह है कि बुद्ध को जहाँ चार्वाक का देहात्मवाद अमान्य है वहाँ उपनिषत्-सम्मत सर्वान्तर्यामी नित्य ध्रुव शाश्वत स्वरूप आत्मा भी अमान्य है। उनके मत में आत्मा शरीर से अत्यन्त भिन्न भी नहीं है और शरीर से अभिन्न भी नहीं है। उन्हें चार्वाक-सम्मत भौतिकवाद एकान्त प्रतीत होता है और उपनिषदों का कूटस्थ आत्मवाद भी एकान्त दिखाई देता है। उनका मार्ग तो मध्यम मार्ग है जिसे वे प्रतीत्यसमुत्पादवाद—अमुक वस्तु की अपेक्षा से अमुक वस्तु उत्पन्न हुई कहते हैं। यह वाद न तो शाश्वतवाद है और न ही उच्छेदवाद उसे अशाश्वतानुच्छेदवाद का नाम दिया जा सकता है।

बौद्धमत के अनुसार ससार में सुख दुःख आदि अवस्थाएं हैं कर्म है जन्म है मरण है बंध है मुक्ति भी है—ये सब कुछ है किन्तु इन सबका कोई स्थिर आधार नहीं है नित्य नहीं है। ये समस्त अवस्थाएं अपने पूर्ववर्ती कारणों से उत्पन्न होती रहती हैं और एक नवीन कार्य को उत्पन्न करके नष्ट होती रहती हैं। इस प्रकार ससार का चक्र चलता रहता है। पूर्व का सर्वथा उच्छेद अथवा उसका ध्रौव्य दोनों ही उन्हें मान्य नहीं हैं। उत्तरावस्था पूर्वावस्था से नितान्त असम्बद्ध है अपूर्व है यह बात स्वीकार नहीं की जा सकती क्योंकि दोनों कार्य कारण

---

1 संयुत्तनिकाय 12 36 अगुत्तरनिकाय 3 दीघनिकाय महानिदानसुत्त संयुत्तनिकाय 12 17 24 विसुद्धिमग्ग 17 161 174

की शृंखला म बद्ध है। पूर्वावस्था के सब संस्कार उत्तरावस्था म [illegible] है [illegible] जो पूर्व है व । उत्तर क्षण म परिणत [illegible] है। [illegible] भिन्न है और न सर्वथा अभिन्न किन्तु [illegible]। भिन्न [illegible], [illegible] और अभिन्न कहने म शाश्वतवाद मानना पड़ता है। भगवान् बुद्ध [illegible] ही [illegible] इसी लिए म सम्बन्ध म उन्होंने अव्याकृतवाद की शरण ली[1]।

बुद्धघोष ने इसी विषय को पौराणिकों का खण्डन कर प्रतिपादित किया है —

कम्मस्स कारको नत्थि विपाकस्स च वेदको।
सुद्धधम्मा पवत्तन्ति एवेतं सम्मदस्सनं॥
एव कम्मे विपाके च वत्तमाने सहेतुके।
बीजरुक्खादिकानं व पुब्बा कोटि न ञायति॥
अनागते पि संसारे अप्पवत्तं न दिस्सति।
एतमत्थं अनञ्ञाय तित्थिया असयंवसी॥
सत्तसञ्ञं गहेत्वान सस्सतुच्छेददस्सिनो।
द्वासट्ठिदिट्ठिं गण्हन्ति अञ्ञमञ्ञविरोधिता॥
दिट्ठिबन्धनबद्धा ते तण्हासोतेन वुय्हरे।
तण्हासोतेन-वुय्हन्ता न ते दुक्खा पमुच्चरे॥
एवमेतं अभिञ्ञाय भिक्खु बुद्धस्स सावको।
गम्भीरं निपुणं सुञ्ञं पच्चयं पटिविज्झति॥
कम्मं नत्थि विपाकम्हि पाको कम्मे न विज्जति।
अञ्ञमञ्ञं उभो सुञ्ञा न च कम्मं विना फलं॥
यथा न सुरिये अग्गि न मणिम्हि न गोमये।
न तेसं बहि सो अत्थि सम्भारेहि च जायति॥
तथा न अन्तो कम्मस्स विपाको उपलब्भति।
बहिद्धापि न कम्मस्स न कम्मं तत्थ विज्जति॥
फलेन सुञ्ञं तं कम्मं फलं कम्मे न विज्जति।
कम्मं च खो उपादाय ततो निब्बत्तते फलं॥
न हेत्थ देवो ब्रह्मा वा संसारस्सत्थिकारको।
सुद्धधम्मा पवत्तन्ति हेतुसम्भारपच्चया॥

इसका तात्पर्य यह है कि —

कर्म को करने वाला कोई नहीं है विपाक (कर्म के फल) का अनुभव करने वाला कोई नहीं है किन्तु शुद्ध धर्मों की ही प्रवृत्ति होती है यही सम्यग्दर्शन है।

---

1 न्यायावतारवार्तिकवृत्ति की प्रस्तावना देखें—पृष्ठ 6 मिलिन्दप्रश्न 2 25 33, पृष्ठ 41 52

इस प्रकार कर्म और विपाक अपने अपने हेतुओं पर आश्रित होकर प्रवृत्त होते हैं। उनमें पहला स्थान किसका है यह बीज और वृक्ष के प्रश्न की भांति नहीं बताया जा सकता। अर्थात बीज और वृक्ष के समान कर्म एवं विपाक अनादि काल से एक दूसरे पर आश्रित चल आ रहे हैं।

पतश्च यह भी नहीं कहा जा सकता कि कर्म और विपाक की यह परम्परा कब निरुद्ध होगी। इस बात को न जानने से तैर्थिक पराधीन होते हैं।

सत्व जीव के विषय में कुछ लोग शाश्वतवाद का और कुछ उच्छेदवाद का अवलम्बन लेते हैं और परस्पर विरोधी दृष्टिकोण अपनाते हैं।

भिन्न भिन्न दृष्टियों के बन्धन में बद्ध होकर वे तृष्णारूपी स्रोत में फंस जाते हैं और उसमें फँस जाने के कारण वे दुःख से मुक्त नहीं हो सकते।

इस तत्त्व को समझ कर बुद्ध श्रावक गम्भीर निपुण और शून्यरूप प्रत्यय का ज्ञान प्राप्त करता है।

विपाक में कर्म नहीं है और कर्म में विपाक नहीं है ये दोनों एक दूसरे से रहित हैं फिर भी कर्म के बिना फल या विपाक होता ही नहीं।

जिस प्रकार सूर्य में अग्नि नहीं है मणि में नहीं है उपलों (गोबर) में भी नहीं है और वह इनसे भिन्न पदार्थों में भी नहीं है किन्तु जब इन सबका समुदाय होता है तब वह उत्पन्न होती है उसी प्रकार कर्म का विपाक कर्म में उपलब्ध नहीं होता और कर्म के बाहर भी नहीं मिलता तथा विपाक में भी कर्म नहीं है। इस प्रकार कर्म फलशून्य है कर्म में फल का अभाव है फिर भी कर्म के आधार पर ही फल मिलता है।

कोई देव या ब्रह्म इस संसार का कर्ता नहीं है। हेतु समुदाय का आश्रय ले कर शुद्ध धर्मों की ही प्रवृत्ति होती है। विशुद्धिमार्ग 19 0

भदन्त नागसेन ने रथ की उपमा देकर बताया है कि पुद्गल का अस्तित्व केश दान्त आदि शरीर के अवयवों तथा रूप वेदना संज्ञा संस्कार विज्ञान इन सब की अपेक्षा से है किन्तु कोई पारमार्थिक तत्त्व नहीं। मिलिन्दप्रश्न 2 4 सू० 298

स्वयं बुद्ध घोष ने भी कहा है—

यथेव चक्खुविञ्ञाणं मनोधातु अनन्तरं।
न चेव आगतं नापि न निब्बत्तं अनन्तरं॥
तथेव पटिसन्धिम्हि वत्तते चित्तसंतति।
पुरिमं भिज्जति चित्तं पच्छिमं जायते ततो॥

जिस प्रकार मनोधातु के पश्चात चक्षुर्विज्ञान होता है—वह कहीं से आया तो नहीं फिर भी यह बात नहीं कि वह उत्पन्न नहीं हुआ उसी प्रकार जन्मान्तर में चित्त-सन्तति के विषय में समझना चाहिए कि पूर्व चित्त का नाश हुआ है और उससे नये चित्त की उत्पत्ति हुई है। विशुद्धिमार्ग 19 23

भगवान् बुद्ध ने इस पुद्गल को क्षणिक और नाना-अनेक कहा है। यह चेतन तो है किन्तु मात्र चेतन ही है ऐसी बात नहीं। वह नाम और रूप इन दोनों का समुदाय रूप है

के साथ सम्बन्धित होने के कारण मूर्त है। इसके विपरीत अन्य सब दर्शनों ने चेतन को अमूर्त माना है।

उपसंहार

समस्त भारतीय दर्शनों ने यह निष्कर्ष स्वीकार किया है कि आत्मा का स्वरूप चेतन्य है। नास्तिक दर्शन के नाम से प्रसिद्ध चार्वाक-दर्शन ने भी आत्मा को चेतन ही कहा है। उसमें और दूसरे दर्शनों में मतभेद यह है कि चार्वाक के अनुसार आत्मा चेतन होते हुए भी शाश्वत तत्त्व नहीं, वह भूतों से उत्पन्न होता है। बौद्ध भी चेतन तत्त्व को अन्य दर्शनों की भाँति नित्य नहीं मानते अपितु चार्वाकों के समान जन्य मानते हैं। फिर भी बौद्धों और चार्वाकों में एक महत्त्वपूर्ण भेद है। बौद्धों की मान्यता के अनुसार चेतन तो जन्य है परन्तु चेतन सन्तति अनादि है। चार्वाक प्रत्येक जन्य चेतन को सर्वथा भिन्न या अपूर्व ही मानते हैं। बौद्ध प्रत्येक जन्य चैतन्य-क्षण के पूर्व-जनक क्षण से सर्वथा भिन्न अथवा अभिन्न होने का निषेध करते हैं। बौद्ध दर्शन में चार्वाक का उच्छेदवाद किंवा उपनिषदों और अन्य दर्शनों का आत्म शाश्वतवाद मान्य नहीं है अतः वे आत्म सन्तति को अनादि मानते हैं आत्मा को अनादि नहीं मानते। सांख्य योग न्याय वैशेषिक पूर्व मीमांसा उत्तर मीमांसा और जैन ये समस्त दर्शन आत्मा को अनादि स्वीकार करते हैं परन्तु जैन और पूर्व मीमांसा दर्शन का भाट्ट सम्प्रदाय आत्मा को परिणामी नित्य मानते हैं। शेष सभी दर्शन उसे कूटस्थ नित्य मानते हैं।

आत्मा को कूटस्थ नित्य मानने वाले उसमें किसी भी प्रकार के परिणाम का निषेध करने वाले संसार और मोक्ष को तो मानते ही हैं और आत्मा को परिणामी नित्य मानने वाले भी संसार व मोक्ष का अस्तित्व स्वीकार करते हैं अतः आत्मा को कूटस्थ या परिणामी मानने पर भी संसार और मोक्ष के विषय में किसी भी प्रकार का मतभेद नहीं है। वे दोनों हैं ही। यह एक अलग प्रश्न है कि उन दोनों की उपपत्ति कैसे की जाए।

आत्मा के सामान्य स्वरूप चैतन्य का विचार करने के उपरान्त उसके विशेष स्वरूप का विचार करना अवसरप्राप्त है।

3 जीव अनेक हैं

इस ग्रन्थ में (गा 1581-85) यह पक्ष स्वीकार किया गया है कि जीव अनेक हैं और यात्माद्वैत अर्थात् आत्मा एक ही है इस पक्ष का निराकरण किया गया है। हम यह देख चुके हैं कि वेदों से लेकर उपनिषदों तक की विचारधारा में मुख्यतः अद्वैत पक्ष का ही अवलम्बन किया गया है अतः उपनिषदों के आधार पर जब ब्रह्म-सूत्र में वेदान्त दर्शन की व्यवस्था की गई तब भी उसमें अद्वैत के सिद्धान्त को ही पुष्ट किया गया। किन्तु संसार में जो अनेक जीव प्रत्यक्ष दिखाई देते हैं उनका निषेध करना सरल नहीं था अतः हम देखते हैं कि सिद्धान्त एक आत्मा मानकर भी उस एक अद्वैत आत्मा अथवा ब्रह्म के साथ संसार में प्रत्यक्ष दृष्टिगोचर होने वाले अनेक जीवों का क्या सम्बन्ध है इस बात की व्याख्या करना आवश्यक था। ब्रह्मसूत्र के टीकाकारों ने यह स्पष्टीकरण किया भी है किन्तु इसमें एक मत स्थिर नहीं हो सका अतः व्याख्या भेद के कारण वेदान्त-दर्शन की अनेक परम्पराएं बन गई हैं।

अत अनेक जीव माया रूप हैं मिथ्या हैं। इसीलिए उन्हें ब्रह्म का विवर्त कहा जाता है। यदि जीव का यह अज्ञान दूर हो जाए तो ब्रह्मतादात्म्य की अनुभूति हो अर्थात जीव भाव दूर होकर ब्रह्मभाव का अनुभव हो। शंकर के इस मत को केवलाद्वैतवाद इसलिए कहा जाता है कि वे केवल एक अद्वैत ब्रह्म आत्मा को ही सत्य मानते हैं शेष समस्त पदार्थों को माया रूप अथवा मिथ्या मानते हैं। जगत को मिथ्या स्वीकार करने के कारण उस मत को मायावाद भी कहा गया है जिसका दूसरा नाम विवर्तवाद भी है।

(2) भास्कराचार्य का सत्योपाधिवाद

भास्कराचार्य यह मानते हैं कि अनादिकालीन सत्य उपाधि के कारण निरुपाधिक ब्रह्म जीव रूप में प्रकट होता है। जिस क्रिया के वश निष्क्रिय शुद्ध मुक्त कूटस्थ ब्रह्म मूर्त पदार्थों में प्रवेश कर अनेक जीवों के रूप में प्रकट होता है और उन जीवों का आधार बनता है उस क्रिया को 'उपाधि' कहते हैं। इस उपाधि के सम्बन्ध के कारण ब्रह्म जीव रूप में प्रकट होता है अत यह जीव ब्रह्म का औपाधिक स्वरूप है यह बात स्वीकार करनी पड़ती है। इस प्रकार जीव और ब्रह्म में वस्तुत अभेद होते हुए भी जो भेद है वह उपाधि जनक है किन्तु जीव ब्रह्म का विकार नहीं है। जब वह निरुपाधिक होता है उसे ब्रह्म कहते हैं और सोपाधिक होने पर उसे जीव कहते हैं। ब्रह्म के सोपाधिक रूप अनेक होते हैं अत अनेक जीवों की उत्पत्ति में कोई बाधा नहीं आती। उपाधि को सत्य रूप मानने के कारण और इसी उपाधि में जगत तथा अनेक जीवों की उत्पत्ति सिद्ध करने के कारण भास्कराचार्य के मत को सत्योपाधिवाद कहते हैं। इसके विपरीत शंकराचार्य उपाधि को मिथ्या मानते हैं उनका मत मायावाद कहलाता है। भास्कराचार्य के मतानुसार ब्रह्म अपनी परिणाम शक्ति अथवा भोग्यशक्ति के कारण जगत रूप में परिणत होता है अत जगत सत्य है मिथ्या नहीं। इस प्रकार भास्कराचार्य ने जगत के सम्बन्ध में शंकराचार्य के विवर्तवाद के स्थान पर प्राचीन परिणामवाद का समर्थन किया और इसके पश्चात रामानुजाचार्य आदि अन्य आचार्यों ने भी इसी का अनुसरण किया।

(3) रामानुजाचार्य का विशिष्टाद्वैतवाद

रामानुज के मतानुसार परमात्मा ब्रह्म कारण भी है और कार्य भी। सूक्ष्म चित तथा अचित से विशिष्ट ब्रह्म कारण है और स्थूल चित तथा अचित से विशिष्ट ब्रह्म कार्य है। इन दोनों विशिष्टों का एक्य स्वीकृत करने के कारण रामानुज का मत विशिष्टाद्वैत कहलाता है। कारण रूप ब्रह्म परमात्मा के सूक्ष्म चिद्रूप के विविध स्थूल परिणाम ही अनेक जीव हैं और परमात्मा का सूक्ष्म अचिद्रूप स्थूल जगत के रूप में परिणमन करता है। रामानुज के अनुसार जीव अनेक हैं नित्य हैं और अणु परिमाण हैं। जीव और जगत दोनों ही परमात्मा के कार्य परिणाम हैं अत वे मिथ्या नहीं प्रत्युत सत्य हैं। मुक्ति में जीव परमात्मा के समान होकर उस के ही निकट रहता है। रामानुज की मान्यता है कि जीव और परमात्मा दोनों पृथक हैं एक कारण है और दूसरा कार्य किन्तु कार्य कारण का ही परिणाम है अत इन दोनों में अद्वैत है।

को देह परिमाण माना और बौद्धों ने भी पुद्गल को देह परिमाण स्वीकार किया ऐसी कल्पना की जा सकती है। जैनों ने तो आत्मा को देह परिमाण स्वीकार किया ही है। आत्मा को देह परिमाण मानने की मान्यता उपनिषदों में भी उपलब्ध होती है। कौषीतकी उपनिषद् में कहा है कि जैसे तलवार अपनी म्यान में और अग्नि अपने कुण्ड में व्याप्त है उसी तरह आत्मा शरीर में नख से लेकर शिखा तक व्याप्त है[1]। तैत्तिरीय उपनिषद् में अन्नमय प्राणमय मनोमय विज्ञानमय आनन्दमय इन सब आत्माओं को शरीर प्रमाण बताया गया है[2]।

उपनिषदों में इस बात का भी प्रमाण है कि आत्मा को शरीर से भी सूक्ष्म परिमाण मानने वाले ऋषि विद्यमान थे। बृहदारण्यक में लिखा है कि आत्मा चावल या जौ के दाने के परिमाण की है[3]। कुछ लोगों के मतानुसार वह अंगुष्ठ परिमाण[4] है और कुछ की मान्यता के अनुसार वह बालिश्त परिमाण है[5]। मैत्री उपनिषद् (6 38) में तो उसे अणु से भी अणु माना गया है। बाद में जब आत्मा को अवर्ण्य माना गया तब ऋषियों ने उसे अणु से भी अणु और महान से भी महान् मानकर सन्तोष किया[6]।

जब सभी दर्शनों ने आत्मा की व्यापकता को स्वीकार किया तब जैनों ने उसे देह परिमाण मानते हुए भी केवलज्ञान की अपेक्षा से व्यापक कहना शुरू किया[7]। अथवा समुद्घात की अवस्था में आत्मा के प्रदेशों का जो विस्तार होता है उसकी अपेक्षा से उसे लोकव्यापक कहा जाने लगा (न्यायखण्डखाद्य)।

आत्मा को देह परिमाण मानने वालों की युक्तियों का सार प्रस्तुत ग्रन्थ (गा० 1585 8) में दिया गया है अतः इस विषय में अधिक लिखना अनावश्यक है किन्तु एक बात का यहाँ उल्लेख करना अनिवार्य है। जो दर्शन आत्मा को व्यापक मानते हैं उनके मत में भी संसारी आत्मा के ज्ञान सुख दुःख इत्यादि गुण शरीर मर्यादित आत्मा में ही अनुभूत होते हैं शरीर के बाहर के आत्म प्रदेशों में नहीं। इस प्रकार संसारी आत्मा के अनुरूप आत्मा को व्यापक माना जाए अथवा शरीर प्रमाण किन्तु संसारावस्था तो शरीर मर्यादित आत्मा में ही है।

आत्मा को व्यापक स्वीकार करने वालों के मत में जीव की भिन्न भिन्न नारकादि गति सम्भव है किन्तु उनके अनुसार गति का अर्थ जीव का गमन नहीं है। वे मानते हैं कि वहाँ लिंग शरीर का गमन होता है और उसके बाद वहीं व्यापक आत्मा से नवीन शरीर का सम्बन्ध होता है। इसी को जीव की गति कहते हैं। इससे विपरीत देह परिमाणवादी जैनों की मान्यता के अनुसार जीव अपने कार्मण शरीर के साथ उन उन स्थानों में गमन करता है और नए शरीर

---

1 कौषीतकी 4 20
2 तैत्तिरीय 1 2
3 बृहद॰ 5 6 1
4 कठ 2 2 12
5 छान्दोग्य 5 18 1
6 कठ 1 2 20 छान्दो॰ 3 14 3 श्वेता॰ 3 20
7 [illegible] 10

की रचना करता है। जो व्यक्ति जीव को अणु-परिमाण मानते हैं उनके सिद्धान्तानुसार भी जीव लिंग शरीर के साथ में बद्ध गमन करता है और नए शरीर का निर्माण करता है। बौद्धों के मत में शक्ति का प्रश्न यह है कि मृत्यु के समय एक पुद्गल का निरोध होता है और उसी के कारण तत्काल नवीन पुद्गल उत्पन्न होता है। इसी को पुद्गल की गति कहते हैं।

उपनिषदों में भी कई दिन मृत्यु के समय जीव की गति अथवा गमन का वर्णन आता है। इससे ज्ञात होता है कि जीव की गति की मान्यता प्राचीनकाल से चली आ रही है[1]।

5 जीव की नित्यानित्यता

(अ) जैन और मीमांसक

उपनिषद् के 'विज्ञानघन' इत्यादि वाक्य की व्याख्या (गा० 1593-96) और बौद्ध सम्मत क्षणिक विज्ञान का निराकरण (गा० 1631) करते हुए तथा अन्यत्र (गा० 1843 1961) आत्मा को नित्यानित्य कहा गया है। चैतन्य द्रव्य की अपेक्षा से आत्मा नित्य है अर्थात् आत्मा कभी भी अनात्मा से उत्पन्न नहीं होता और न ही आत्मा किसी भी अवस्था में अनात्मा बनती है। इस दृष्टि से उसे नित्य कहते हैं। परन्तु आत्मा में ज्ञान विज्ञान की पर्याय अथवा अवस्थाएँ परिवर्तित होती रहती हैं अतः वह अनित्य भी है। यह स्पष्टीकरण जैन-दृष्टि के अनुसार है और मीमांसक कुमारिल को भी यह दृष्टि मान्य है[2]।

(आ) सांख्य का कूटस्थवाद

इस विषय में दार्शनिकों की परम्पराओं पर कुछ विचार करना आवश्यक है। सांख्य योग आत्मा को कूटस्थ नित्य मानता है अर्थात् उसमें किसी भी प्रकार का परिणाम या विकार इष्ट नहीं है। संसार और मोक्ष भी आत्मा के नहीं प्रत्युत प्रकृति के माने गए हैं (सां०का० 62)। सुख दुःख ज्ञान भी प्रकृति के धर्म हैं आत्मा के नहीं (सां० का० 11)। इस तरह वह आत्मा को सर्वथा अपरिणामी स्वीकार करता है। कर्तृत्व न होने पर भी भोग आत्मा में ही माना गया है[3]। इस भोग के आधार पर भी आत्मा में परिणाम की सम्भावना है अतः कुछ सांख्य भोग को भी वस्तुतः आत्मा का धर्म मानना उचित नहीं समझते[4]। इस प्रकार उन्होंने आत्मा के कूटस्थ होने की मान्यता की रक्षा का प्रयत्न किया है। सांख्य के इस वाद को कतिपय उपनिषद्-वाक्यों का आधार भी प्राप्त[5] है। अतः हम कह सकते हैं कि आत्म-कूटस्थवाद प्राचीन है।

(इ) नैयायिक वैशेषिकों का नित्यवाद

नैयायिक और वैशेषिक द्रव्य व गुणों को भिन्न मानते हैं। अतः उनके मत के अनुसार यह आवश्यक नहीं कि आत्म द्रव्य में ज्ञानादि गुणों को मानकर भी गुणों की अनित्यता के

---

1 छान्दोग्य 8 6 5

2 तत्त्वसं का० 223 227 श्लोकवा० आत्मवाद 23 30

3 सांख्यका० 17

4 सांख्यत० 17

5 कठ० 1 2 18 19

(ङ) बौद्ध मत

अनात्मवादी—अशाश्वतात्मवादी बौद्ध भी पुद्गल को कर्ता और भोक्ता मानते हैं। उनके मत में नाम रूप का समुदाय पुद्गल या जीव है। एक नाम रूप से दूसरा नाम रूप उत्पन्न होता है। जिस नाम रूप ने कर्म किया, वह तो नष्ट हो जाता है किंतु उससे दूसरे नाम रूप की उत्पत्ति होती है और वह पूर्वोक्त कर्म का भोक्ता होता है। इस प्रकार सन्तति की अपेक्षा से पुद्गल में कर्तृत्व और भोक्तृत्व पाए जाते हैं।

काश्यप ने संयुत्तनिकाय में भगवान बुद्ध से इस विषय में चर्चा की है। उसने भगवान से पूछा दुःख स्वकृत है? परकृत है? स्वपरकृत है? या अस्वपरकृत है? इन सब प्रश्नों का उत्तर भगवान् ने नकारात्मक दिया। तब काश्यप ने भगवान से प्रार्थना की कि वे इसका स्पष्टीकरण करें। भगवान ने उत्तर देते हुए कहा कि दुःख स्वकृत है इस कथन का अर्थ यह होगा कि जिसने किया वही उसे भोगेगा किंतु इससे आत्मा को शाश्वत मानना पड़ेगा। यदि दुःख को स्वकृत न मानकर परकृत माना जाए अर्थात् कर्म का कर्ता कोई और है तथा भोक्ता अन्य है यह कहा जाए तो इससे आत्मा का उच्छेद मानना पड़ेगा। किन्तु तथागत के लिए शाश्वतवाद और उच्छेदवाद दोनों ही अनिष्ट हैं। उसे प्रतीत्यसमुत्पादवाद मान्य है अर्थात् पूर्वकालीन नाम रूप या अन्त उत्तरकालीन नाम रूप की उत्पत्ति हुई। दूसरा पहले से उत्पन्न हुआ है अतः पहले द्वारा किए गए कर्म को भोगता है[1]।

यही बात राजा मिलिन्द को अनेक दृष्टान्तों द्वारा भदन्त नागसेन ने समझायी। उनमें एक दृष्टान्त यह था—एक व्यक्ति दीपक जलाकर घासफूस की झोंपड़ी में भोजन करने बैठा। अकस्मात् उस दीपक से झोंपड़ी में आग लग गई। वह आग क्रमशः बढ़ते बढ़ते सारे गांव में फैल गई और उससे सारा गांव जल गया। भोजन करने वाले व्यक्ति के दीपक से केवल झोंपड़ी ही जली थी किंतु उससे उत्तरोत्तर अग्नि का जो प्रवाह प्रारम्भ हुआ उसने सारे गांव को भस्म कर दिया। यद्यपि दीपक की अग्नि से परम्परा बद्ध उत्पन्न होने वाली अन्य अग्नियां भिन्न थीं तथापि यह माना जाएगा कि दीपक ने गांव जला डाला। अतः दीपक जलाने वाला व्यक्ति अपराधी माना जाएगा। यही बात पुद्गल के विषय में है। जिस पूर्व पुद्गल ने काम किया वह पुद्गल चाहे नष्ट हो जाय किंतु उसी पुद्गल के कारण नये पुद्गल का जन्म होता है और वह फल भोगता है। इस प्रकार कर्तृत्व और भोक्तृत्व सन्तति में सिद्ध हो जाते हैं और कोई कर्म अभुक्त नहीं रहता। जिसने कार्य किया उसी को सन्तति की दृष्टि से उसका फल मिल जाता[2] है। बौद्धों की यह कारिका सुप्रसिद्ध है —

'यस्मिन्नेव हि सन्ताने आहिता कर्मवासना।
फलं तत्रैव सधत्ते कार्पासे रक्तता यथा॥[3]

जिस सन्तान में कर्म की वासना का पुट दिया जाता है उसी में ही कपास की लाली के समान फल प्राप्त होता है।

---

1 संयुक्तनिकाय 12 17, 12 24 विसुद्धिमग्ग 17 168–174
2 मिलिन्दप्रश्न 2 31 पृ० 48 न्यायमंजरी पृ 443
3 स्याद्वादमंजरी में उद्धृत कारिका 18 न्यायमंजरी पृ 443

धम्मपद का निम्न कथन भी सन्तति की अपेक्षा से कर्तृत्व और भोक्तृत्व की मान्यता के अनुसार ही है अन्यथा नहीं। जो पाप है उसे आत्मा ने ही किया है, वह आत्मा से उत्पन्न हुआ है[1]। "पाप करने वाले को ही उसका फल भोगना पड़ता है"[2]। इस संसार में ऐसा स्थान नहीं जहाँ चले जाने से मनुष्य पाप के फल से बच जाए[3] इत्यादि।
बुद्ध ने अपने विषय में कहा है —

इत एकनवति कप्पे सत्त्या मे पुरिसो हतो ।
तेन कम्मविपाकेन पादे विद्धोऽस्मि भिक्खव ॥

आज से पूर्व 91वें कल्प में मैंने अपने बल से एक मनुष्य का वध किया था उस के विपाक के कारण आज मेरा पाँव घायल हुआ है। बुद्ध का यह कथन भी शाश्वत आत्मा की अपेक्षा से नहीं अपितु सन्तान की अपेक्षा से ही समझना चाहिए।

बौद्धों के मत के अनुसार कर्तृत्व का अर्थ भी समझ लेना चाहिए। कुशल अथवा अकुशल चित्त की उत्पत्ति ही कुशल या अकुशल कर्म का भी कर्तृत्व है। उनके मत में कर्ता और क्रिया भिन्न नहीं है, ये दोनों एक ही हैं। क्रिया ही कर्ता है और कर्ता ही क्रिया है। चित्त और उसकी उत्पत्ति में कुछ भी भेद नहीं है। यही बात भोक्तृत्व के विषय में भी है। भोग और भोक्ता भिन्न नहीं हैं। दुःख वेदना के रूप में चित्त की उत्पत्ति ही चित्त का भोक्तृत्व है। इसी लिए बुद्धघोष ने कहा है कि कर्म का कोई कर्ता नहीं और विपाक का कोई अनुभव करने वाला (वेदक) नहीं, केवल शुद्ध धर्मों की प्रवृत्ति है[4]।

(ई) जैन मत

जैन आगमों में भी जीव के कर्तृत्व और भोक्तृत्व का वर्णन है। उत्तराध्ययन के कम्मा णाणाविहा कट्टु (3.2)—अनेक प्रकार के कर्म करके, कडाण कम्माण न मोक्ख अत्थि (4.3, 13.10)—किए हुए कर्म का भोग बिना छुटकारा नहीं, कत्तारमेव अणुजाइ कम्मं (13.23)—कर्म कर्ता का अनुसरण करता है इत्यादि वाक्य असन्दिग्ध रूप से जीव के कर्तृत्व और भोक्तृत्व का वर्णन करते हैं। किन्तु जिस प्रकार उपनिषदों में जीवात्मा को कर्ता और भोक्ता मान कर भी परमात्मा को दोनों से रहित माना गया है उसी प्रकार जैनाचार्य कुन्दकुन्द ने जीव के कर्म कर्तृत्व और कर्म भोक्तृत्व को व्यावहारिक दृष्टि से माना है और यह भी स्पष्ट कथन किया है कि निश्चय दृष्टि से आत्मा कर्म का कर्ता भी नहीं और भोक्ता भी नहीं[5]। इस

---

1 अत्तना व कतं पापं अत्तजं अत्तसम्भवं—धम्मपद 161
2 धम्मपद 66
3 धम्मपद 127
4 विसुद्धिमग्ग 19.20 इस विषय में विशेष विचार 'भगवान् बुद्ध का अनात्मवाद' इस प्रकरण के अन्तर्गत किया गया है। न्यायावतार टि॰ पृ. 152 देखें।
5 समयसार 93-98 में देखें।

विषय को उपनिषद् की भाषा में इस प्रकार कह सकते हैं—संसारी जीव कर्म का कर्ता है किन्तु शुद्ध जीव कर्म का कर्ता नहीं है।

उपनिषदों के मतानुसार भी संसारी आत्मा और परमात्मा एक ही हैं और जनमत में भी संसारी जीव तथा शुद्ध जीव एक ही हैं। दोनों में यदि भेद है तो वह यही है कि उपनिषदों के अनुसार परमात्मा एक ही है और जैनमत में शुद्ध जीव अनेक हैं किन्तु जैनों द्वारा सम्मत संग्रहनय की अपेक्षा से यह भेद रेखा भी दूर हो जाती है। संग्रहनय का मत है कि शुद्ध जीव चैतन्य स्वरूप की दृष्टि से एक ही है। जब हम इस बात का स्मरण करते हैं कि भगवान् महावीर ने गौतम गणधर से कहा था कि भविष्य में हम एक सदृश होने वाले हैं तब निर्वाण अवस्था में अनेक जीवों का अस्तित्व मान कर भी अन्त और द्वैत दोनों बहुत निकट हैं ऐसा प्रतीत होता है[1]।

नैयायिक आदि आत्मा को एकान्त नित्य मान कर बौद्ध अनित्य मान कर तथा जैन मीमांसक और अधिकतर वेदान्ती उसे परिणामी नित्य मान कर उसमें कर्म के कर्तृत्व और भोक्तृत्व की सिद्धि करते हैं किन्तु इन सब के मतानुसार मोक्षावस्था में इन दोनों में से किसी का भी अस्तित्व नहीं है। जब हम इस बात का अपने ध्यान में रखते हैं तब ज्ञात होता कि सभी दर्शन एक ही उद्देश्य को सम्मुख रख कर प्रवृत्त हुए हैं और वह है—जीव को कर्मपाश से कैसे मुक्त किया जाए?

जिस प्रकार नित्यवादियों के समक्ष यह प्रश्न था कि कर्म कर्तृत्व और भोक्तृत्व की उत्पत्ति कैसे की जाए? उसी प्रकार यह भी समस्या थी कि नित्य आत्मा में जन्म मरण किस तरह होते हैं? इन्होंने इस समस्या का यह समाधान किया है कि आत्मा के जन्म का तात्पर्य उसकी उत्पत्ति नहीं है। शरीरेन्द्रिय आदि से सम्बन्ध का नाम जन्म है और उन से वियोग का नाम मृत्यु। इस प्रकार आत्मा के नित्य होने पर भी उसमें जन्म मरण होते[2] हैं।

7 जीव का बन्ध और मोक्ष

छट्ठे गणधर के साथ हुई चर्चा में बन्ध और मोक्ष तथा ग्यारहवें गणधर के साथ हुई चर्चा में निर्वाण पर ऊहापोह हुआ है। यद्यपि मोक्ष का ही दूसरा नाम निर्वाण है तदपि उसकी चर्चा दो बार हुई है। इसका कारण यह प्रतीत होता है कि छट्ठे गणधर के साथ हुए प्रश्नोत्तर में बन्ध-सापेक्ष मोक्ष की चर्चा है और मोक्ष सम्भव है या नहीं? मुख्यतः इस पर विचार किया गया है परन्तु निर्वाण सम्बन्धी चर्चा में निर्वाण के अस्तित्व के अतिरिक्त उसके स्वरूप पर मुख्यतः विचार किया गया है।

(क) मोक्ष का कारण

जीव के स्वतन्त्र अस्तित्व को मानने वाले सभी आस्तिक दर्शनों ने बन्ध और मोक्ष का स्वीकार किया ही है। इतना ही नहीं अपितु अनात्मवादी बौद्धों ने भी बन्ध-मोक्ष को

---

[1] भगवती 14 7

[2] न्यायभाष्य 1 1 19 4 1 10 न्यायवा० 3 1 4 3 1 19

विशुद्ध सत्त्व कहा गया है उसी को नागसेन ने विशुद्ध मनोविज्ञान कहा है। उपनिषदों में ब्रह्म दशा का निरूपण नेति नेति कह कर किया गया[1] है और इसी बात को पूर्वोक्त प्रकार से नागसेन ने कहा है। जो वस्तु अनुभव ग्राह्य हो उस का वर्णन सम्भव नहीं है और यदि किया भी जाए तो वह अधूरा रह जाता है अतः श्रेष्ठ मार्ग यही है कि यदि निर्वाण के स्वरूप का ज्ञान करना हो तो स्वयं उसका साक्षात्कार किया जाए। भगवान महावीर ने भी विशुद्ध आत्मा के विषय में कहा है कि वहाँ वाणी की पहुँच नहीं तर्क की गति नहीं बुद्धि अथवा मति भी वहाँ पहुँचने में असमर्थ है यह दीर्घ नहीं ह्रस्व नहीं गोल नहीं त्रिकोण नहीं कृष्ण नहीं नील नहीं स्त्री नहीं और पुरुष भी नहीं है। यह उपमा रहित है और अनिर्वचनीय है[2]। इस प्रकार भगवान महावीर ने भी उपनिषदों और बुद्ध के समान नेति नेति का ही आश्रय लेकर विशुद्ध अथवा मुक्त आत्मा का वर्णन किया है। इस मुक्तात्मा के स्वरूप का यथार्थ अनुभव उसी समय होता है जब वह देह मुक्त होकर मुक्ति प्राप्त कर।

ऐसी वस्तु स्थिति होने पर भी दार्शनिकों ने अवर्णनीय का भी वर्णन करने का प्रयत्न किया है। आचार्य हरिभद्र ने यह अभिप्राय प्रकट किया है कि यद्यपि उन वर्णनों में परिभाषाओं का भेद है तथापि तत्त्व में कोई अन्तर नहीं है। उन्होंने कहा है कि संसारातीत तत्त्व जिसे निर्वाण भी कहते हैं अनेक नामों से प्रसिद्ध है किन्तु तत्त्वतः एक[3] ही है। इसी एक तत्त्व के ही सदाशिव परमब्रह्म सिद्धात्मा तथता आदि नाम चाहे भिन्न भिन्न हों परन्तु वह तत्त्व एक ही है[4]। इसी बात को आचार्य कुन्दकुन्द ने भी कहा है। उन्होंने कर्म विमुक्त परमात्मा के ये पर्याय कहे हैं—ज्ञानी शिव परमेष्ठी सर्वज्ञ विष्णु चतुर्मुख बुद्ध परमात्मा। इससे भी ज्ञात होता है कि परम तत्त्व एक ही है नामों में भेद हो सकता है[5]।

इस प्रकार ध्येय की दृष्टि से भले ही निर्वाण में भेद नहीं है किन्तु दार्शनिकों ने जब उसका वर्णन किया तब उसमें अन्तर पड़ गया और उस अन्तर का कारण दार्शनिकों की पृथक् पृथक् तत्त्व-व्यवस्था है। इस तत्त्व व्यवस्था में जैसा भेद है वैसा ही निर्वाण के वर्णन में दृष्टिगोचर होना स्वाभाविक है। उदाहरणतः न्याय-वैशेषिक आत्मा और उसके ज्ञान सुखादि गुणों को भिन्न भिन्न मानते हैं और आत्मा में ज्ञानादि की उत्पत्ति को शरीर पर आश्रित मानते हैं। अतः यदि मुक्ति में शरीर का अभाव हो जाता हो तो न्याय वैशेषिकों को यह स्वीकार करना पड़ा कि मुक्तात्मा में ज्ञान सुखादि गुणों का भी अभाव होता है। यही कारण है कि उन्होंने यह बात मानी कि मुक्ति में आत्मा के ज्ञान सुखादि गुणों की सत्ता नहीं रहती केवल विशुद्ध चैतन्य तत्त्व शेष रहता है[6]। इसी का नाम मुक्ति है। जीवात्मा को मुक्ति में ज्ञान सुखादि से

---

1 बृहदा 4 5 15

2 आचारांग सू० 170

3 संसारातीततत्त्वं तु परं निर्वाणसंज्ञितम्। तद्ध्येकमेव नियमात् शब्दभेदेऽपि तत्त्वतः ॥ योगदृष्टिसमुच्चय 129

4 सदाशिवः परंब्रह्म सिद्धात्मा तथतेति च। शब्दैस्तदुच्यतेऽन्वर्थाद् एकमेवैवमादिभिः ॥ योगदृष्टि० 130 षोडशक 16 1-4

5 भावप्राभृत 149

6 न्यायभाष्य 1 1 21 न्यायमंजरी पृ 508

मुक्तात्मा के विशुद्ध चैतन्य स्वरूप में प्रतिष्ठित रहने की मान्यता के विषय में जहाँ सांख्य योग न्याय वैशेषिक एकमत हैं वहाँ जैन भी इस मत से सहमत हैं।

इस सामान्य मान्यता के विषय में सबका एकमत है कि मुक्तात्मा विशुद्ध चैतन्य स्वरूप में प्रतिष्ठित रहती है किन्तु विचारों में जो किंचित मतभेद है उसका उल्लेख भी आवश्यक है। उपनिषदों में ब्रह्म को चैतन्यस्वरूप के साथ-साथ आनन्द रूप भी माना है। नैयायिकों ने ईश्वर में तो आनन्द का अस्तित्व स्वीकार किया है किन्तु मुक्तात्मा में नहीं। बौद्धों ने निर्वाण में आनन्द की सत्ता स्वीकृत की है। जैनों ने आनन्द के अतिरिक्त नैयायिकों के ईश्वर के समान शक्ति अथवा वीर्य भी स्वीकार किया है। जैनों ने चैतन्य का अर्थ ज्ञान दर्शन शक्ति किया है किन्तु नैयायिक-वैशेषिक मत में मुक्तात्मा में ज्ञान दर्शन नहीं होते। सांख्य मत में चितशक्ति पुरुष में है फिर भी उसमें ज्ञान नहीं होता किन्तु द्रष्टृत्व होता है। इन सभी मतभेदों का समन्वय असम्भव नहीं है।

जब हम इस विषय पर विचार करते हैं कि मुक्तात्मा में आनन्द का ज्ञान से पृथक क्या स्वरूप है? तब यही निष्कर्ष निकलता है कि आनन्द भी ज्ञान का ही एक पर्याय है। जैनाचार्यों ने इसे स्पष्ट रूप से स्वीकार किया[1] है। बौद्ध दार्शनिकों ने भी ज्ञान और सुख को सर्वथा भिन्न नहीं माना है। वेदान्त मत में भी एक अखण्ड ब्रह्म-तत्त्व में ज्ञान आनन्द चैतन्य इन सबका वस्तुतः भेद करना अद्वैत के विरोध के समान ही है। नैयायिक चैतन्य और ज्ञान में भेद का वर्णन करते हैं परन्तु जब हम यह देखते हैं कि उन्होंने नित्य मुक्त ईश्वर में नित्य ज्ञान स्वीकार किया है तब हम यह मानना पड़ता है कि वे इस भेद को सर्वथा अभिन्न नहीं रख सके। पुनश्च मुक्तात्मा चेतन होकर भी ज्ञानहीन हो तो इस चैतन्य का स्वरूप भी एक समस्या का रूप धारण कर लेता है। यहाँ यदि हम याज्ञवल्क्य द्वारा मैत्रेयी के प्रति कहे गए इस कथन पर कि "न प्रेत्य संज्ञा अस्ति—मृत्यु के बाद उसकी कोई संज्ञा नहीं होती"—सूक्ष्म दृष्टि से विचार करें तो इसका समाधान हो जाता है। यह ऐसी अवस्था है जिसका नामकरण नहीं किया जा सकता। यदि इसे ज्ञान कहा जाए तो ज्ञान के विषय में साधारण जनों का जो विचार है वही उनके मन में स्थान प्राप्त करेगा अर्थात इन्द्रियों अथवा मन के द्वारा होने वाला ज्ञान। परन्तु मुक्तात्मा में इन साधनों का अभाव होता है अतः उसके ज्ञान को ज्ञान कैसे माना जाए? आत्मा स्वयं प्रतिष्ठित है वह बाहर क्या देखे? बहिर्वृत्ति क्या बने? और यदि आत्मा बहिर्वृत्ति नहीं होता तो उसे ज्ञानी कहने की अपेक्षा चैतन्यघन कहना अधिक उपयुक्त है। नैयायिकों ने ज्ञान की व्याख्या इस प्रकार की है—आत्मा का मन के साथ सन्निकर्ष होता है और फिर इन्द्रिय के साथ तथा उस के द्वारा बाह्य पदार्थ के साथ सन्निकर्ष होता है तब ज्ञान की उत्पत्ति होती है। ज्ञान की इस व्याख्या के अनुसार यह बात स्वाभाविक है कि नैयायिक मुक्तावस्था में ज्ञान की सत्ता न मानें। अर्थात उनकी ज्ञान की परिभाषा ही भिन्न है। परिभाषा के भेद के कारण तत्त्वों में कुछ भी भेद नहीं पड़ता। अन्यथा नैयायिकों के मत में जड़ पदार्थ और चैतन्य-पदार्थ में क्या भेद रह जाएगा? अतः यह बात माननी पड़ेगी कि जड़ से भेद

---

1 सर्वार्थसिद्धि 10.4

कराने वाला आत्मा में कोई तत्त्व अवश्य है जिसके आधार पर नैयायिकों ने उसे चेतन माना है। उस तत्त्व का नाम चैतन्य है। आत्मा को ज्ञाता मानने के विषय में उनका किसी भी दार्शनिक से मतभेद ही नहीं है केवल उनकी ज्ञान की परिभाषा अलग है अतः उन्होंने ज्ञान रूप में चैतन्य का बोध कराना उचित नहीं समझा। वेदान्ती जब अधिक सूक्ष्म विचार करने लगे तब वे चैतन्य को चतुर्थ शब्द में प्रतिपादित करने के लिए उद्यत हुए और नेति नेति कहकर उसका वर्णन करने लगे। यह बात लिखी जा सकती है कि माध्यमिकों ने भी ऐसा ही किया। भाषा की शक्ति इतनी सीमित है कि वह परम तत्त्व के स्वरूप का यथार्थ वर्णन कर ही नहीं सकती क्योंकि विचारकों ने उन भिन्न भिन्न शब्दों की परिभाषा अनेक प्रकार से की है अतः उन उन शब्दों का प्रयोग करने से वस्तु का स्पष्टीकरण नहीं हो पाता। इसके विपरीत कई बार अधिक उलझनें पैदा हो जाती हैं।

मुक्तात्मा में शक्ति का पृथक् रूप से स्वीकार करने पर यह प्रश्न उत्पन्न हुआ कि शक्ति क्या है? इस पर विचार करते हुए आचार्यों ने कह दिया कि शक्ति के अभाव में अनन्त ज्ञान की उत्पत्ति नहीं होती अतः ज्ञान में ही उसका समावेश कर लेना चाहिए[1]।

(उ) मुक्ति स्थान

जो दर्शन आत्मा को व्यापक मानते हैं उनके मत में मुक्ति स्थान की कल्पना अनावश्यक थी। आत्मा जहाँ है वहीं है केवल उसका मल दूर हो जाता है। उसे अन्यत्र जाने की आवश्यकता नहीं है। फिर प्रश्न यह है कि जब वह सर्व व्यापक है तब उसका गमन कहाँ हो? किन्तु जैनदर्शन बौद्धदर्शन और जीवात्मा को अणुरूप मानने वाले भक्तिमार्गी वेदान्तदर्शन के सम्मुख मुक्ति स्थान विषयक समस्या का उपस्थित होना स्वाभाविक था। जैनों ने यह बात मानी है कि ऊर्ध्वलोक के अग्रभाग में मुक्तात्मा का गमन होता है और सिद्धशिला नामक भाग में हमेशा के लिए उसकी अवस्थिति रहती है। भक्तिमार्गी वेदान्ती मानते हैं कि विष्णु भगवान के विष्णुलोक में जो ऊर्ध्वलोक है वहाँ मुक्त जीवात्मा का गमन होता है और उस परब्रह्मरूप भगवान विष्णु का हमेशा के लिए सान्निध्य प्राप्त होता है। बौद्धों ने इस प्रश्न का निराकरण दूसरे प्रकार से किया है। उनके मत में जीव या पुद्गल कोई शाश्वत द्रव्य नहीं है अतः वे पुनर्जन्म के समय एक जीव का अन्यत्र गमन नहीं मानते किन्तु वे एक स्थान में एक चित्त का निरोध और उसकी अपेक्षा से अन्यत्र नए चित्त की उत्पत्ति स्वीकार करते हैं। यह कहने की आवश्यकता नहीं कि इसी सिद्धान्त के अनुरूप मुक्त चित्त के विषय में भी सिद्धान्त निश्चित किया जाय।

राजा मिलिन्द ने आचार्य नागसेन से पूछा कि पूर्वादि दिशाओं में ऐसा कौनसा स्थान है जिसके निकट निर्वाण की स्थिति है? आचार्य ने उत्तर दिया कि निर्वाण स्थान कहीं किसी दिशा में अवस्थित नहीं है जहाँ जा कर मुक्तात्मा निवास करे। तो फिर निर्वाण कहाँ प्राप्त होता है? जिस प्रकार समुद्र में रत्न फूल में गंध खेत में धान्य आदि का स्थान नियत है उसी

---

1 सर्वार्थसिद्धि 10 4

प्रकार निर्वाण का भी कोई निश्चित स्थान होना चाहिए। यदि उसका कोई ऐसा स्थान नही है तो फिर यह क्या नहीं कहते कि निर्वाण भी नहीं है ? इस आक्षेप का उत्तर देते हुए नागसेन ने कहा कि निर्वाण का कोई नियत स्थान न होने पर भी उसकी सत्ता है। निर्वाण कहीं बाहर नहीं है, अपने विशुद्ध मन में इसका साक्षात्कार करना पड़ता है। यदि कोई यह प्रश्न करे कि जलने से पहले अग्नि कहाँ है ? तो उसे अग्नि का स्थान नहीं बताया जा सकता किन्तु जब दो लकड़ियां मिलती हैं तब अग्नि प्रकट होती है। उसी प्रकार विशुद्ध मन से निर्वाण का साक्षात्कार हो सकता है किन्तु उसका स्थान बताना शक्य नहीं है। यदि यह मान भी लिया जाए कि निर्वाण का नियत स्थान नहीं है तो भी ऐसा कोई निश्चित स्थान अवश्य होना चाहिए जहाँ अवस्थित रह कर पुद्गल निर्वाण का साक्षात्कार कर सके। इस प्रश्न के उत्तर में नागसेन ने कहा कि पुद्गल शील में प्रतिष्ठित होकर किसी भी आकाश प्रदेश में रहते हुए निर्वाण का साक्षात्कार कर सकता है[1]।

(अ) जीवन्मुक्ति—विदेहमुक्ति

आत्मा से मोह दूर हो जाए और वह वीतराग बन जाए तब शरीर तत्काल अलग हो जाता है अथवा नहीं ? इस प्रश्न के उत्तर के फलस्वरूप मुक्ति की कल्पना दो प्रकार से की गई—जीवन्मुक्ति और विदेहमुक्ति। राग द्वेष का अभाव हो जाने पर भी जब तक आयुकर्म का विपाक फल पूर्ण न हुआ हो तब तक जीव शरीर में रहता है अथवा उसके साथ शरीर सम्बद्ध रहता है। किन्तु संसार या पुनर्जन्म के कारणभूत अविद्या और राग द्वेष के नष्ट हो जाने पर आत्मा में नये शरीर को ग्रहण करने की शक्ति नहीं रहती अतः ऐसी आत्मा का प्राणधारण रूप जीवन जारी रहने पर भी वह मोह राग द्वेष से मुक्त होने के कारण जीवन्मुक्त कहलाती है। जब उसका शरीर भी पृथक् हो जाता है तब उसे विदेहमुक्त अथवा केवल मुक्त कहते हैं।

विद्वानों की मान्यता है कि उपनिषदों में जीवन्मुक्ति के उपरान्त क्रममुक्ति का सिद्धान्त भी प्रतिपादित किया गया है। इस बात का दृष्टान्त कठोपनिषद् से दिया जाता है। उसमें लिखा है कि उत्तरोत्तर उन्नतलोक में आत्म प्रत्यक्ष क्रमशः विशद और विशदतर होता जाता है। इससे ज्ञात होता है कि इस उपनिषद् में क्रममुक्ति का उल्लेख है—अर्थात् आत्म साक्षात्कार क्रमिक होता है। दूसरे दर्शनों में मान्य आत्म विकास के क्रम की इससे तुलना की जा सकती है। जैनों ने उसे गुणस्थान क्रमारोह कहा है और बौद्धों ने उसे योगचर्या की भूमि का नाम दिया है। वैदिक दर्शन में इसी वस्तु को भूमिका कहा गया है।

उपनिषदों में जीवन्मुक्ति का सिद्धान्त भी उपलब्ध होता है। इसी कठोपनिषद् में आगे जाकर लिखा है कि जब मनुष्य के हृदय में रही हुई सभी कामनाएँ नष्ट हो जाती हैं तब वह अमर बन जाता है और यहां ब्रह्म की प्राप्ति कर लेता है। जब यहाँ हृदय की सभी गाँठें टूट जाती हैं तब मनुष्य अमर हो जाता है[3]।

---

1 मिलिन्दप्रश्न 4 8 92–94

2 कठ 2 3 5

3 कठ॰ 2 3 14–15 मुण्डक 3 2 6 बृहदा॰ 4 4 6–7

निर्वाण सम्बन्धी चर्चा में भी यह प्रतिपादित किया गया है कि अनादि कर्म संयोग का नाश ही निर्वाण है। इस प्रकार भिन्न भिन्न गणधरों के साथ होने वाले वादों में कर्म चर्चा विविध रूप से प्रसंगात सामने आई है। चौथे गणधर की चर्चा में शून्यवाद के प्रकरण में भी आनुषंगिक रूप में कर्म चर्चा का सम्बन्ध है क्योंकि उसमें शून्यवादी सम्मत भूतों का निराकरण करते हैं। जैन मत में कर्म भौतिक हैं अतः इस चर्चा के साथ भी कर्म चर्चा आनुषंगिक रूप से सम्बन्धित है। सातवें व आठवें गणधरों की चर्चा में क्रमशः देवों और नारकियों की चर्चा है। उसका अभिप्राय भी यही है कि शुभ कर्म के फलस्वरूप देवत्व और अशुभ कर्म के फलस्वरूप नारकत्व की प्राप्ति होती है। इस प्रकार प्राय समस्त गणधरवाद में कर्म चर्चा को पर्याप्त महत्त्व मिला है। अतः अब कर्म के विषय में विचार करना उचित है।

(1) कर्म विचार का मूल

यह तो नहीं कहा जा सकता कि वैदिक काल के ऋषियों को मनुष्यों में तथा अन्य अनेक प्रकार के पशु पक्षी एवं कीट पतंगों में विद्यमान विविधता का अनुभव नहीं हुआ होगा। किन्तु ऐसा प्रतीत होता है कि उन्होंने इस विविधता का कारण अन्तरात्मा में ढूंढने की अपेक्षा उसे बाह्य-तत्त्व में मानकर ही सन्तोष कर लिया था।

किसी ने यह कल्पना की कि सृष्टि की उत्पत्ति का कारण एक अथवा अनेक भौतिक तत्त्व हैं किंवा प्रजापति जैसा तत्त्व सृष्टि की उत्पत्ति का कारण है किन्तु इस सृष्टि में विविधता का आधार क्या है? इसके स्पष्टीकरण का प्रयत्न नहीं किया गया। जीव-सृष्टि के अन्य वर्गों की बात छोड़ भी दें तो भी केवल मानव सृष्टि में शरीरादि की, सुख दुःख की, बौद्धिक शक्ति अशक्ति की जो विविधता है उसके कारण की विशेष प्रयत्न पूर्वक शोध की गई हो ऐसा ज्ञात नहीं होता। वैदिक काल का समस्त तत्त्व ज्ञान क्रमशः देव और यज्ञ को केन्द्र बिन्दु बनाकर विकसित हुआ। सर्वप्रथम अनेक देवों की और तत्पश्चात प्रजापति के समान एक देव की कल्पना की गई। सुखी होने के लिए अथवा अपने शत्रुओं का नाश करने के लिए मनुष्य को चाहिए कि वह उस देव अथवा उन देवों की स्तुति करे सजीव अथवा निर्जीव अपनी इष्ट वस्तु को यज्ञ कर उसे समर्पित करे। इससे देव सन्तुष्ट होकर मनोकामना पूर्ण करते हैं। यह मान्यता वेदों से लेकर ब्राह्मण काल तक विकसित होती रही। देवों को प्रसन्न करने के साधन भूत यज्ञ कर्म का क्रमिक विकास हुआ और धीरे धीरे इसका रूप इतना जटिल हो गया कि यदि साधारण व्यक्ति यज्ञ करना चाहे तो यज्ञ कर्म में निष्णात पुरोहितों की सहायता के बिना इसकी सम्भावना ही नहीं थी। इस प्रकार वैदिक ब्राह्मणों का समस्त तत्त्वज्ञान देव तथा उसे प्रसन्न करने के साधन यज्ञ कर्म की सीमा में विकसित हुआ।

ब्राह्मण-काल के पश्चात रचित उपनिषद् भी वेदों और ब्राह्मणों का अन्तिम भाग होने के कारण वैदिक-साहित्य के ही अंग हैं और उन्हें वेदान्त कहते हैं। किन्तु इनसे पता चलता है कि वेद-परम्परा प्रधान देव तथा यज्ञ-परम्परा का सम्बन्ध निकट ही था। इनमें ऐसे नवीन विचार उपलब्ध होते हैं जो वेद व ब्राह्मण-ग्रन्थों में नहीं थे। उनमें संसार और कर्म अदृष्ट विषयक नूतन विचार भी प्राप्त होते हैं। ये विचार वैदिक परम्परा के ही उपनिषदों में कहाँ

कम में है। वदिकों ने देवों के स्थान पर यज्ञ कर्म को प्रामीन कर लिया। देव और कुछ नहीं वेद के मन्त्र ही देव हैं। इस यज्ञ कर्म के समर्थन में ही अपने को कृत-कृत्य मानने वाली दार्शनिक-काल की मीमांसक विचारधारा ने तो यथाविधि कर्म से उत्पन्न होने वाले अपूर्व नाम के पदार्थ की कल्पना कर वदिक दर्शन में देवों के स्थान पर अदृष्ट-कर्म का ही साम्राज्य स्थापित कर दिया।

यदि हम इस समस्त इतिहास को दृष्टि-सम्मुख रखें तो वदिकों पर जैन परम्परा के कर्मवाद का व्यापक प्रभाव स्पष्टतः प्रतीत होता है। वदिक परम्परा में मान्य वेद और उपनिषदों तक की सृष्टि प्रक्रिया के अनुसार जड़ और चेतन सृष्टि अनादि न होकर सादि है। यह भी माना गया था कि वह सृष्टि किसी एक या किन्हीं अनेक जड़ अथवा चेतन-तत्त्वों से उत्पन्न हुई है। इससे विपरीत कर्म सिद्धान्त के अनुसार यह मानना पड़ता है कि जड़ अथवा जीव सृष्टि अनादि काल से चली आ रही है। यह मान्यता जैन परम्परा के मूल में ही विद्यमान है। उसके अनुसार किसी ऐसे समय की कल्पना नहीं की जा सकती जब जड़ और चेतन का क्रम पर आश्रित अस्तित्व न रहा हो। यही नहीं उपनिषदों के अन्य तत्कालीन समस्त वदिक मतों में भी संसारी जीव का अस्तित्व इसी प्रकार अनादि स्वीकार किया गया है। यह कर्म तत्त्व की मान्यता की ही देन है। कर्म तत्त्व की कुञ्जी इस सूत्र से प्राप्त होती है कि जन्म का कारण कर्म है और इसी सिद्धान्त के आधार पर संसार के अनादि होने की कल्पना की गई है। अनादि संसार के जिस सिद्धान्त को बाद में सभी वदिक-दर्शनों ने स्वीकार किया वह इन दर्शनों की उत्पत्ति के पूर्व ही जैन एवं बौद्ध परम्परा में विद्यमान था। किन्तु वेद अथवा उपनिषदों में इस सर्वसम्मत सिद्धान्त के रूप में स्वीकृत नहीं किया गया। इसी से पता चलता है कि इस सिद्धान्त का मूल वेद बाह्य परम्परा में है। यह वदेतर परम्परा भारत में आर्यों के आगमन से पहले के निवासियों की ही है और उनकी इन मान्यताओं का ही सम्पूर्ण विकास वर्तमान जैन परम्परा में उपलब्ध होता है।

जैन परम्परा प्राचीन काल में ही कर्मवादी है। इसमें देववाद का कभी भी स्थान प्राप्त नहीं हुआ। अतः कर्मवाद की जैसी व्यवस्था जैन-ग्रन्थों में दृष्टिगोचर होती है वैसी विस्तृत व्यवस्था अन्यत्र दुर्लभ है। अनेक जीवों के उन्नत और अवनत जितने भी प्रकार सम्भव हैं और एक ही जीव की आध्यात्मिक दृष्टि से संसार की निकृष्टतम अवस्था से लेकर उसके विकास के जितने भी सोपान हैं उन सबमें कर्म का क्या प्रभाव है तथा इस दृष्टि से कर्म की कैसी विविधता है इन सब बातों का प्राचीन काल से ही विस्तृत शास्त्रीय निरूपण जैसा जैन शास्त्रों में है वैसा अन्यत्र दृग्गोचर होना शक्य नहीं है। इससे स्पष्ट है कि कर्म विचार का विकास जैन परम्परा में हुआ है और इसी परम्परा में उस व्यवस्थित रूप प्राप्त हुआ है। जैनों के इन विचारों के स्फुलिंग अन्यत्र पहुँचे और इसी के कारण दूसरों की विचारधारा में भी नतन तेज प्रकट हुआ।

वदिक विचारक यज्ञ की क्रिया के चारों ओर ही सारा वर्णन करते हैं। जैन उन की मौलिक विचारणा का स्तम्भ यज्ञ क्रिया है वैसे ही जैन विचारों का समस्त विचारणा कर्म पर आधारित है अतः इनकी मौलिक विचारणा का नाम कर्मवाद है।

जब देवताओं ब्राह्मणों का कर्मकाण्डियों से सम्पर्क हुआ तब देवता के स्थान पर ही कर्मवाद को प्राधान्य दिया गया होगा। जिस प्रकार पहले याज्ञ क्रिया को एक स्थान में विचार करने योग्य माना गया था उसी प्रकार कर्म क्रिया को भी स्वतन्त्र गुण और उसका मननीय स्वीकार किया गया होगा। जिस प्रकार याज्ञ क्रिया के कारण यज्ञ से लोगों की श्रद्धा हटने लगी थी उसी प्रकार कर्म क्रिया के कारण ऐसी श्रद्धा क्षीण होने लगी। इसी प्रकार के क्रिया कारणवश याज्ञवल्क्य जैसे आर्तभाग को एकान्त में ले जाते हैं और उसे कर्म का रहस्य समझाते हैं। उस समय कर्म की प्रशंसा करते हुए वे कहते हैं कि पुण्य करने से मनुष्य श्रेष्ठ बनता है और पाप करने से निकृष्ट[1]।

वैदिक परम्परा में यज्ञ कर्म तथा देव दोनों की मान्यता थी। जब देव की अपेक्षा कर्म का महत्त्व अधिक माना जाने लगा तब यज्ञ का समर्थन करने वालों ने यज्ञ और कर्मवाद का समन्वय कर यज्ञ को ही देव बना दिया और वे यह मानने लगे कि यज्ञ ही कर्म है तथा इसी से सब फल मिलते हैं। दार्शनिक व्यवस्था-काल में इन लोगों की परम्परा का नाम मीमांसा दर्शन पड़ा। किन्तु वैदिक परम्परा में कर्म के विकास के साथ साथ देवों की विचारणा का भी विकास हुआ था। ब्राह्मण काल में प्राचीन अनेक देवों के स्थान पर एक प्रजापति को देवाधिदेव माना जाने लगा। जिन लोगों की श्रद्धा इस देवाधिदेव पर अटल रही उनकी परम्परा में भी कर्मवाद को स्थान प्राप्त हुआ और उन्होंने भी प्रजापति तथा कर्मवाद का समन्वय अपने ढंग से किया है। वे मानते हैं कि जीव को अपने कर्मानुसार फल तो मिलता है किन्तु उस फल को देने वाला देवाधिदेव ईश्वर है। ईश्वर जीवों के कर्मानुसार उन्हें फल देता है अपनी इच्छा से नहीं। इस समन्वय को स्वीकार करने वाले वैदिक दर्शनों में न्याय वैशेषिक वेदान्त और उत्तरकालीन सेश्वर सांख्य दर्शन का समावेश है।

वैदिक परम्परा के लिए अदृष्ट अथवा कर्म विचार नवीन है और बाहर से उसका आयात हुआ है। इस बात का एक प्रमाण यह भी है कि वैदिक लोग पहले आत्मा की शारीरिक मानसिक और वाचिक क्रियाओं को ही कर्म मानते थे। तत्पश्चात् वे यज्ञादि बाह्य अनुष्ठानों को भी कर्म कहने लगे। किन्तु ये अस्थायी अनुष्ठान स्वयमेव फल कैसे दे सकते हैं? उनका तो उसी समय नाश हो जाता है अतः किसी माध्यम की कल्पना करनी चाहिए। इस आधार पर मीमांसा दर्शन में अपूर्व नाम के पदार्थ की कल्पना की गई। यह कल्पना वेद में अथवा ब्राह्मणों में नहीं है। यह दार्शनिक-काल में ही दिखाई देती है। इससे भी सिद्ध होता है कि अपूर्व के समान अदृष्ट पदार्थ की कल्पना मीमांसकों की मौलिक देन नहीं परन्तु इतर प्रभाव का परिणाम है।

इसी प्रकार वैशेषिक सूत्रकार ने अदृष्ट (धर्माधर्म) के विषय में सूत्र में उल्लेख अवश्य किया है किन्तु उस अदृष्ट की व्यवस्था उसके टीकाकारों ने ही की है। वैशेषिक सूत्रकार ने यह नहीं बताया कि अदृष्ट—धर्माधर्म क्या वस्तु है? इसीलिए प्रशस्तपाद को उसकी व्यवस्था करनी पड़ी और उन्होंने उसका समावेश गुण पदार्थ में किया। सूत्रकार ने अदृष्ट को

1 बृहदा० 3-2-13

स्वतन्त्र पुरुषत्वेन प्रतिपादित नहीं किया फिर भी इस मान्यता का मूल क्यों माना जाए ? इस बात का स्पष्टीकरण प्रशस्तपाद ने किया है[1]। इससे प्रमाणित होता है कि वैशेषिकों की पदार्थ व्यवस्था में अदृष्ट एक महान् तत्त्व है।

इस प्रकार वैदिकों ने यज्ञ अथवा देवाधिदेव के साथ अदृष्ट-कर्मवाद का मेल बैठा दिया है। किन्तु दार्शनिक विद्वान् यज्ञ के अतिरिक्त अन्य कर्मों के विषय में विचार नहीं कर सके और ईश्वरवादी भी ईश्वर की सिद्धि के लिए जितनी शक्ति का व्यय करते रहे उतनी वे कर्मवाद के रहस्य का उद्घाटन करने में नहीं लगा सके। अतः कर्मवाद मूल रूप में जिस परम्परा का था उसी ने उस वाद पर यथार्थ विचार कर उसकी शास्त्रीय व्यवस्था की। यही कारण है कि कर्म की जैसी शास्त्रीय व्यवस्था जैनशास्त्रों में है वैसी अन्यत्र उपलब्ध नहीं होती। अतः यह स्वीकार करना पड़ता है कि कर्मवाद का मूल जैन परम्परा में और उसके पूर्वकालीन श्रमणिकों में है।

अब कर्म के स्वरूप का विशेष वर्णन करने से पहले यह उचित होगा कि कर्म के स्थान में जिन विविध कारणों की कल्पना की गई है उन पर किंचित् विचार कर लिया जाए। उसके बाद उसी के सम्बन्ध में कर्म का विवेचन किया जाए।

(2) कालवाद

विश्व-सृष्टि का कोई न कोई कारण होना चाहिए इस बात का विचार वैदिक-परम्परा में विविध रूप में हुआ है। किन्तु प्राचीन ऋग्वेद से यह प्रकट नहीं होता कि उस समय विश्व की विचित्रता—जीव सृष्टि की विचित्रता के निमित्त कारण पर भी विचार किया गया हो। इस विषय का सर्वप्रथम उल्लेख श्वेताश्वतर (1 2) में उपलब्ध होता है। उसमें काल स्वभाव नियति यदृच्छा भूत और पुरुष इन में से किसी एक को मानने अथवा सबके समुदाय को मानने वाले वादों का प्रतिपादन है। इससे ज्ञात होता है कि उस समय विचारक कारण की खोज में तत्पर हो गए थे और विश्व की विचित्रता की व्याख्या विविधरूप से करते थे। इन वादों में कालवाद का मूल प्राचीन मालूम होता है। अथर्ववेद में एक कालसूक्त है जिसमें कहा है कि —

काल ने पृथ्वी को उत्पन्न किया काल के आधार पर सूर्य तपता है काल के आधार पर ही समस्त भूत रहते हैं काल के कारण ही आँख देखती है काल ही ईश्वर है वह प्रजापति का भी पिता है इत्यादि[2]। इसमें काल को सृष्टि का मूल कारण मानने का सिद्धान्त है। किन्तु महाभारत में मनुष्यों की तो बात ही क्या समस्त जीव-सृष्टि के सुख दुःख जीवन मरण इन सब का आधार काल माना गया है। इस प्रकार महाभारत में भी एक ऐसे पक्ष का उल्लेख मिलता है जो काल को विश्व की विचित्रता का मूल कारण मानता था। उसमें यहाँ तक कहा गया है कि कर्म अथवा यज्ञ यागादि अथवा किसी पुरुष द्वारा मनुष्यों को सुख दुःख नहीं मिलता किन्तु मनुष्य काल द्वारा ही सब कुछ प्राप्त करता है। समस्त कार्यों में समानरूप से

---

1 प्रशस्तपाद पृ 47 637 643

2 अथर्ववेद 19 53 54

काल ही कारण है इत्यादि[1]। प्राचीन काल में काल का इतना महत्त्व होने के कारण ही दार्शनिक काल में नैयायिक आदि चिन्तकों को इसके लिए प्रेरित किया कि अन्य ईश्वरादि कारणों के साथ काल को भी साधारण कारण माना जाए।

(3) स्वभाववाद

उपनिषद् में स्वभाववाद का उल्लेख है[3]। जो कुछ होता है वह स्वभाव से ही होता है। स्वभाव के अतिरिक्त कर्म या ईश्वर रूप कोई कारण नहीं है, यह बात स्वभाववादी कहते थे। बुद्ध चरित में स्वभाववाद का निम्न उल्लेख है। कौन कांटे को तीक्ष्ण करता है? अथवा पशु पक्षियों की विचित्रता क्यों है? इन सब बातों की प्रवृत्ति स्वभाव के कारण ही है। इसमें किसी की इच्छा अथवा प्रयत्न का अवकाश ही नहीं है[4]। गीता और महाभारत में भी स्वभाववाद का उल्लेख है[5]। माठर और न्यायकुसुमांजलिकार ने स्वभाववाद[6] का खंडन किया है और अन्य अनेक दार्शनिकों ने भी स्वभाववाद का निषेध किया है। प्रस्तुत ग्रन्थ में भी अनेक बार इस वाद का निराकरण किया गया है।

(4) यदृच्छावाद

श्वेताश्वतर में यदृच्छा को कारण मानने वालों का भी उल्लेख है। इससे विदित होता है कि यह वाद भी प्राचीन काल से प्रचलित था। इस वाद का मन्तव्य यह है कि किसी भी नियत कारण के बिना ही कार्य की उत्पत्ति हो जाती है। यदृच्छा शब्द का अर्थ अकस्मात् है[8]। अर्थात् किसी भी कारण के बिना। महाभारत में भी यदृच्छावाद का उल्लेख है[9]। न्यायसूत्रकार ने इसी वाद का उल्लेख यह लिख कर दिया है कि अनिमित्त—निमित्त के

---

1 महाभारत शांतिपर्व अध्याय 25, 28, 32, 33 आदि।
2 अशक्तोऽनेकः कार्ये जगतामाद्यो मतः। न्यायसिद्धान्तमुक्तावलिका० 45 कालवाद के निराकरण के लिए शास्त्र वार्ता समुच्चय श्लो० 252 5 माठरवृत्तिका० 61
3 श्वेता० 1.2
4 बुद्ध चरित 5[illegible]
5 भगवद्गीता 5.14 महाभारत शांतिपर्व 25.16
6 माठरवृत्तिका 61 न्यायकुसुमांजलि 1.5
7 स्वभाववाद के बारे में निम्न श्लोक सर्वत्र प्रसिद्ध है —
नित्यसत्त्वा भवन्त्यन्ये नित्यासत्त्वाश्च केचन।
विचित्राः केचिदित्यत्र तत्स्वभावो नियामकः॥
[illegible] शीतं समस्पर्शस्तथानिलः।
[illegible] स्वभावात् तद्व्यवस्थितिः॥
8 [illegible] 3.2.31
9 [illegible] 33.23

विना नी काँट की ता गना क समान भावा की ""पत्ति हाती[1] है। उन्होंने इस वाद का निराकरण भी किया है। ग्रत ग्रनिमित्तवाद ग्रकस्मातवाद ग्रौर यदृच्छावाद एक ही ग्रथ के द्योतक हैं ऐसा मानना चाहिए। कुछ लोग स्वभाववाद ग्रौर यदृच्छावाद को एक ही मानते हैं किन्तु यह मान्यता ठीक नहा है। इन दोना म यह भद है कि स्वभाववादी स्वभाव को कारण रूप मानते हैं किन्तु यदृच्छावादी कारण की सत्ता को ही ग्रस्वीकार करते हैं।

(5) नियतिवाद

इस वाद का सवप्रथम उल्लख भी श्वेताश्वतर म है किन्तु वहा ग्रथवा ग्रन्य उप निषदो म इस वाद का विशद विवरण नहीं मिलता। जनागम ग्रौर बौद्ध त्रिपिटक म नियतिवाद सम्बन्धी बहुत सी बातें उपलब्ध होती हैं। जब भगवान बद्ध न उपदेश देना प्रारम्भ किया तब नियतिवादी जगह जगह ग्रपन मत का प्रचार कर रहे थे। भगवान महावीर को भी नियति वादियों म वाद विवाद करना पडा था। उनकी मान्यता थी कि ग्रात्मा ग्रौर परलोक का ग्रस्तित्व है परन्तु ससार म दृष्टिगोचर होन वाली जीवो की विचित्रता का वाद भी ग्रन्य कारण नहीं है सब कुछ एक निश्चित प्रकार म नियत है ग्रौर नियत रहगा। सभी जीव नियति चक्र म फस हुए ह। जीव म यह शक्ति नही कि इस चक्र म किसी भी प्रकार का परिवतन कर सक। यह नियति चक्र स्वय ही घूमता रहता है ग्रौर जीवो को एक नियत क्रम क ग्रनुसार इधर उधर ल जाता है। जब यह चक्र पूर्ण हो जाता है तो जीव स्वत ही मुक्त हो जाता है। ऐस वाद का प्रादुर्भाव उसी समय होता है जब मानव बद्धि पराजित हो जाती है।

त्रिपिटक म पूरण काश्यप ग्रौर मखली गोशालक[3] क मतो का वणन ग्राया है। एक क वाद का नाम ग्रक्रियावाद तथा दूसरे क वाद का नाम नियतिवाद रखा गया है किन्तु इन दोनों म सिद्धान्तत विशेष भद नहीं है। यही कारण है कि कुछ समय बाद पूरण काश्यप क ग्रनुयायी ग्राजीवका ग्रर्थात गोशालक क ग्रनुयायियो म मिल गय थ[4]। ग्राजीवको ग्रौर जना म ग्राचार तथा तत्त्व ज्ञान सम्बन्धी बहुत सी बातो म समानता थी किन्तु मुख्य भद नियति वाद तथा पुरुषार्थवाद[5] म था। जनागमों म ऐस कई उल्लेख उपलब्ध होते हैं जिनस प्रकट है कि भगवान महावीर न ग्रनेक विख्यात नियतिवादियो के मत म परिवतन कराया था[6]। सभव है कि धीरे धीरे ग्राजीवक जन म सम्मिलित होकर लुप्त हो गए हो। पकुध का मत भी ग्रक्रियावादी है ग्रत वह नियतिवाद म समाविष्ट हो जाता है।

सामञ्ञफलसुत्त म गोशालक क नियतिवाद का निम्नलिखित वर्णन है —

---

1 न्याय-सूत्र 4 1 22
2 प० फणिभूषण कृत न्याय भाष्य का ग्रनुवाद 4 1 24 देखें।
3 दीघनिकाय-सामञ्ञफलसुत्त
4 बुद्धचरित (कोशाबी) पृ 179
5 नियतिवाद का विस्तृत वणन उत्थान महावीराङ्क म देखें पृ० 74
6 उपासकदशाग ग्र० 7

प्राणियों की अपवित्रता का कुछ भी कारण नहीं है। कारण के बिना ही वे अपवित्र होते हैं। उनके अपवित्र होने में न कोई कारण है न हेतु। प्राणियों की शुद्धता का भी कोई कारण अथवा हेतु नहीं है। हेतु और कारण के बिना ही वे शुद्ध होते हैं। इसमें मानव के बल पर कुछ नहीं होता। पुरुष के सामर्थ्य के कारण किसी भी पदार्थ की सत्ता नहीं है। न बल है न वीर्य न ही पुरुष की शक्ति अथवा पराक्रम सभी सत्त्व सभी प्राणी सभी जीव अवश दुर्बल है वीर्यविहीन हैं। उन में भाग्य (नियति) जाति, वैशिष्ट्य और स्वभाव के कारण परिवर्तन होता है। छह जातियों में से किसी भी एक जाति में रहकर सब दुःखों का उपभोग किया जाता है। चौरासी लाख महाकल्प के चक्र में घूमने के बाद बुद्धिमान् और मूर्ख दोनों के ही दुःख का नाश हो जाता है। यदि कोई कहे कि मैं शील व्रत तप अथवा ब्रह्मचर्य से अपरिपक्व कर्मों को परिपक्व करूंगा अथवा परिपक्व हुए कर्मों का भोग कर उन्हें नष्ट कर दूंगा तो ऐसी बात कभी भी होने वाली नहीं है। इस संसार में सुख दुःख इस प्रकार व्यवस्थित हैं कि उन्हें परिमित पात्रों से नापा जा सकता है। उनमें वृद्धि या हानि नहीं हो सकती। जिस प्रकार सूत की गोली (गेंद) उतनी ही दूर जाती है जितना लम्बा उसमें धागा होता है उसी प्रकार बुद्धिमान और मूर्ख लोगों के दुःख (संसार) का नाश उसके चक्कर में पड़ने पर ही होता है[1]।

इसी प्रकार का ही किन्तु जरा भाकर्षक ढंग का वर्णन जैनों के उपासकदशांग[2] एवं भगवती सूत्र[3] में है। इनके अतिरिक्त सूत्रकृतांग[4] में भी अनेक स्थलों पर इस वाद के सम्बन्ध में तथ्य बातें मिलती हैं।

बौद्ध पिटक में पकुध कात्यायन के मत का वर्णन इस प्रकार किया गया है— ये सात पदार्थ ऐसे हैं जो किसी ने बनाए नहीं बनवाए नहीं। उनका न तो निर्माण किया गया और न कराया गया। वे वन्ध्य हैं कूटस्थ है और स्तम्भ के समान अचल हैं। वे हिलते नहीं परिवर्तन नहीं और एक दूसरे के लिए त्रासदायक नहीं। वे एक दूसरे के दुःख को सुख को अथवा दोनों को उत्पन्न नहीं कर सकते। वे सात तत्त्व ये हैं—पृथ्वीकाय अप्काय तेजकाय वायुकाय सुख दुःख और जीव। इनका नाश करने वाला करवाने वाला इनको सुनने वाला कहने वाला जानने वाला अथवा इनका वर्णन करने वाला कोई भी नहीं है। यदि कोई व्यक्ति तीक्ष्ण शस्त्र द्वारा किसी के मस्तक का छेदन करता है तो वह उसके जीवन का हरण नहीं करता। इसमें केवल यही समझना चाहिए कि इन सात पदार्थों के अन्तर स्थित स्थल में शस्त्रों का प्रवेश हुआ है। पकुध के इस मत को नियतिवाद ही कहना चाहिए।

त्रिपिटक में अक्रियावादी पूरण काश्यप के मत का वर्णन इन शब्दों में किया गया है किसी ने कुछ भी किया हो अथवा कराया हो काटा हो या कटवाया हो त्रास दिया हो

---

1 बुद्ध चरित पृ० 171
2 अ० यन 6 व 7
3 शतक 15
4 2 1 12 26
5 सामञ्ञफलसुत्त दीघनिकाय 2 बुद्धचरित पृ 173

मुर्गी और उसके अंडे के कार्य कारण भाव के समान है। मुर्गी से अंडा होता है अतः मुर्गी कारण है और अंडा कार्य। यदि कोई व्यक्ति प्रश्न करे कि पहले मुर्गी थी या अंडा? तो इसका उत्तर नहीं दिया जा सकता। यह तथ्य है कि अंडा मुर्गी से होता है परन्तु मुर्गी भी अंडे से ही उत्पन्न हुई है। अतः दोनों में कार्य कारण भाव तो है परन्तु दोनों में पहले कौन यह नहीं कहा जा सकता। संतति की अपेक्षा से इनका पारस्परिक कार्य कारण भाव अनादि है। इसी प्रकार भाव कर्म से द्रव्य कर्म उत्पन्न होता है अतः भाव कर्म को कारण और द्रव्य कर्म को कार्य माना जाता है। किन्तु द्रव्य कर्म के अभाव में भाव कर्म की निष्पत्ति नहीं होती अतः द्रव्य कर्म भाव कर्म का कारण है। इस प्रकार मुर्गी और अंडे के समान भाव कर्म और द्रव्य कर्म का पारस्परिक अनादि कार्य कारण भाव भी संतति की अपेक्षा से है।

यद्यपि संतति के दृष्टिकोण से भाव-कर्म और द्रव्य कर्म का कार्य कारण भाव अनादि है तथापि व्यक्तिशः विचार करने पर ज्ञात होता है कि किसी एक द्रव्य कर्म का कारण कोई एक भाव कर्म ही होता होगा अतः उनमें पूर्वापर भाव का निश्चय किया जा सकता है। कारण यह है कि जिस एक भाव कर्म से किसी विशेष द्रव्य कर्म की उत्पत्ति हुई है वह उस द्रव्य-कर्म का कारण है और वह द्रव्य कर्म उस भाव कर्म का कार्य है कारण नहीं। इस प्रकार हम यह स्वीकार करना पड़ता है कि व्यक्तिशः पूर्वापर भाव होने पर भी जाति की अपेक्षा से पूर्वापर भाव का अभाव होने के कारण दोनों ही अनादि हैं।

यहाँ एक प्रश्न उपस्थित होता है। यह तो स्पष्ट है कि भाव कर्म से द्रव्य-कर्म की उत्पत्ति होती है क्योंकि अपने राग द्वेष मोहरूप परिणामों के कारण ही जीव द्रव्य-कर्म के बंधन में बद्ध होता है अथवा संसार में परिभ्रमण करता है। किन्तु भाव कर्म की उत्पत्ति में द्रव्य कर्म को कारण क्या माना जाए? इस प्रश्न का उत्तर यह दिया जाता है कि यदि द्रव्य-कर्म के अभाव में भी भाव-कर्म की उत्पत्ति संभव हो तो मुक्त जीवों में भी भाव-कर्म का प्रादुर्भाव होगा और उन्हें फिर संसार में आना होगा। यदि ऐसा होता है तो फिर संसार और मोक्ष में कुछ भी अन्तर न रह जाएगा। जैसी बन्ध योग्यता संसारी जीव में है वैसी ही मुक्त जीव में माननी पड़ेगी। ऐसी दशा में कोई भी व्यक्ति मुक्त होने के लिए क्यों प्रयत्नशील होगा? अतः हमें स्वीकार करना होगा कि मुक्त जीव में द्रव्य कर्म न होने के कारण भाव-कर्म भी नहीं है और द्रव्य-कर्म के होने के कारण संसारी जीव में भाव-कर्म की उत्पत्ति होती है। इस प्रकार भाव-कर्म से द्रव्य कर्म और द्रव्य-कर्म से भाव-कर्म की अनादिकालीन उत्पत्ति होने के कारण जीव के लिए संसार अनादि है।

द्रव्य-कर्म की उत्पत्ति भाव-कर्म से होती है अतः द्रव्य कर्म भाव कर्म का कार्य है। इन दोनों में जो कार्य कारण भाव है उसका भी स्पष्टीकरण आवश्यक है। मिट्टी का पिण्ड घटाकार में परिणत होता है इसलिए मिट्टी को उपादान कारण माना जाता है। किन्तु कुम्हार न हो तो मिट्टी में घट रूप बनने की योग्यता होने पर भी घट नहीं बन सकता अतः कुम्हार निमित्त कारण है। इसी प्रकार पुद्गल में कर्म रूप में परिणत होने का सामर्थ्य है अतः पुद्गल द्रव्य कर्म का उपादान कारण है किन्तु जब तक जीव में भाव-कर्म की सत्ता न हो पुद्गल द्रव्य-कर्म रूप में परिणत नहीं हो सकता। इसलिए भाव-कर्म निमित्त कारण माना गया है।

संहिता में इस सम्बन्ध में कोई विवरण नहीं है। योगदर्शन भाष्य में विशेष रूप से इसका वर्णन है। अन्य [illegible] ग्रन्थों में इसके सम्बन्ध में जो सामग्री उपलब्ध होती है वह नगण्य है अतः यहाँ इस प्रक्रिया का वर्णन जैन ग्रन्थों के आधार पर ही किया जाएगा। तुलनात्मक विवरण का निर्देश भी उचित स्थान पर किया जाएगा।

लोक में कोई भी ऐसा स्थान नहीं है जहाँ कर्म-योग्य पुद्गल परमाणुओं का अस्तित्व न हो। जब संसारी जीव अपने मन वचन काय से किसी भी प्रकार की प्रवृत्ति करता है तब कर्म योग्य पुद्गल-परमाणुओं के स्कन्धों का ग्रहण सभी दिशाओं से होता है। किन्तु इसमें इतनी मर्यादा अवश्य है कि जितने प्रदेश में आत्मा होती है वह उतने ही प्रदेश में विद्यमान परमाणु स्कन्धों का ग्रहण करती है दूसरों का नहीं। प्रवृत्ति के तारतम्य के आधार पर परमाणुओं की संख्या में भी तारतम्य होता है। प्रवृत्ति की मात्रा अधिक होने पर परमाणुओं की अधिक संख्या का ग्रहण होता है और कम होने पर कम संख्या का। इसे प्रदेश-बन्ध कहते हैं। गृहीत परमाणुओं का भिन्न भिन्न ज्ञानावरण आदि प्रकृति रूप में परिणत होना प्रकृति-बन्ध कहलाता है। इस प्रकार योग के कारण परमाणु स्कन्धों के परिमाण और उनकी प्रकृति का निश्चय होता है। इन्हें ही क्रमशः प्रदेश-बन्ध और प्रकृति बन्ध कहते हैं। स्वरूपतः आत्मा अमूर्त है परन्तु अनादि काल से परमाणु पुद्गल के सम्पर्क में रहने के कारण वह कथञ्चित् मूर्त है। आत्मा और कर्म के सम्बन्ध का वर्णन दूध तथा जल अथवा लोहे के गोले और अग्नि के सम्बन्ध के समान किया गया है। अर्थात् एक-दूसरे के प्रदेशों में प्रवेश कर आत्मा और पुद्गल अवस्थित रहते हैं। सांख्यों ने भी यह स्वीकार किया है कि संसारावस्था में पुरुष और प्रकृति का बन्ध दूध और पानी के समान एकीभूत है। नैयायिक और वैशेषिकों ने आत्मा तथा धर्माधर्म का सम्बन्ध संयोगमात्र न मानकर समवाय रूप माना है। उसका कारण भी यही है कि वे दोनों एकीभूत जैसे हो गए हैं। उन्हें पृथक् पृथक् कर बताया नहीं जा सकता केवल लक्षण भेद से पृथक् समझा जा सकता है।

गृहीत परमाणुओं में कर्म विपाक के काल और सुख-दुःख विपाक की तीव्रता और मन्दता का निश्चय आत्मा की प्रवृत्ति अथवा योग-व्यापार में कषाय की मात्रा के अनुसार होता है। इन्हें क्रमशः स्थिति-बन्ध और अनुभाग बन्ध कहते हैं। यदि कषाय की मात्रा न हो तो कर्म-परमाणु आत्मा के साथ सम्बद्ध नहीं रह सकते। जिस प्रकार सूखी दीवार पर धूल चिपकती नहीं है केवल उसका स्पर्श कर अलग हो जाती है उसी प्रकार आत्मा में कषाय की स्निग्धता के अभाव में कर्म परमाणु उससे सम्बद्ध नहीं हो सकते। सम्बद्ध न होने के कारण उनका अनुभाग अथवा विपाक भी नहीं हो सकता। योगदर्शन में भी क्लेश रहित योगी के कर्म को अशुक्लाकृष्ण माना गया है। उसका तात्पर्य भी यही है। बौद्धों ने क्रिया चेतना के सद्भाव में अर्हत् में कर्म की सत्ता अस्वीकार की है। इसका भावार्थ भी यही है कि वीतराग नवीन कर्मों का बन्ध नहीं करता। जैन जिसे ईर्यापथ अथवा असाम्परायिक क्रिया मानते हैं उसे बौद्ध क्रिया-चेतना कहते हैं।

कर्म के उक्त चार प्रकार के बन्ध हो जाने के पश्चात् तत्काल ही कर्म-फल मिलना प्रारम्भ नहीं हो जाता। कुछ समय तक फल प्रदान करने की शक्ति का सम्पादन होता रहता

विपाक के सम्बन्ध में जैन मत में जैसे प्रत्येक कर्म का विपाक नियत है वैसे योग-दर्शन में नियत नहीं है। योग-मत के अनुसार संचित समस्त कर्म मिलकर उक्त जाति आयु भोग रूप विपाक का कारण बनते हैं[1]।

न्यायवार्तिककार ने कर्म के विपाक काल को अनियत वर्णित किया है। यह कोई नियम नहीं है कि कर्म का फल इसी लोक में या परलोक में अथवा जन्मान्तर में ही मिलता है। कर्म अपना फल उसी दशा में देते हैं जब सहकारी कारणों का सन्निधान हो तथा सन्निहित कारणों में भी कोई प्रतिबन्धक न हो। यह निर्णय करना कठिन है कि यह शर्त कब पूरी हो। इस चर्चा के प्रसंगत यह भी बताया गया है कि अपने ही विपच्यमान-कर्म के अतिशय द्वारा अन्य कर्म की फल शक्ति का प्रतिबन्ध सम्भव है। समान भोग वाले अन्य प्राणियों के विपच्यमान कर्म द्वारा भी कर्म की फल शक्ति के प्रतिबन्ध की सम्भावना है। ऐसी अनेक सम्भावनाओं का उल्लेख करने के पश्चात् वे निष्कर्ष निकालते हैं कि कर्म की गति दुर्विज्ञेय है मनुष्य इस प्रक्रिया के पार का पता नहीं लगा सकता[2]।

जयन्त ने न्यायमञ्जरी में कहा है कि विहित कर्म के फल का काल नियम निर्धारित नहीं किया जा सकता। कुछ विहित कर्म ऐसे हैं जिनका फल तत्काल मिलता है—जैसे कारीरी यज्ञ का फल वृष्टि। कुछ विहित-कर्मों का फल ऐहिक होते हुए भी काल सापेक्ष है—जैसे पुत्रेष्टि का फल पुत्र तथा ज्योतिष्टोम आदि का फल स्वर्गादि परलोक में मिलता है। किन्तु सामान्य रूप से यह नियम निश्चित किया जा सकता है कि निषिद्ध कर्म का फल तो परलोक में ही मिलता है[3]।

योग दर्शन[4] में कर्माशय और वासना में भेद किया गया है। एक जन्म में संचित कर्म को कर्माशय कहते हैं तथा अनेक जन्मों के कर्मों के संस्कार की परम्परा को वासना कहते हैं। कर्माशय का विपाक दो प्रकार का है—अदृष्टजन्म वेदनीय और दृष्टजन्म-वेदनीय। जिसका विपाक दूसरे जन्म में मिले वह अदृष्टजन्म-वेदनीय तथा जिसका विपाक इस जन्म में मिल जाए वह दृष्टजन्म-वेदनीय कहलाता है। विपाक के तीन भेद हैं —जाति अथवा जन्म आयु और भोग। अर्थात् अदृष्टजन्म-वेदनीय के तीन फल हैं—नवीन जन्म उस जन्म की आयु और उस जन्म का भोग। किन्तु दृष्टजन्म वेदनीय कर्माशय का विपाक आयु व भोग अथवा केवल भोग है जन्म नहीं। यदि यहाँ भी जन्म का विपाक स्वीकार किया जाए तो वह अदृष्टजन्म-वेदनीय

---

1 तस्माज्जन्मप्रायणान्तरे कृत पुण्यापुण्यकर्माशयप्रचया विचित्र प्रधानोपसर्जनभावेनावस्थित प्रायणाभिव्यक्त एकप्रघट्टकेन मिलित्वा मरण प्रसाध्य सम्मूर्छित एकमेव जन्म करोति तच्च जन्म तेनैव कर्मणा लब्धायुष्कं भवति। तस्मिन्नायुषि तेनैव कर्मणा भोग सम्पद्यत इति। असौ कर्माशयो जन्मायुर्भोगहेतुत्वात् त्रिविपाकोऽभिधीयते।—योगभाष्य 2 13

2 न्यायवा 3 2 61

3 न्यायमञ्जरी पृ० 505 275

4 योगभाष्य 2 13

मरण-काल के समय के कम के आधार पर ही शीघ्र नया जन्म प्राप्त होता है। अभ्यस्त कम इन तीनों के अभाव में ही फल दे सकता है ऐसा नियम है[1]।

बौद्धों ने पाक काल की दृष्टि से कम के जो चार भेद किये हैं उनकी तुलना योग-दर्शन सम्मत वैसे ही कर्मों से की जा सकती है। दृष्टजन्म वेदनीय—जिसका विपाक विद्यमान जन्म में मिल जाता है। उपपज्ज वेदनीय—जिसका फल नवीन जन्म में प्राप्त होता है। जिस कम का विपाक न हो उसे अहो कम कहते हैं। जिसका विपाक अनेक भवों में मिले, उसे अपरापरवेदनीय कहते हैं।

बौद्धों ने पाकस्थान की अपेक्षा से कम के ये चार भेद किए[2]—अकुशल का विपाक नरक में कामावचर कुशल कम का विपाक काम सुगति में रूपावचर कुशल कम का विपाक रूपि-ब्रह्मलोक में तथा अरूपावचर कुशल-कम का विपाक अरूपलोक में उपलब्ध होता है[3]।

(14) कम की विविध अवस्थाएं

यह लिखा जा चुका है कि कम का आत्मा से बन्ध होता है किन्तु बन्ध होने के बाद कम जिस रूप में बद्ध हुआ हो उसी रूप में फल दे ऐसा नियम नहीं है इस विषय में अनेक अपवाद हैं। जैन शास्त्रों में कम की बन्ध आदि दस दशाओं का इस प्रकार वर्णन किया गया है —

1 बन्ध—आत्मा के साथ कम का सम्बन्ध होने पर उसके चार प्रकार हो जाते हैं—प्रकृति-बन्ध प्रदेश बन्ध स्थिति बन्ध और अनुभाग बन्ध। जब तक बन्ध न हो तब तक कम की अन्य किसी भी अवस्था का प्रश्न ही उपस्थित नहीं होता।

2 सत्ता—बन्ध में आए हुए कम पुद्गल अपनी निर्जरा होने तक आत्मा से सम्बद्ध रहते हैं इस ही उसकी सत्ता कहते हैं। विपाक प्रदान करने के बाद कम-पुद्गलों की निर्जरा हो जाती है। प्रत्येक कम अबाधाकाल के व्यतीत हो जाने पर ही विपाक देता है। अर्थात अमुक कम की सत्ता उसके अबाधाकाल तक होती है।

3 उद्वर्तन अथवा उत्कर्षण—आत्मा से बद्ध कर्मों की स्थिति और अनुभाग-बन्ध का निश्चय बन्ध के समय विद्यमान कषाय की मात्रा के अनुसार होता है किन्तु कम के नवीन बन्ध के समय उस स्थिति तथा अनुभाग को बढ़ा लेना उद्वर्तन कहलाता है।

4 अपवर्तन अथवा अपकर्षण—कम के नवीन बन्ध के समय प्रथम-बद्ध कम की स्थिति और उसके अनुभाग को कम कर देना अपवर्तन कहलाता है।

उद्वर्तन तथा अपवर्तन की मान्यता से सिद्ध होता है कि कम की स्थिति और उसका भोग नियत नहीं है। उसमें परिवर्तन हो सकता है। किसी समय हमने बुरा काम किया किन्तु बाद में यदि अच्छा काम करें तो उस समय पूर्व-बद्ध कम की स्थिति और उसके रस में कमी

---

1 अभिधम्मत्थसंग्रह 5 19 विसुद्धिमग्ग 19 15

2 विसुद्धिमग्ग 19 14 अभिधम्मत्थसंग्रह 5 19

3 अभिधम्मत्थसंग्रह 5 19

हो सकती है। इसी प्रकार ग-ताप करके बाँधे गये ग-रम का स्थिति को भी प्रय- द्वारा कम किया जा सकता है। अर्थात् ससार की वद्धि हानि का आधार पूवबद्ध कम अपेक्षा विद्यमान अध्यवसाय पर विशेषत निभर है।

5 सक्रमण—इस विषय म प्रस्तुत ग्र-थ म विस्तार-पूर्वक वणन[1] है। कम प्रकृति पुद्गलो का परिणमन अ-य सजातीय प्रकृति म हो जाना सक्रमण कहलाता है। सामा- उत्तर प्रकृतियो म परस्पर सक्रमण होता है मूल प्रकृतियो म नहीं। इस नियम के अपवा- उल्लेख प्रस्तुत ग्र थ म है।

6 उदय—कम का अपना फल प्रदान करना उदय कहलाता है। कुछ कम के प्रदेशोदय युक्त होते हैं। उदय म आने पर उनके पुद्गलो की निजरा हो जाती है उनका भी फल नहीं होता। कुछ कर्मों का प्रदेशोदय के साथ साथ विपाकोदय भी होता है। वे प्रकृति के अनुसार फल देकर नष्ट हो जाते हैं।

7 उदीरणा—नियत काल से पहले कम का उदय म आना उदीरणा कहलाती जिस प्रकार प्रयत्न पूवक नियत काल से पहले ही फलों को पकाया जा सकता है उसी प्र- नियत काल से पूव ही बद्ध कर्मों का भोग किया जा सकता है सामान्यत जिस कम का- जारी हो उसके सजातीय कम की ही उदीरणा सम्भव है।

8 उपशमन—कम की जिस अवस्था म उदय अथवा उदीरणा सम्भव न हो उत्कषण अपकषण और सक्रमण की सम्भावना हो उसे उपशमन कहते हैं। तात्पय यह है कम को ढकी हुई अग्नि के समान बना दिया जाय जिससे वह उस अग्नि की तरह फल- सके। किन्तु जिस प्रकार अग्नि से आवरण के दूर हो जाने पर वह पुन प्रज्वलित होने म स- है उसी प्रकार कम की इस अवस्था के समाप्त होने पर वह पुन उदय म आकर फल देता

9 निधत्ति—कम की उस अवस्था को निधत्ति कहते हैं जिसमें वह उदीरणा सक्रमण म असमथ होता है किन्तु इस अवस्था म उत्कषण और अपकषण सम्भव है।

10 निकाचना—कम की वह अवस्था निकाचना कहलाती है जिसम उ- अपकषण सक्रमण और उदीरणा सम्भव ही न हो। अर्थात् जिस रूप म इस कम का ब- हुआ हो उसी रूप म उसे अनिवाय रूप से भोगना ही पड़ता।

अ य दशन ग्र थो म कम की इन अवस्थाओं का वणन शब्दश दृष्टिगोचर नहीं कि तु इनम से कुछ अवस्थाओं स मिलते जुलते विवरण अवश्य मिलते हैं।

योगदशन सम्मत नियत विपाकी कम जैन सम्मत निकाचित कम के समान सम- कालीन। उसकी आवापगमन प्रक्रिया जैन सम्मत सक्रमण है। योगदशन म अनियतविपाकी कम भी कम है जो बिना फल दिये ही नष्ट हो जाते हैं। इनकी तुलना जैनों के प्रदेशोदय से हो सकती है। योगदशन म क्लेश की चार अवस्थाएँ मान्य हैं—प्रसुप्त तनु विच्छिन्न उदार[3]

1 गाथा 1938 स

2 योगदशन भाष्य 13

3 योग सूत्र 4

उपशम या विरक्ती व उनकी तुलना जैन सम्मत मोहनीय कर्म की सत्ता उपशम (क्षयोपशम) विरोधी प्रवृत्ति के उदय से व्यवधान और उदय के क्षय की है[1]।

(१९) कर्म फल का संविभाग :

अब हम विषय पर विचार करने का अवसर है कि एक व्यक्ति अपने किये हुए कर्म का फल दूसरे व्यक्ति को दे सकता है अथवा नहीं ? हिन्दुओं मे श्राद्धादि क्रिया का जो प्रचार है उसे देखते हुए यह निश्चय निकलता है कि ब्राह्मणधर्मानुसार एक के कर्म का फल दूसरे को मिल सकता है। बौद्ध भी इस मान्यता से सहमत हैं। हिन्दुओं के समान बौद्ध भी प्रेतयोनि को मानते हैं। अर्थात् प्रेत के निमित्त जो दान पुण्यादि किया जाता है प्रेत को उसका फल मिलता है। मनुष्य मर कर तिर्यञ्च नरक अथवा देवयोनि मे उत्पन्न हुआ हो तो उसके उद्देश्य से किये गए पुण्य कर्म का फल उसे नहीं मिलता किन्तु चार प्रकार के प्रेतों मे केवल परदत्तोपजीवी प्रेतों को ही फल मिलता है। यदि जीव परदत्तोपजीवी प्रेतावस्था मे न हो तो पुण्य कर्म के करने वाले को ही उसका फल मिलता है अन्य किसी को भी नहीं मिलता। पुनश्च कोई पाप कर्म करके यदि यह अभिलाषा करे कि उसका फल प्रेत को मिल जाए तो ऐसा कभी नहीं होता। बौद्धों का सिद्धान्त है कि कुशल कर्म का ही संविभाग हो सकता है अकुशल का नहीं। राजा मिलिन्द ने आचार्य नागसेन से पूछा कि क्या कारण है कि कुशल का ही संविभाग हो सकता है अकुशल का नहीं ? आचार्य ने पहले तो यह उत्तर दिया कि आपको ऐसा प्रश्न नहीं पूछना चाहिए। फिर यह बताया कि पाप कर्म मे प्रेत की अनुमति नहीं अत उसे उसका फल नहीं मिलता। इस उत्तर से भी राजा सन्तुष्ट न हुआ। तब नागसेन ने कहा कि अकुशल परिमित होता है अत उसका संविभाग सम्भव नहीं है किन्तु कुशल विपुल होता है अत उसका संविभाग हो सकता है[2]। महायान बौद्ध बोधिसत्त्व का यह आदर्श मानते हैं कि वे सदा ऐसी कामना करते हैं कि उनके कुशल कर्म का फल विश्व के समस्त जीवों को प्राप्त हो। अत महायान मत के प्रचार के बाद भारत के समस्त धर्मों मे इस भावना को समर्थन प्राप्त हुआ कि कुशल कर्मों का फल समस्त जीवों को मिले।

किन्तु जैनागम मे इस विचार अथवा इस भावना को स्थान नहीं मिला। जैन धर्म मे प्रेतयोनि नहीं मानी गई है। सम्भव है कि कर्म फल के असंविभाग की जैन मान्यता का यह भी एक आधार हो। जैन शास्त्रीय दृष्टि तो यही है कि जो जीव कर्म करे उसे ही उसका फल भोगना पड़ता[3] है। कोई दूसरा उसमे भागीदार नहीं बन सकता। किन्तु लौकिक दृष्टि का

---

1 योगदर्शन (प० सुखलालजी) प्रस्तावना पृ० 54

2 मिलिन्दप्रश्न 4 8 30 35 पृ० 288 कथावत्थु 7 6 3 पृ 348 प्रेतों की कथाओं के संग्रह के लिए पेतवत्थु तथा विमलाचरण लॉ कृत Buddhist conception of spirits देखें।

3 संसारमावन्न परस्स अट्ठा साहारणं जं च करेइ कम्मं।
कम्मस्स ते तस्स उ वेयकाले न बंधवा बंधवयं उवेंति ॥—उत्तरा 4 4
माया पिया ण्हुसा भाया भज्जा पुत्ता य ओरसा।
नालं ते मम ताणाय लुप्पंतस्स सकम्मुणा ॥
—उत्तरा० 6 3 उत्तरा० 14 12 20 23 37

भूति प्राप्त करते है। किन्तु जो व्यक्ति यज्ञ नहा करते वे उनके तिरस्कार के पात्र बनते हैं। देवता नीति सम्पन्न हैं सत्यशील हैं व धोखा नही देते। वे प्रामाणिक और चरित्रवान मनुष्यो की रक्षा करते हैं उदार और पुण्यशील व्यक्तियों तथा उनके कृत्यो का बदला चुकाते हैं किन्तु पापी को दण्ड देते हैं। देव जिस व्यक्ति के मित्र बन जाए उसे कोई भी हानि नहीं पहुचा सकता। देवता अपने भक्तो के शत्रुओ का नाश कर उनकी सम्पत्ति अपने भक्तों को सौंप देते हैं। सभी देवो म सौन्दय तेज और शक्ति है। सामान्यत देव स्वय ही अपने अधिपति हैं अर्थात वे स्वमिद्ध हैं। यद्यपि ऋषियो ने उनके वर्णन म अतिशयोक्ति स काम लेते हुए वर्णित देव को सर्वाधिपति कहा है तथापि सामान्यत उसका अथ यह नहीं कि वह देव राजा के समान अन्य देवो का अधिपति है। ऋषियो ने जिस देव की स्तुति की है परन्तु वह उसे प्रसन्न करने के लिए है अत स्वाभाविक है कि उसके अधिक से अधिक गुणो का वणन किया जाय। अत प्रत्येक देव म सवसामर्थ्य स्वीकार किया गया। इसका परिणाम यह हुआ कि बाद म यज्ञ के लिए सब देवो की महत्ता समान रूप से स्वीकार की गई। एक सद विप्रा बहुधा वदन्ति[1] विद्वान एक ही तत्त्व का नाना प्रकार से कथन करते हैं—यह मान्यता दृढ हो गई। फिर भी यज्ञ प्रसग मे व्यक्तिगत देवो के प्रति निष्ठा कभी भी कम नहीं हुई। भिन्न भिन्न अवसरो पर भिन्न भिन्न देवो के नाम से यज्ञ होते रहे। इसलिए हमें यह बात माननी पडती है कि ऋग्वेद काल म किसी एक ही देव का अन्य देवो की अपेक्षा अधिक महत्त्व नहीं था। ऋग्वेद काल म एक देव के स्थान पर दूसरे देव को अधिष्ठित कर देने की कल्पना करना असगत है।

सभी देव द्युलोक निवासी नहा हैं। ऋषियो ने लोक के जो तीन विभाग किए हैं उनमें उनका निवास है। द्युलोकवासी देवो म द्यौ वरुण सूय मित्र विष्णु दक्ष अश्विन आदि का समावेश है। अन्तरिक्ष म निवास करने वाले देव य हैं—इन्द्र मरुत रुद्र पर्जन्य आप आदि। पृथ्वी पर अग्नि सोम वनस्पति आदि देवो का निवास है।

(2) वदिक स्वग नरक

इस लोक मे जो मनुष्य शुभ कम करते हैं व मर कर स्वग म यमलोक पहुचते हैं। यह यमलोक प्रकाश पुञ्ज से व्याप्त है। वहाँ उन लोगो को अन्न और सोम पर्याप्त मात्रा मे मिलता है एव उनकी सभी कामनाए पूण होती हैं[3]। कुछ व्यक्ति विष्णु[4] अथवा वरुणलोक[5] मे जाते हैं। वरुणलोक सर्वोच्च स्वग[6] है। वरुणलोक मे जाने वाले मनुष्य की सभी त्रुटियाँ

---

1 ऋग्वद 1 164 46

2 दशमुख की पूर्वोक्त पुस्तक पृ० 317 322 का सार

3 ऋग्वेद 9 113 7 स

4 ऋग्वद 1 1 54

5 ऋग्वद ? 8 5

6 ऋग्वद 10 14 8, 10 15 7

इस प्रकार अग्निलोक वायुलोक वरुणलोक इन्द्रलोक और प्रजापति लोक से होकर ब्रह्मलोक में जाता है। वहाँ वह मन के द्वारा आर नामक सरोवर को पार करता है और येष्टिहा (उपासना में विघ्न डालने वाले) देव के पास पहुँचता है। वे देव उसे देखकर भाग जाते हैं। तत्पश्चात वह मन के द्वारा ही विरजा नदी पार करता है। यहाँ वह पुण्य और पाप को छोड़ देता है। इसके बाद वह इल्य नामक वृक्ष के निकट जाता है और वहाँ उसे ब्रह्म की गन्ध आती है। फिर वह सालज्य नगर के पास पहुँचता है। वहाँ उसमें ब्रह्मरस प्रविष्ट होता है। तदनन्तर वह इन्द्र और प्रजापति नामक द्वारपालों के पास जाता है। वे भी उसे देखकर हट जाते हैं। वहाँ से अनन्तर वह विभु नामक सभा स्थान में आता है। यहाँ उसकी कान्ति इतनी बढ़ जाती है जितनी कि ब्रह्मा की। फिर वह विचक्षणा नाम के आसन्दी सिंहासन के समीप जाता है और अपनी बुद्धि द्वारा समस्त विश्व को देखता है। अन्त में वह अमितौजा नामक ब्रह्म के पर्यंक के निकट जाता है। जब इस पर्यंक पर आरूढ़ होता है तब वहाँ आसीन ब्रह्मा उससे पूछता है "तुम कौन हो?" वह उत्तर देता है "जो आप हैं वही मैं हूँ।" ब्रह्मा पुनः पूछता है "मैं कौन हूँ?" वह व्यक्ति उत्तर देता है "आप सत्य स्वरूप हैं।" इस प्रकार अन्य अनेक प्रश्न पूछ कर जब ब्रह्मा की पूर्ण तुष्टि हो जाती है तब वह उसे अपने समान समझता है[1]।

इस उपनिषद् में पितृयान के वर्णन का सार यह है — चन्द्रलोक ही पितृलोक है। सभी मरने वाले पहले यहीं पहुँचते हैं। किन्तु जिनकी इच्छा पितृलोक में निवास करने की न हो उन्हें चन्द्र ऊपर के लोक में भेज देता है और जिनकी अभिलाषा चन्द्रलोक की हो उन्हें चन्द्र वर्षा के रूप में इस पृथ्वी पर जन्म लेने के लिए भेज देता है। ये जीव अपने कर्मों और ज्ञान के अनुसार कीट पतंग पशु सिंह व्याघ्र मछली रीछ मनुष्य अथवा अन्य किसी रूप में भिन्न भिन्न स्थानों में जन्म लेते हैं। इस प्रकार पितृयान मार्ग से जाने वालों को पुनः इस लोक में आना पड़ता है[2]।

सारांश यह है कि ब्रह्म भाव को प्राप्त कर लेने वाले जीव जिस मार्ग से ब्रह्मलोक में जाते हैं उसे देवयान कहते हैं किन्तु अपने कर्मों के अनुसार जिनकी मृत्यु पुनः होने वाली है वे चन्द्रलोक में जाकर लौट आते हैं। उनके मार्ग का नाम पितृयान है और उनकी योनि प्रेत योनि कहलाती है।

इस उपर्युक्त वर्णन से हमें यह ज्ञात हो जाता है कि प्रस्तुत ग्रन्थ में परलोक के मार्ग व गन्तव्य के सम्बन्ध में जो चर्चा है उसके विषय में उपनिषदों का क्या मत है। यह भी पता लगता है कि जीव कर्मानुसार विलक्षण अवस्था को प्राप्त होते हैं। इस ग्रन्थ में भी इस मत का समर्थन है।

---

1 कौषीतकी प्रथम अध्याय देखें।

2 कौषीतकी 1 2

बूढ़ी गायों का दान कर रहा था। उसने सोचा कि मेरे पिता इनके बदले मुझ ही दान म क्यों[1] नहीं दे देते ?

उपनिषदों म इस विषय म कोई स्पष्ट उल्लेख नहीं है कि ऐसे म धकारमय लोक म जाने वाले जीव सदा क लिए वहीं रहते हैं अथवा वहाँ से उनका छुटकारा भी हो जाता है।

(8) पौराणिक नरक

नरक के विषय म पुराणकालीन वदिक परम्परा मे कुछ विशेष विवरण मिलते हैं। बौद्ध और जन मत के साथ उनकी तुलना करने पर ज्ञात होता है कि यह विचारणा तीनों परम्पराओं म समान ही थी।

योगदर्शन व्यास भाष्य म सात नरकों के ये नाम बताए गए हैं— महाकाल अम्बरीष रौरव महारौरव कालसूत्र अधतामिस्र अवीचि। इन नरकों म जीवों को अपने किए हुए कर्मों के कटफल मिलते हैं और वहाँ जीवों की आयु भी लम्बी[2] होती है। अर्थात दीर्घकाल तक कर्म का फल भोगने के बाद ही वहाँ से जीव का छुटकारा होता है ऐसी मान्यता सिद्ध होती है। ये नरक हमारी अपनी भूमि और पाताल लोक के नीचे अवस्थित[3] हैं।

भाष्य की टीका मे नरकों के अतिरिक्त कुम्भीपाकादि उपनरकों की कल्पना को भी स्थान प्राप्त हुआ है। वाचस्पति ने इनकी संख्या अनेक बताई है किन्तु भाष्यवार्तिककार ने इसे अनन्त कहा है।

भागवत म नरकों की संख्या सात के स्थान पर 28 बताई है और उनमें प्रथम 21 के नाम ये हैं—तामिस्र अन्धतामिस्र रौरव महारौरव कुम्भीपाक कालसूत्र असिपत्रवन सूकर मुख अधकूप कृमि भोजन सदंश तप्तसूर्मि वज्रकण्टकशाल्मली वतरणी पूयोद प्राणरोध विशसन लालाभक्ष सारमेयादन अवीचि तथा अयःपान[4]। इसके अतिरिक्त कुछ लोगों के मतानुसार अन्य सात नरक भी हैं—क्षार कदम रक्षोगण भोजन शूलप्रोत दन्दशूक अवटनिरोधन पर्यावर्तन और सूचीमुख। इनम अधिकतर नाम ऐसे हैं जिनसे यह ज्ञात हो जाता है कि उन नरकों म जीवों को किस प्रकार के कष्ट हैं।

(9) बौद्ध और परलोक

हम यह कह सकते हैं कि भगवान् बुद्ध ने अपने धर्म को इसी लोक म फल देने वाला माना था और उनके उपलब्ध प्राचीन उपदेश मे स्वर्ग नरक अथवा प्रेतयोनि सम्बन्धी विचारों को स्थान ही नहीं था। यदि कभी कोई जिज्ञासु ब्रह्मलोक जसे परोक्ष विषय के सम्बन्ध म प्रश्न करता तो भगवान् बुद्ध सामान्यतः उसे समझाते कि परोक्ष पदार्थों के विषय म चिन्ता

---

1 कठ 1 1 3 बहदा० 4 4 10 11 ईश 3-9

2 योगदर्शन व्यास भाष्य विभूतिपाद 26

3 भाष्यवार्तिककार ने कहा है कि, पाताल अवीचि नरक के नीचे हैं किन्तु यह भ्रम प्रतीत होता है।

4 श्रीमद्भागवत (छायानुवाद) पृ० 164 पंचमस्कंध 26 5 36,

[illegible] करती था। [illegible] का उपदेश करते। [illegible] परन्तु जब जब उनके [illegible] हुए [illegible] स्वर्ग नरक [illegible] भी [illegible] गया और उन्हें बौद्ध धर्म म स्थान दिया गया। बौद्ध [illegible] कथाओं की रचना में [illegible] पाया है बहु प्रमुख है। उनका [illegible] था। [illegible] अनुभव किया कि स्वग के सुख और नरक [illegible] की कल्पना के [illegible] हुए बयान जो [illegible] सकते थे। [illegible] को [illegible] की रचना की, [illegible] भी प्राप्त हुई। इस प्रकार धीरे धीरे बौद्ध [illegible] में भी स्वग नरक [illegible] विचार [illegible] हो सके। किन्तु अभिधम्मत्थ [illegible] में [illegible] हो गया [illegible] उनकी व्यवस्था बुद्ध [illegible] में हुई।

बौद्ध अभिधम्म म लोको का विभाजन [illegible] तीन भूमियो मे किया गया है—कामावचर रूपावचर अरूपावचर। उसमे नरक तियग प्रेत असुर ये चार कामावचर भूमियाँ अपायभूमि है अर्थात उनमे दुःख की प्रधानता है। मनुष्य तथा चातुर्महाराजिक तावतिंस याम तुषित निम्मानरति परनिम्मितवसवत्ति नाम के देवनिकायो का समावेश काम सुगति नाम की कामावचर भूमि म है। उसम कामभोग की प्राप्ति होती है अत चित्त चचल रहता है।

रूपावचर भूमि म उत्तरोत्तर अधिक सुखवाले सोलह देवनिकायो का समावेश है जिसका विवरण इस प्रकार है –

प्रथम ध्यान भूमि म—1 ब्रह्मपारिसज्ज, 2 ब्रह्मपुरोहित 3 महाब्रह्म

द्वितीय ध्यान भूमि म—4 परित्ताभ 5 अप्पमाणाभ 6 आभस्सर

ततीय ध्यान भूमि म—7 परित्तसुभा 8 अप्पमाणसुभा 9 सुभकिण्हा

चतुर्थ ध्यान भूमि म—10 वेहप्फला 11 असञ्ञसत्ता 12 16 पाँच प्रकार क सुद्धावास

सुद्धावास क य पाँच भेद हैं—12 अविहा 13 अतप्पा 14 सुदस्सा, 15 सुदस्सी 16 अकनिट्ठा।

अरूपावचर भमि म उत्तरोत्तर अधिक सुख वाली चार भूमि हैं—

1 आकासानञ्चायतन भूमि
2 विञ्ञाणञ्चायतन भमि
3 आकिंचञ्ञायतन भूमि
4 नेवसञ्ञानासञ्ञायतन भूमि

अभिधम्मत्थ सग्रह म नरको की सख्या नही बताई गई है किन्तु मज्झिमनिकाय में उन विविध कष्टो का वणन है जो नारको को भोगन पडत हैं। (बालपण्डित सुत्तन्त-129 देखें)

---

1 दीघनिकाय क तेविज्जसुत्त म ब्रह्मसालोक्यता विषयक भगवान् बुद्ध का कथन देखें।

2 अभिधम्मत्थ सग्रह परि० 5

जातक (530) में में आठ नरक बताए गए हैं--सजीव कालसुत्त संघात जालरोव धूमरोरुव तपन प्रतापन अवीचि। महावस्तु (1 4) में उक्त प्रत्येक नरक के 16 उस्सद (उपनरक) स्वीकार किए गए हैं। इस तरह सब मिलकर 128 नरक हो जाते हैं। किन्तु पंचगति दीपनी नामक ग्रन्थ में प्रत्येक नरक के चार उस्सद बताए हैं--मल्हकूप कुक्कुल असिपत्तवन नदी[1] (वेतरणी)।

बौद्धों ने देवलोक के अतिरिक्त प्रेतयोनि भी स्वीकार की है। इन प्रेतों की रोचक कथाएं पेतवत्थु नाम के ग्रन्थ में दी गई हैं। साधारणतः प्रेत विशेष प्रकार के दुष्कर्मों को भोगने के लिए उस योनि में उत्पन्न होते हैं। इन दोषों में इस प्रकार के दोष हैं--दान देने में हीन करना, माता पिता से श्रद्धापूर्वक न देना। दीघनिकाय के आटानाटिय सुत्त में निम्नलिखित विशेषणों द्वारा प्रेतों का वर्णन किया गया है--चुगलखोर खूनी लंपट चोर दगाबाज आदि अर्थात् ऐसे लोग प्रेतयोनि में जन्म ग्रहण करते हैं। पेतवत्थु ग्रंथ से भी इस बात का समर्थन होता है।

पेतवत्थु के आरम्भ में ही यह बात कही गई है कि दान करने से दाता अपने इस लोक का सुधार करने के साथ साथ प्रेतयोनि को प्राप्त अपने सम्बन्धियों के भव का उद्धार करता है।

प्रेत पूर्वजन्म के घर की दीवार के पीछे आकर खड़े रहते हैं। चौराहे में अथवा मार्ग के किनारे आकर भी खड़े हो जाते हैं। जहाँ महान् भोज की व्यवस्था हो वहाँ वे विशेष रूप से पहुंचते हैं। यदि जो लोग उनका स्मरण कर उन्हें कुछ नहीं देते तो वे दुःखी होते हैं। जो उन्हें याद कर उन्हें देते हैं वे उनका आशीर्वाद प्राप्त करते हैं। क्योंकि प्रेतलोक में व्यापार अथवा कृषि की व्यवस्था नहीं है जिसमें उन्हें भोजन मिल सके। उनके निमित्त इस लोक में जो कुछ दिया जाता है उसी के आधार पर उनका जीवन निर्वाह होता है। इस प्रकार के विवरण पेतवत्थु[2] में उपलब्ध होते हैं।

लोकान्तरिक नरक में भी प्रेतों का निवास है। वहाँ के प्रेत छह कोस ऊँचे हैं। मनुष्यलोक में निज्झामतण्ह जाति के प्रेत रहते हैं। इनके शरीर में सदा जलन होती रहती है। वे सदा भ्रमणशील होते हैं। इनके अतिरिक्त पालि गाथा में खुप्पिपास कालकंजक उत्तूपजीवी नाम की प्रेत जातियों का भी उल्लेख है[3]।

(10) जैन सम्मत परलोक

जैनों ने समस्त संसारी जीवों का समावेश चार गतियों में किया है--मनुष्य तिर्यञ्च नारक तथा देव। मरने के बाद मनुष्य अपने कर्मानुसार इन चार गतियों में से किसी एक गति में भ्रमण करता है। जैन सम्मत देव तथा नरकलोक के विषय में ज्ञातव्य बातें ये हैं--

---

1 E R E--Cosmogomy & Cosmology--शब्द देखें।

महायान के वर्णन के लिए अभिधर्मकोष चतुर्थ स्थान में देखें।

2 पेतवत्थु 1 5

3 Buddhist Conception of spirits P 24

जैन मत में देवों के चार निकाय हैं—भवनपति व्यन्तर ज्योतिष्क तथा वैमानिक। भवनपति निकाय के देवों का निवास जम्बूद्वीप में स्थित मेरु पर्वत के नीचे उत्तर तथा दक्षिण दिशा में है। व्यन्तर निकाय के देव तीनों लोकों में रहते हैं। ज्योतिष्क निकाय के देव मेरु पर्वत के समतल भूमिभाग से सात सौ नब्बे योजन की ऊंचाई से शुरू होने वाले ज्योतिश्चक्र में रहते हैं। यह ज्योतिश्चक्र वहां से लेकर एक सौ दस योजन परिमाण तक है। इस चक्र से भी ऊपर असंख्यात योजन की ऊंचाई के अन्तर उत्तरोत्तर एक दूसरे के ऊपर अवस्थित विमानों में वैमानिक देव रहते हैं।

भवनवासी निकाय के देवों के दस भेद हैं—असुरकुमार नागकुमार विद्युत्कुमार सुपर्णकुमार अग्निकुमार वातकुमार स्तनितकुमार उदधिकुमार द्वीपकुमार और दिक्कुमार।

व्यन्तर निकाय के देवों के आठ प्रकार हैं—किन्नर किंपुरुष महोरग गन्धर्व यक्ष राक्षस भूत और पिशाच।

ज्योतिष्क देवों के पांच प्रकार हैं सूर्य चन्द्र, ग्रह नक्षत्र, प्रकीर्ण तारा।

वैमानिक देव निकाय के दो भेद हैं—कल्पोपपन्न कल्पातीत। कल्पोपपन्न के बारह भेद हैं—सौधर्म ऐशान सानत्कुमार माहेन्द्र ब्रह्मलोक लान्तक महाशुक्र सहस्रार आनत प्राणत आरण तथा अच्युत। एक मत सोलह भेद[1] स्वीकार करता है।

कल्पातीत वैमानिकों में नव ग्रैवेयक और पांच अनुत्तर विमानों का समावेश है। नव ग्रैवेयक के नाम ये हैं—सुदर्शन सुप्रतिबद्ध मनोरम सर्वभद्र सुविशाल सुमनस सौमनस प्रियंकर आदित्य।

पांच अनुत्तर विमानों के नाम ये हैं—विजय वैजयन्त जयन्त अपराजित सर्वार्थसिद्ध।

इन सब देवों की स्थिति भोग सम्पत्ति आदि के सम्बन्धों में विस्तृत वर्णन जिज्ञासुओं को तत्त्वार्थसूत्र के चतुर्थ अध्याय तथा बृहत् संग्रहणी आदि ग्रन्थों में देख लेना चाहिए।

जैन मत में सात नरक माने हैं—रत्नप्रभा, शर्कराप्रभा वालुकाप्रभा पंकप्रभा धूमप्रभा तमःप्रभा तथा महातमःप्रभा।

ये सातों नरक उत्तरोत्तर नीचे नीचे हैं और विस्तार में भी अधिक हैं। उनमें दुःख ही दुःख है। नारक परस्पर तो दुःख उत्पन्न करते ही हैं इसके अतिरिक्त संक्लिष्ट असुर भी प्रथम तीन नरक भूमियों में दुःख देते हैं। नरकों का विशद वर्णन तत्त्वार्थसूत्र के तीसरे अध्याय में है जिज्ञासु वहीं देख सकते हैं।

बनारस
दि० 10 6 52

दलसुख मालवणिया
अनु० पृथ्वीराज जैन, एम

---

1 ब्रह्मोत्तर कापिष्ठ शुक्र शतार ये चार नाम अधिक हैं।

प्रथम गणधर इन्द्रभूति

जीव के अस्तित्व सम्बन्धी चर्चा

भगवान महावीर राग द्वेष का क्षयकर सर्वज्ञ होने के पश्चात् वैशाख सुदि एकादशी के दिन महसेन वन में विराजमान थे। लोक समूह को उनके पास जाते हुए देख कर यज्ञवाटिका में एकत्रित विद्वान ब्राह्मणों के मन में भी जिज्ञासा उत्पन्न हुई कि ऐसा कौन सा महापुरुष आया है जिस का दर्शन करने सब लोग उसकी ओर जा रहे हैं। उन में सब से श्रेष्ठ विद्वान इन्द्रभूति गौतम सब से पहले भगवान महावीर के पास जाने के लिए उद्यत हुआ। जब वह अपने शिष्य परिवार सहित भगवान के समक्ष उपस्थित हुआ तब उसे देखकर भगवान कहने लगे —

इन्द्रभूति के संशय का कथन

आयुष्मन् इन्द्रभूति गौतम! तुम्हें जीव के अस्तित्व के विषय में सन्देह है। तुम यह समझते हो कि जीव की सिद्धि किसी भी प्रमाण से नहीं हो सकती तथापि संसार में बहुत से लोग जीव का अस्तित्व तो मानते ही हैं अतः तुम्हें संशय है कि जीव है या नहीं? जीव की सिद्धि किसी भी प्रमाण से नहीं हो सकती इस सम्बन्ध में तुम्हारे मन में ये विचार उठते हैं—

जीव प्रत्यक्ष नहीं

यदि जीव का अस्तित्व हो तो उसे घटादि पदार्थों के समान प्रत्यक्ष दिखाई देना चाहिए किन्तु वह प्रत्यक्ष तो होता नहीं। जो पदार्थ सर्वथा अप्रत्यक्ष होते हैं, उन का आकाश-कुसुम के समान संसार में सर्वथा अभाव होता है। जीव भी सर्वथा अप्रत्यक्ष है अतः संसार में उस का भी सर्वथा अभाव है।

यद्यपि परमाणु भी चर्म चक्षु से दिखाई नहीं देता तथापि उसका अभाव नहीं माना जा सकता। कारण यह है कि वह जीव के समान सर्वथा अप्रत्यक्ष नहीं है। कार्यरूप में परिणत परमाणु का प्रत्यक्ष तो होता ही है किन्तु जीव का प्रत्यक्ष किसी भी प्रकार से नहीं होता। अतः उसका सर्वथा अभाव मानना चाहिए। [१५४९]

जीव अनुमान से सिद्ध नहीं होता

यदि कोई यह बात कहे कि जीव चाहे प्रत्यक्ष से गृहीत न हो किन्तु उसे अनुमान से तो जाना जा सकता है अतः उसका अस्तित्व मानना चाहिए तो यह कहना भी युक्त नहीं। कारण यह है कि अनुमान भी प्रत्यक्ष-पूर्वक ही होता है। जिस पदार्थ का कभी प्रत्यक्ष ही न हुआ हो, वह पदार्थ अनुमान से

प्रथम गणधर इन्द्रभूति

जीव के अस्तित्व सम्बन्धी चर्चा

भगवान महावीर राग द्वेष का क्षयकर सर्वज्ञ होने के पश्चात वैशाख सुदि एकादशी के दिन महसेन वन में विराजमान थे। लोक-समूह को उनके पास जाते हुए देख कर यज्ञवाटिका में एकत्रित विद्वान ब्राह्मणों के मन में भी जिज्ञासा उत्पन्न हुई कि ऐसा कौन सा महापुरुष आया है जिस का दर्शन करने सब लोग उसकी ओर जा रहे हैं। उन में सब से श्रेष्ठ विद्वान इन्द्रभूति गौतम सब से पहले भगवान महावीर के पास जाने के लिए उद्यत हुआ। जब वह अपने शिष्य परिवार सहित भगवान के समक्ष उपस्थित हुआ तब उसे देखकर भगवान कहने लगे —

इन्द्रभूति के संशय का कथन

आयुष्मन् इन्द्रभूति गौतम ! तुम्हें जीव के अस्तित्व के विषय में सन्देह है। तुम यह समझते हो कि जीव की सिद्धि किसी भी प्रमाण से नहीं हो सकती तथापि संसार में बहुत से लोग जीव का अस्तित्व तो मानते ही हैं, अतः तुम्हें संशय है कि जीव है या नहीं ? जीव की सिद्धि किसी भी प्रमाण से नहीं हो सकती, इस सम्बन्ध में तुम्हारे मन में ये विचार उठते हैं—

जीव प्रत्यक्ष नहीं

यदि जीव का अस्तित्व हो तो उसे घटादि पदार्थों के समान प्रत्यक्ष दिखाई देना चाहिए किन्तु वह प्रत्यक्ष तो होता नहीं। जो पदार्थ सर्वथा अप्रत्यक्ष होते हैं उन का आकाश-कुसुम के समान संसार में सर्वथा अभाव होता है। जीव भी सर्वथा अप्रत्यक्ष है अतः संसार में उस का भी सर्वथा अभाव है।

यद्यपि परमाणु भी चर्म चक्षु से दिखाई नहीं देता तथापि उसका अभाव नहीं माना जा सकता। कारण यह है कि वह जीव के समान सर्वथा अप्रत्यक्ष नहीं है। कार्यरूप में परिणत परमाणु का प्रत्यक्ष तो होता ही है किन्तु जीव का प्रत्यक्ष किसी भी प्रकार से नहीं होता। अतः उसका सर्वथा अभाव मानना चाहिए। [१५४६]

जीव अनुमान से सिद्ध नहीं होता

यदि कोई यह बात कहे कि जीव चाहे प्रत्यक्ष से गृहीत न हो, किन्तु उसे अनुमान से तो जाना जा सकता है अतः उसका अस्तित्व मानना चाहिए तो यह कहना भी युक्त नहीं। कारण यह है कि अनुमान भी प्रत्यक्ष पूर्वक ही होता है। जिस पदार्थ का कभी प्रत्यक्ष ही न हुआ हो, वह पदार्थ अनुमान से

भी नहीं जाना जा सकता। हमारा अनुभव है कि जब हम परोक्ष अग्नि का अनुमान करते हैं तब सब से पहले धूमरूप लिंग अथवा हेतु का प्रत्यक्ष होता ही है। यही नहीं अपितु पहले से ही प्रत्यक्ष प्रमाण द्वारा निश्चित किए गए लिंग-हेतु तथा लिंगी साध्य के अविनाभाव संबंध का—अर्थात् प्रत्यक्ष से निश्चित धूम तथा अग्नि के अविनाभाव संबंध का—स्मरण होता है। तभी धूम के प्रत्यक्ष से अग्नि का अनुमान किया जा सकता है अन्यथा नहीं। [१५५०]

प्रस्तुत में जीव के विषय में जीव के किसी भी लिंग का जीव के साथ संबंध प्रत्यक्ष प्रमाण द्वारा पूर्व गृहीत है ही नहीं, जिससे उस लिंग का पुनः प्रत्यक्ष होने पर उस संबंध का स्मरण हो और जीव का अनुमान किया जा सके।

कोई व्यक्ति यह कह सकता है कि सूर्य की गति का कभी भी प्रत्यक्ष नहीं हुआ फिर भी उस की गति का अनुमान हो सकता है, जैसे कि सूर्य गतिमान है क्योंकि वह कालांतर में दूसरे देश में पहुँच जाता है देवदत्त के समान। जिस प्रकार यदि देवदत्त प्रातःकाल यहाँ हो किन्तु सन्ध्या में अन्यत्र हो तो यह बात गमन के अभाव में शक्य नहीं उसी प्रकार सूर्य प्रातःकाल में पूर्व दिशा में होता है और सायंकाल में पश्चिम दिशा में। यह बात भी सूर्य की गतिशीलता के बिना संभव नहीं। इस प्रकार के सामान्यतोदृष्ट अनुमान से सर्वथा अप्रत्यक्ष रूप सूर्य की गति की सिद्धि हो सकती है इसी तरह सामान्यतोदृष्ट अनुमान से सर्वथा अप्रत्यक्षरूप जीव का अस्तित्व भी सिद्ध हो सकता है।

इस का उत्तर यह है कि देवदत्त का जो दृष्टान्त ऊपर दिया गया है उसमें सामान्यतः देवदत्त का देशान्तर में होना गतिपूर्वक ही है। यह बात प्रत्यक्ष सिद्ध है इस लिए इस दृष्टान्त से सूर्य की गति अप्रत्यक्ष होने पर भी देशान्तर में सूर्य को देखकर सूर्य की गति का अनुमान हो सकता है। किन्तु प्रस्तुत में जीव के अस्तित्व के साथ अविनाभावी किसी भी हेतु का प्रत्यक्ष नहीं होता जिस से जीव के उस हेतु के पुनर्दर्शन से अनुमान हो सके। अतः उक्त सामान्यतोदृष्ट अनुमान से भी जीव का अस्तित्व सिद्ध नहीं हो सकता। [१५५१]

जीव आगम प्रमाण से भी सिद्ध नहीं

आगम प्रमाण से भी जीव की सिद्धि नहीं हो सकती। वस्तुतः आगम प्रमाण अनुमान प्रमाण से पृथक् नहीं है। वह अनुमान रूप ही है। क्योंकि आगम के दो भेद हैं—एक दृष्टार्थ विषयक अर्थात् प्रत्यक्ष पदार्थ का प्रतिपादक और दूसरा अदृष्टार्थ विषयक—अर्थात् परोक्ष पदार्थ का प्रतिपादक। उनमें दृष्टार्थ विषयक आगम तो स्पष्टरूपेण अनुमान है क्योंकि मिट्टी के अमुक विशिष्ट आकार वाले पदार्थ को लक्ष्य में रखकर प्रयुक्त होने वाला 'घट' शब्द जब हम बार बार सुनते हैं तब हम निश्चय कर लेते हैं कि इस आकार वाले पदार्थ को 'घट' शब्द से प्रतिपादित किया गया है। इस प्रकार का निश्चय हो जाने के बाद जब कभी ह

जब शब्द का श्रवण करते हैं तब यह अनुमान कर लेते हैं कि वक्ता घट शब्द से अमुक विशिष्ट आकार वाले पदार्थ का ही प्रतिपादन करता है। इस तरह दृष्टार्थ विषयक आगम अनुमान ही है। प्रस्तुत में 'जीव' यह शब्द हमने कभी भी शरीर से भिन्न अर्थ में प्रयुक्त हुआ सुना ही नहीं है। तो फिर जीव शब्द का श्रवण करने पर हम दृष्टार्थ विषयक आगम से उसकी सिद्धि कैसे कर सकते हैं? अर्थात् दृष्टार्थ विषयक आगम से भी शरीर से भिन्न जीव की सिद्धि नहीं होती।

स्वर्ग-नरक आदि पदार्थ अदृष्ट अथवा परोक्ष हैं। इस प्रकार के पदार्थों के प्रतिपादक वचन को अदृष्टार्थ विषयक आगम कहते हैं। यह आगम भी अनुमान रूप है। इस बात को हम इस प्रकार सिद्ध कर सकते हैं—उक्त अदृष्टार्थ के प्रतिपादक वाक्य का प्रामाण्य निम्न प्रकारेण सिद्ध होता है—स्वर्ग-नरकादि का प्रतिपादक वचन प्रमाण है क्योंकि वह चन्द्र ग्रहण आदि वचन के समान अविसंवादी वचन वाले आप्त पुरुष का वचन है। इस प्रकार यह अदृष्टार्थ विषयक आगम भी अनुमान रूप ही है। प्रस्तुत में ऐसा कोई भी आप्त पुरुष सिद्ध नहीं है जिसे आत्मा प्रत्यक्ष हो और जिसके आधार पर इस सम्बन्ध में उस का वचन प्रमाण माना जाए तथा इस प्रकार जीव के अप्रत्यक्ष होने पर भी उसका अस्तित्व मान लिया जाए। इस प्रकार आगम प्रमाण से भी जीवसिद्धि सम्भव नहीं। [१५५२]

जीव के विषय में आगमों में परस्पर विरोध

पुनश्च तथाकथित आगम भी आत्मा के विषय में परस्पर विरुद्ध मत का प्रतिपादन करते हैं अतः आत्मा के अस्तित्व में सन्देह का अवकाश रहता ही है। जैसे कि चार्वाकों के शास्त्र में कहा है कि 'जो कुछ इन्द्रियों द्वारा ग्राह्य है उतना ही लोक है।'[1] अर्थात् आत्मा इन्द्रियों द्वारा ग्राह्य न होने के कारण अभाव स्वरूप ही है। इसके समर्थन में किसी ऋषि[2] की उक्ति भी है कि इन भूतों में से विज्ञानघन समुत्थित होता है और भूतों के नष्ट होने पर वह भी नष्ट हो जाता है। परलोक जैसी कोई चीज नहीं है।[3] भगवान् बुद्ध ने भी आत्मा का अभाव बताते हुए कहा है

---

१ एतावानेव लोकोऽयं यावानिन्द्रियगोचरः ।
भद्रे वृकपदं पश्य यद् वदन्ति विपश्चितः ॥
उत्तरार्द्ध का भावार्थ—हे भद्रे! वृक पद को भी देखो तथा विद्वान् उसके आधार पर जिन परस्पर विरुद्ध पदार्थों का अनुमान करते हैं उन्हें भी देखो। इससे अनुमान को प्रमाण मानना चाहिए। यह पद्य षड्दर्शन समुच्चय में 81वाँ तथा लोकतत्वनिर्णय में 290वाँ है।

२ वृत्ति में लिखा है 'भट्टोऽप्याह'। किन्तु यह वाक्य कुमारिल का नहीं है अतः उक्त कथन युक्त नहीं। यह वाक्य उपनिषद् का है।

३ विज्ञानघन एवैतेभ्यो भूतेभ्यः समुत्थाय तान्येवानु विनश्यति न च प्रेत्य संज्ञाऽस्ति। बृहदारण्यक उप० 2. 4. 12 यह वाक्य ऋषि याज्ञवल्क्य का है।

कि 'रूप पुद्गल नहीं है।'[1] अर्थात् यहाँ स्पष्ट रूप से जीव नहीं है। इस प्रकार प्रारम्भ कर सभी प्रसिद्ध वस्तुओं का एक एक करके लक्ष्य में रख कर भगवान बुद्ध ने सिद्ध किया कि जीव नहीं है। इसके विपरीत आत्मा का अस्तित्व बताने वाले आगम वचन भी उपलब्ध होते हैं जैसा कि वेद में कहा है—सशरीर आत्मा के प्रिय और अप्रिय—अर्थात् सुख और दुख का नाश नहीं है किन्तु शरीर रहित जीव को प्रिय और अप्रिय का स्पर्श भी नहीं है। अर्थात् उसे सुख-दुख होता ही नहीं है।[2] फिर यह भी कथन है कि स्वर्ग का इच्छुक अग्निहोत्र करे।[3] सांख्य के आगम में कहा है कि पुरुष आत्मा अकर्ता निर्गुण भोक्ता और चिद्रूप है।[4] इस प्रकार आगमों के परस्पर विरुद्ध होने के कारण आगम प्रमाण से भी आत्मा की सिद्धि नहीं हो सकती।

उपमान प्रमाण से जीव असिद्ध है

उपमान प्रमाण से भी आत्मा की सिद्धि शक्य नहीं है कारण यह है कि यदि विश्व में आत्मा जैसा कोई अन्य पदार्थ हो तब उसकी उपमा आत्मा से दी जा सकती है और फिर आत्मा का ज्ञान प्राप्त किया जा सकता है। किन्तु आत्म सदृश कोई पदार्थ है ही नहीं। अत उपमान से भी आत्मा की सिद्धि नहीं हो सकती।

कोई व्यक्ति यह भी कह सकता है कि काल आकाश दिक् ये सब अमूर्त होने के कारण आत्मा के सदृश हैं अत उपमान प्रमाण से आत्मा की सिद्धि हो सकती है। इसका उत्तर यह है कि जैसे आत्मा असिद्ध है वैसे ही कालादि भी प्रत्यक्ष न होने के कारण असिद्ध है। अत उपमान प्रमाण आत्मा की सिद्धि नहीं कर सकता।

अर्थापत्ति से भी जीव असिद्ध है

अर्थापत्ति प्रमाण से भी आत्मा सिद्ध नहीं हो सकती, कारण यह है कि ससार में ऐसा एक भी पदार्थ नहीं जिसका अस्तित्व उसी दशा में सिद्ध हो सकता है जबकि आत्मा को माना जाए।

इस प्रकार तुम समझते हो कि जीव सब प्रमाणातीत है अर्थात किसी भी प्रमाण से उसकी सिद्धि नहीं हो सकती अत उसका अभाव मानना चाहिए। फिर

---

१ न रूप भिक्खवे अनत्ता। पुद्गल इस विषय की बौद्ध त्रिपिटक में विस्तृत चर्चा है। सयुक्त निकाय 12 70 32 37 दीघनिकाय महानिदान सुत्त 15, मज्झिम निकाय छक्क-सुत्त 148 मैंने इस विषय की चर्चा न्यायावतारवार्तिक वृत्ति की प्रस्तावना में की है-देखें पृ० 6

२ न ह वै सशरीरस्य प्रियाप्रिययोरपहतिरस्ति अशरीर वा वसन्त प्रियाप्रिये न स्पृशत । छान्दोग्य उपनिषद् 8 12 1

३ अग्निहोत्र जुहुयात स्वर्गकाम मैत्रायणी उपनिषद् 3 6 36

४ अस्ति पुरुषोऽकर्ता निर्गुणो भोक्ता चिद्रूप । इसके साथ तुलना करें —
अमूर्तश्चेतनो भोगी नित्य सर्वगतोऽक्रिय । अकर्ता निर्गुण सूक्ष्म आत्मा कापिलदर्शने ॥
यह पद्य स्याद्वादमञ्जरी पृष्ठ 96 पर उद्धृत है।

भी बहुत से लोग जीव का अस्तित्व स्वीकार करते है अत तुम्हे सशय है कि जीव की सत्ता है या नही ? [१५५३]

संशय का निवारण

हे गौतम ! जीव के विषय मे तुम्हारा सन्देह उचित नही है। तुम्हारा यह कहना कि जीव प्रत्यक्ष नही' अयुक्त है क्योंकि जीव तुम्हे प्रत्यक्ष है ही।

संशय विज्ञान रूप से जीव प्रत्यक्ष है

इन्द्रभूति—यह कैसे ?

भगवान्—जीव है या नही इस प्रकार का जो सशय रूप विज्ञान है वही जीव है क्योंकि जीव विज्ञानरूप है। तुम्हे तुम्हारा सन्देह तो प्रत्यक्ष ही है क्योंकि वह विज्ञानरूप है। जो विज्ञानरूप होता है वह स्वसवेदन प्रत्यक्ष से स्वसविदित होता ही है अन्यथा विज्ञान का ज्ञान घटित नही हो सकता। इस प्रकार सशय रूप विज्ञान यदि तुम्हें प्रत्यक्ष हो तो उस रूप मे जीव भी प्रत्यक्ष ही है। जो प्रत्यक्ष हो उसकी सिद्धि मे अन्य प्रमाण अनावश्यक है। जैसे अपने शरीर मे सुख-दुखादि का जो अनुभव होता है वह स्वसविदित होने से प्रत्यक्ष सिद्ध है और सुख-दुखादि की सिद्धि मे प्रत्यक्षतर प्रमाण अनावश्यक है उसी प्रकार जीव भी स्वसविदित होने के कारण अपनी सिद्धि के लिए अन्य प्रमाण की अपेक्षा नही रखता।

इन्द्रभूति—जीव चाहे प्रत्यक्ष सिद्ध हो किन्तु उसकी अन्य प्रमाणो से सिद्धि करना आवश्यक है। जैसे इस विश्व के पदार्थ यद्यपि प्रत्यक्ष सिद्ध है तथापि शून्यवादी को समझाने के लिए अनुमान आदि प्रमाणो से उनकी सिद्धि करनी पडती है उसी प्रकार जीव के प्रत्यक्ष सिद्ध होने पर भी उसकी इतर प्रमाणो से सिद्धि आवश्यक है।

भगवान्—शून्यवादी की चर्चा मे भी वस्तुत अनुमानादि प्रमाणो द्वारा विश्व के पदार्थों की सिद्धि नही करनी पडती किंतु यदि शून्यवादियो ने विश्व के पदार्थों के अस्तित्व के सम्बन्ध मे बाधक प्रमाण[1] दिए हो तो उनका निराकरण ही किया जाता है। प्रस्तुत मे आत्म ग्राहक प्रत्यक्ष का कोई बाधक प्रमाण ही नही है अत उसके निराकरण का प्रश्न ही उपस्थित नही होता। अर्थात् आत्म-सिद्धि मे प्रत्यक्षतर प्रमाण अनावश्यक ही है। [१५५४]

1 शून्यवादी सब वस्तुओं की शून्यता सिद्ध करने के लिए इस प्रकार अनुमान करते है—निरालम्बना सर्वे प्रत्यया प्रत्ययत्वात् स्वप्नप्रत्ययवत्—(प्रमाणवार्तिकालकार-पृ० 2)—अर्थात् सभी ज्ञानों का कोई विषय ही नहीं है ज्ञान होने से स्वप्नज्ञान के समान। यह विज्ञानवादियो का अनुमान है। वे विज्ञान भिन्न कोई बाह्य वस्तु नहीं मानते। इसी का उपयोग बाह्य वस्तु का बाधक बताने के लिए शून्यवादी भी करते हैं।

अहंप्रत्यय से जीव का प्रत्यक्ष

इन्द्रभूति—आपने कहा है कि संशय विज्ञान रूप से जीव प्रत्यक्ष है। यह बात ठीक है किन्तु किसी अन्य रीति से वह प्रत्यक्ष होता हो तो बताएँ।

भगवान्—'मैंने किया' 'मैं करता हूँ' 'मैं करूँगा' इत्यादि प्रकार से तीनों काल सम्बन्धी अपने विविध कार्यों का जो निर्देश किया जाता है, उसमें 'मैं' पन का जो अहंरूप ज्ञान होता है वह भी आत्म-प्रत्यक्ष ही है। यह अहंरूप ज्ञान किसी भी प्रकार अनुमान रूप नहीं क्योंकि वह लिंगजन्य नहीं है। यह आगम प्रमाण रूप भी नहीं है क्योंकि आगम से अनभिज्ञ सामान्य लोगों को भी अहंपन का अन्तर्मुख ज्ञान होता ही है और वही आत्मा का प्रत्यक्ष है। घटादि पदार्थों में आत्मा नहीं है अतः उन्हें इस प्रकार के अहंपन का अन्तर्मुख आत्म प्रत्यक्ष भी नहीं होता। [१५५५]

फिर यदि जीव का अस्तित्व ही नहीं है, तो उसे 'अहं' इस प्रत्यय का भान कहाँ से हो सकता है? क्योंकि ज्ञान निर्विषय तो होता नहीं। यदि 'अहं' प्रत्यय के विषयभूत आत्मा का स्वीकार न किया जाए तो 'अहं'-प्रत्यय विषय रहित बन जाता है। ऐसी स्थिति में अहं प्रत्यय होगा ही नहीं।

अहंप्रत्यय देह विषयक नहीं

इन्द्रभूति—अहं प्रत्यय का विषय जीव के स्थान पर यदि देह को माना जाए तो भी अहंप्रत्यय निर्विषय नहीं हो पाता। 'मैं काला हूँ' 'मैं दुबला हूँ' इत्यादि प्रत्ययों में 'मैं' स्पष्टतः शरीर को लक्ष्य में रख कर प्रयुक्त हुआ है। अतः 'मैं' का यदि देह माना जाए तो इसमें क्या आपत्ति है?

भगवान्—यदि 'मैं' शब्द का प्रयोग शरीर के लिए ही होता हो तो मृत देह में भी अहंप्रत्यय होना चाहिए। ऐसा नहीं होता, अतः 'अहं' पन के ज्ञान का विषय देह नहीं अपितु जीव है। पुनश्च, इस प्रकार अहंप्रत्यय से तुम्हें आत्मा प्रत्यक्ष हो है। फिर 'मैं हूँ या नहीं' इस संशय का अवकाश नहीं रहता। इससे विपरीत 'मैं हूँ ही' यह आत्म विषयक निश्चय होना ही चाहिए। ऐसी स्थिति में भी यदि तुम्हारा आत्मा के सम्बन्ध में संशय बना रहता है तो फिर अहंप्रत्यय का विषय क्या रह जाएगा? अर्थात् अहंप्रत्यय किस का होगा? कोई भी ज्ञान निर्विषय नहीं होता, अतः अहंज्ञान का भी कोई विषय मानना चाहिए। तुम आत्मा को स्वीकार नहीं करते, अतः तुम ही बताओ कि अहंप्रत्यय का विषय क्या है। [१५५६]

संशयकर्ता जीव ही है

पुनश्च यदि संशय करने वाला कोई न हो तो 'मैं हूँ या नहीं' यह संशय किस को होगा? संशय विज्ञान रूप है और विज्ञान एक गुण है। गुणी के बिना गुण की सम्भावना नहीं, अतः संशयरूप विज्ञान का कोई गुणी मानना ही चाहिए। संशय का आधार गुणी ही जीव है।

इन्द्रभूति—जीव के स्थान पर देह को ही गुणी मान लें क्योंकि देह में ही संशय उत्पन्न होता है।

भगवान—देह मूर्त है और जड है किन्तु ज्ञान अमूर्त और बोध रूप है। इस तरह यह दोनों अननुरूप है—विलक्षण हैं अतः इन दोनों का गुण गुणी भाव घटित नहीं हो सकता। अन्यथा आकाश में भी रूप गुण मानना पडेगा। अतः देह को संशय का गुणी नहीं माना जा सकता।

इसके अतिरिक्त जिसे स्वरूप में ही सन्देह हो—अपने विषय में ही सन्देह हो, उसके लिए समस्त विश्व में कोई भी चीज असंदिग्ध कैसे होगी? उसे सबमें ही संशय होगा।

आत्म-बाधक अनुमान के दोष

आत्मा के अहंप्रत्यय द्वारा प्रत्यक्ष होने पर भी तुम यह अनुमान करते हो कि आत्मा नहीं है—क्योंकि उसमें अस्तित्व अर्थात् भाव के ग्राहक पाँचों प्रमाणों की प्रवृत्ति नहीं है। तुम्हारे इस अनुमान में तुम्हारा पक्ष प्रत्यक्ष बाधित पक्षाभास—मिथ्यापक्ष सिद्ध होता है। जैसे कि शब्द का श्रवण द्वारा प्रत्यक्ष होता है फिर भी कोई कहे कि 'शब्द तो अश्रावण है'—अर्थात् वह कर्णग्राह्य नहीं तो उसका पक्ष प्रत्यक्ष बाधित होने के कारण पक्षाभास है। आत्मा नहीं तुम्हारा यह पक्ष अनुमान बाधित भी है। आत्म-साधक अनुमान आगे बताऊँगा। उस अनुमान से तुम्हारा पक्ष बाधित हो जाता है। जैसे कि मीमांसकों का यह पक्ष कि शब्द नित्य है नैयायिक आदि के शब्द की अनित्यता के साधक अनुमान द्वारा बाधित हो जाता है। पुनश्च मैं संशयकर्ता हूँ यह बात स्वीकार करने के पश्चात् आत्मा नहीं है अर्थात् मैं नहीं हूँ ऐसा कथन करने से तुम्हारा पक्ष स्वाभ्युपगम से भी बाधित होता है। इसका कारण यह है कि मैं संशयकर्ता हूँ यह कह कर मैं का स्वीकार तो किया ही गया है और अब मैं का निषेध करते हो अतः तुम्हारे इस मैं के निषेध की बात अपने प्रथम अभ्युपगम स्वीकार से ही बाधित हो जाती है। जैसे कि सांख्य आत्मा को पहले अकर्ता नित्य चैतन्य स्वरूप स्वीकार करके फिर यदि यह कहें कि वह कर्ता है अनित्य है अचेतन है तो उनका पक्ष स्वाभ्युपगम से बाधित हो जाता है। अनपढ़ लोग भी आत्मा का अस्तित्व स्वीकार करते हैं। अतः आत्मा नहीं तुम्हारा यह पक्ष लोकविरुद्ध भी है। जैसे शशि को अचन्द्र कहना लोक विरुद्ध है। तथा मैं आत्मा नहीं अर्थात् मैं मैं नहीं ऐसा कथन करना स्ववचन विरुद्ध भी है। जैसे कोई यह कहे कि मेरी माता वन्ध्या है।

इस प्रकार तुम्हारा पक्ष ही युक्त नहीं है। यह पक्षाभास है। अतः 'भावग्राहक पाँचों प्रमाणों की प्रवृत्ति नहीं' यह हेतु पक्ष का धर्म नहीं बन सकेगा इसलिए यह हेतु असिद्ध होगा। असिद्ध हेतु हेत्वाभास कहलाता है। उससे साध्य सिद्धि नहीं हो

के अनुरूप अमूर्त और अचाक्षुष आत्मा को देह से भिन्न गुणी के रूप में
चाहिए।

इन्द्रभूति—आप ज्ञानादि को देह के गुण नहीं मानते किन्तु इसमें प्र
बाधक है। ज्ञानादि गुण शरीर में ही दृष्टिगोचर होते हैं।

भगवान—ज्ञानादि गुणों के देह में होने का प्रत्यक्ष तो अनुमान बा
है अतः ज्ञानादि गुण देह में नहीं माने जा सकते, उन्हें देह से भिन्न आत्मा में
मानना चाहिए।

इन्द्रभूति—ज्ञानादि गुणों का देह में प्रत्यक्ष होना किस अनुमान से
बाधित है?

भगवान—देह में विद्यमान इन्द्रियों से विज्ञाता—आत्मा भिन्न है क्यों
इन्द्रियों के व्यापार के अभाव में भी उनसे उपलब्ध पदार्थों का स्मरण होता है।
जिस प्रकार झरोखे द्वारा देखी गई वस्तु को देवदत्त झरोखे के बिना भी याद
कर सकता है अतः देवदत्त झरोखे से भिन्न है उसी प्रकार इन्द्रियों के बिना भी
इन्द्रियों द्वारा उपलब्ध पदार्थों का स्मरण करने से आत्मा को इन्द्रियों से भिन्न मानना
चाहिए।[1] इस अनुमान से प्रत्यक्ष बाधित होने के कारण वह प्रत्यक्ष भ्रान्त है। अ
स्मरणादि विज्ञानरूप गुणों का गुणी देह नहीं हो सकता। [१५६२]

सर्वज्ञ को जीव प्रत्यक्ष है

मैं तुम्हें यह बता चुका हूँ कि तुम्हें भी आत्मा का प्रत्यक्ष है। तुम्हारा प्र
प्रत्यक्ष आंशिक है क्योंकि तुम्हें आत्मा का सब प्रकार से सम्पूर्ण प्रत्यक्ष नहीं है
किन्तु मुझे उसका सर्वथा प्रत्यक्ष है। तुम छद्मस्थ हो वीतराग नहीं अतः तुम्हें वस्तु
के अनन्त स्व और पर पर्यायों का साक्षात्कार नहीं हो सकता किन्तु वस्तु के एक दे
साक्षात्कार होता है। जिस प्रकार घटादि पदार्थ प्रदीप आदि से देश प्रका
होते हैं फिर भी यह कहा जाता है कि घट प्रकाशित हुआ, उसी प्रकार छद्मस्थ के
घटादि पदार्थों का प्रत्यक्ष आंशिक प्रत्यक्ष है फिर भी यह व्यवहार होता है कि घ
का प्रत्यक्ष हुआ। इसी आधार पर आत्मा के सम्बन्ध में तुम्हारे आंशिक प्रत्यक्ष के लि
भी कहा जा सकता है कि तुम्हें आत्मा का प्रत्यक्ष हो गया। मैं केवली हूँ अतः मे
ज्ञान अप्रतिहत और अनन्त है। मुझे आत्मा का सम्पूर्ण भाव से प्रत्यक्ष है। तुम्हा
संशय यद्यपि इन्द्रियों का अविषय था तथापि तुम्हारी आत्मा में विद्यमान संशय बाह्य इन्द्रिय
अग्राह्य था फिर भी मैंने उसे जान लिया। यह बात तुम्हें प्रत्यक्ष सिद्ध है। इस
प्रकार तुम्हें मानना चाहिए कि मुझे आत्मा का सम्पूर्ण साक्षात्कार हुआ है। [१५६३]

---

1 इस विषय का विस्तृत विवेचन नास्तिक वाद के बाद होने वाले वाद में किया गया की गई है।

इन्द्रभूति—अपनी देह में मुझे आत्मा का अस्तित्व प्रत्यक्ष है इस बात को मानने में मुझे अब कोई आपत्ति नहीं। किन्तु दूसरों की देह में आत्मा है यह मैं कैसे जान सकता हूँ ?

अन्य देह में आत्म सिद्धि

भगवान्—इस प्रकार अनुमान से तुम यह समझ लो कि दूसरों की देह में भी विज्ञानमय आत्मा है। दूसरों के शरीर में भी विज्ञानमय जीव है क्योंकि उनकी इष्ट में प्रवृत्ति और अनिष्ट से निवृत्ति देखी जाती है। जैसे हमारी इष्ट में प्रवृत्ति और अनिष्ट से निवृत्ति होती है इसलिए हमारे शरीर में आत्मा है। इसी प्रकार दूसरों के शरीर में भी आत्मा की सत्ता होनी चाहिए। यदि दूसरों के शरीर में आत्मा न हो, तो घटादि के समान उनकी भी इष्ट में प्रवृत्ति और अनिष्ट में निवृत्ति न हो। अतः पर-देह में भी आत्मा माननी चाहिए। [१५६४]

इन्द्रभूति—आपके साथ इतनी चर्चा करने से यह तो ज्ञात होता है कि आत्मा है, किन्तु मेरे विचारों में आपको यदि कोई असंगति प्रतीत हुई हो तो उसे प्रकट करना उचित होगा।

आत्म सिद्धि के लिए अनुमान

भगवान्—तुमने जो यह विचार किया[1] था कि 'जीव के किसी भी लिंग का जीव के साथ सम्बन्ध प्रत्यक्ष प्रमाण से पूर्वगृहीत है ही नहीं जैसे कि धूम के साथ अग्नि के सम्बन्ध भी देखे ही नहीं गए अतः लिंग द्वारा जीव का ग्रहण नहीं हो सकता'—इत्यादि [१५६५] उस विषय में यह जान लेना चाहिए कि यह एकान्त नियम नहीं है कि लिंगी-साध्य के साथ लिंग हेतु का पहले देखा हो तो ही बाद में लिंग से साध्य की सिद्धि होती है अन्यथा नहीं। कारण यह है कि हम ने भूत को हास्य गान रुदन हाथ पैर मारने की क्रिया अक्षि-विक्षेप आदि लिंगों के साथ कभी देखा नहीं, फिर भी इन लिंगों को देख कर दूसरे के शरीर में भूत का अनुमान होता है। उसी प्रकार आत्मा के साथ लिंग सम्बन्ध के अभाव में भी आत्मा का अनुमान हो सकता है यह स्वीकार करना चाहिए। [१५६६]

और आत्म-साधक अनुमान प्रयोग इस प्रकार भी हो सकता है—देह का कोई कर्ता होना चाहिए क्योंकि उसका घट के समान एवं आदि और प्रतिनियत निश्चित आकार है। जिसका कोई कर्ता नहीं होता उसका आदि और प्रतिनियत आकार भी नहीं होता—जैसे कि बादलों का। मेरु आदि नित्य पदार्थों का आकार प्रतिनियत तो होता है किन्तु उसकी आदि नहीं होती क्योंकि वे नित्य हैं। अतः हेतु में आदि विशेषण लगाया गया है। इस उक्त हेतु द्वारा मेरु जैसे प्रतिनियत

1 गाथा 1551

नही हो सकता । इसी न्याय से यदि तुम शरीर में आत्मा का भ्रम ही मानो तो भी आत्मा का अस्तित्व कहीं नही तो सिद्ध करना ही पडेगा । यदि जीव का सर्वथा अभाव हो तो उसका भ्रम नही हो सकता । [१५७२]

अजीव के प्रतिपक्षी रूप मे जीव की सिद्धि

अन्य प्रकार से भी जीव की सिद्धि की जा सकती है । अजीव का प्रतिपक्षी कोई होना चाहिए । कारण यह है कि अजीव मे व्युत्पत्ति वाले शुद्ध पद का प्रतिषेध हुआ है । जहा जहा व्युत्पत्ति वाले शुद्ध पदो का निषेध होता है वहाँ-वहाँ उनके प्रतिपक्षी अवश्य होते हैं । जैसे अघट का प्रतिपक्षी घट है । जब हम अघट कहते हैं, तब उसमे 'घट' रूप व्युत्पत्ति वाले पद का निषेध होता है । अत 'अघट' का विरोधी घट अवश्य विद्यमान है । जिसका प्रतिपक्षी नही होता उसमे व्युत्पत्ति वाले शुद्ध पद का निषेध भी नही होता । जैसे अखर विषाण अथवा अडित्थ । इसमे खर विषाण शुद्ध पद नही, क्योकि यह समास युक्त है । 'डित्थ'[1] का व्युत्पत्ति वाला नही है । अत दोनो को व्युत्पत्ति वाले शुद्ध पद नही कहा जा सकता । अत अखर विषाण के विरोधी खर विषाण तथा अडित्थ के विरोधी डित्थ की विद्यमानता आवश्यक नही, किंतु अजीव मे यह बात नही । उससे व्युत्पत्ति वाले शुद्ध पद जीव का निषेध हुआ है । अत जीव का अस्तित्व अवश्यभावी है ।

निषेध्य होने से जीव सिद्धि

पुनश्च, तुम कहते हो कि जीव नही है । इसी कथन से जीव का अस्तित्व सिद्ध हो जाता है । यदि जीव का सर्वथा अभाव हो, तो 'जीव नही है' ऐसा प्रयोग ही शक्य नही । जैसे दुनिया मे यदि घडा कही भी न हो, तो 'घडा नही है' ऐसा प्रयोग ही न होता । इसी प्रकार जीव के सर्वथा अभाव मे जीव नही है यह प्रयोग भी नही हो सकता । जब हम यह कहते है कि घट नही है तब घट हमारे सामने न होकर भी अन्यत्र अवश्य विद्यमान होता है । इसी प्रकार 'जीव नही है' ऐसा कथन करने पर यदि यहां नही तो अन्यत्र उसका अस्तित्व मानना ही चाहिए । जो वस्तु सर्वथा अभाव स्वरूप हो उसके विषय मे निषेध भी नही किया जाता । यह भी नही कहा जाता कि वह नही है । जैसे कि खर विषाण और छठे भूत के विषय मे । तुम जीव का निषेध करते हो अत तुम्हे उसका अस्तित्व मानना चाहिए । [१५७३]

इद्रभूति— खर विषाण नही है ऐसा प्रयोग होता तो है । फिर आप यह कैसे कहते है कि जिसका सत्व अस्तित्व न हो उसके विषय मे यह प्रयोग नही होता कि नही है और जिसके साथ 'नही है' इस शब्द का प्रयोग होता है, उसका आपके मत के अनुसार अवश्य अस्तित्व होता है । अत आपको खर विषाण का भी अस्तित्व मानना पडेगा क्योकि यह प्रयोग होता है कि खर विषाण नही है ।

---

[1] लकडी के हाथी को डित्थ कहते है ।

निषेध का अर्थ

भगवान्—मैं इस नियम पर दृढ़ हूँ कि जो सर्वथा असत् अर्थात् अविद्यमान होता है उसका निषेध नहीं हो सकता और जिसका निषेध होता है वह संसार में कहीं न कहीं विद्यमान होता ही है। वस्तुतः निषेध से वस्तु के सर्वथा अभाव का प्रतिपादन नहीं होता, किन्तु उसके संयोगादि के अभाव का प्रतिपादन होता है। अर्थात् देवदत्त जैसे किसी भी पदार्थ का जब हम निषेध करते हैं तब उसके सर्वथा अभाव का प्रतिपादन नहीं करते किन्तु अन्यत्र विद्यमान देवदत्त आदि का अन्यत्र संयोग नहीं अथवा समवाय नहीं अथवा सामान्य या विशेष नहीं यही बात बताना हमें इष्ट होता है। जब हम यह कहते हैं कि देवदत्त घर में नहीं है तब इस का तात्पर्य केवल यह होता है कि देवदत्त और घर दोनों का अस्तित्व होने पर भी दोनों का संयोग नहीं। इसी प्रकार जब हम यह कहते हैं कि खर विषाण नहीं तब इसका सार यही है कि खर और विषाण दोनों पदार्थ अपने अपने स्थान पर विद्यमान हैं परन्तु उन दोनों में समवाय सम्बन्ध नहीं है। इसी प्रकार जब हम यह कहते हैं कि दूसरा चन्द्र नहीं है तब चन्द्र का सर्वथा निषेध नहीं होता किन्तु चन्द्र सामान्य का निषेध होता है। अर्थात् एक व्यक्ति में सामान्य का अवकाश नहीं। जब हम यह कहते हैं कि घट जितना बड़ा मोती नहीं है तब मोती का सर्वथा निषेध अभिप्रेत नहीं होता किन्तु घट के परिमाण रूप विशेष का मोती में अभाव बताना ही हमारा लक्ष्य होता है। इसी प्रकार आत्मा नहीं है इस कथन में आत्मा का सर्वथा अभाव अभिप्रेत नहीं होना चाहिए किन्तु उसके संयोगादि का ही निषेध मानना चाहिए।

इन्द्रभूति—आपके नियमानुसार यदि मेरे सम्बन्ध में कभी यह कहा जाए कि तुम त्रिलोकेश्वर नहीं तो मैं तीनों लोकों का ईश्वर भी बन जाऊंगा क्योंकि मेरी त्रिलोकेश्वरता का निषेध किया गया है। किन्तु आप यह जानते हैं कि मैं तीन लोक का ईश्वर नहीं हूँ। अतः यह नियम अयुक्त है कि जिसका निषेध किया जाए वह पदार्थ होना ही चाहिए। अपि च आप के मत में निषेध उक्त चार प्रकार के हैं। अतः यह कहा जा सकता है कि पाँचवें प्रकार का निषेध नहीं है किन्तु आप के बताए हुए नियम से निषेध का पाँचवाँ प्रकार भी होना चाहिए। कारण यह है कि आप उसका निषेध करते हैं।

भगवान्—तुम मेरे कथन के तात्पर्य को भलीभाँति समझ नहीं सके अन्यथा ऐसा प्रश्न ही उत्पन्न नहीं होता। जब यह कहा जाता है कि 'तुम तीन लोक के ईश्वर नहीं हो' तब तुम्हारी ईश्वरता का सर्वथा निषेध अभिप्रेत नहीं होता क्योंकि तुम अपने शिष्यों के ईश्वर तो हो ही। अतः त्रिलोकेश्वरता रूप विशेष मात्र का ही निषेध अभीष्ट है। इसी प्रकार पाँचवें प्रकार के निषेध का तात्पर्य इतना ही है कि प्रतिषेध पाँच संख्या में विशिष्ट नहीं है। प्रतिषेध का सर्वथा अभाव अभिप्रेत ही नहीं है।

इन्द्रभूति—मुझे आपकी ये सब बातें सर्वथा असम्बद्ध प्रतीत होती हैं। आप इस बात की ओर ध्यान नहीं देते कि मेरी त्रिलोकेश्वरता मूल में ही असत् अथवा अविद्यमान है अतः असत् का ही निषेध किया गया है। इसी प्रकार प्रसिद्ध का पाँचवाँ प्रकार भी सर्वथा असत् है, इसीलिए उसका निषेध किया गया है। इसी प्रकार संयोग, समवाय, सामान्य और विशेष, ये सब भी असत् ही हैं, इसलिए घर आदि में उनका निषेध किया गया है। इन सब बातों से यही सिद्ध होता है कि जो असत् है उसका निषेध होता है, अतः आपका यह कथन अयुक्त है कि जिसका निषेध होता है वह विद्यमान ही होता है।

सर्वथा असत् का निषेध नहीं

भगवान्—मेरे कथन को ठीक तरह समझने का प्रयत्न करोगे तो वह तुम्हें युक्तिपूर्ण ज्ञात होगा। मैंने यह नहीं कहा कि जिसका निषेध किया जाता है वह सर्वत्र सर्वथा होता है। मेरे कहने का भावार्थ इतना ही है कि जहाँ जिस वस्तु का निषेध किया जाए वह चाहे वहाँ न हो, तथापि वह अन्यत्र विद्यमान होती है। देवदत्त का संयोग घर में भले ही न हो किन्तु अन्यत्र मार्ग में अथवा किसी दूसरे के घर में तो देवदत्त का संयोग विद्यमान ही होता है। इसी प्रकार समवाय, सामान्य और विशेष के विषय में यह निश्चित है कि एक जगह यदि उनका निषेध किया जाए तो वे अन्यत्र विद्यमान ही होते हैं।

इन्द्रभूति—आपकी बात मान कर ही यदि मैं यह कहूँ कि शरीर में जीव नहीं तो इसमें क्या दोष है? शरीर में अविद्यमान जीव का ही मैं निषेध करता हूँ और आप शरीर में भी जीव मानते हैं। मुझे इस पर आपत्ति है।

शरीर जीव का आश्रय है

भगवान्—तुमने यह कह कर मेरा परिश्रम कम कर दिया है। मेरा मुख्य उद्देश्य जीव के अस्तित्व को सिद्ध करना है। यदि उसकी सिद्धि हो जाए तो शरीर में उसका आश्रय स्वतः सिद्ध हो ही जाएगा क्योंकि जीव निराश्रय नहीं है। तुमने शरीर में जीव का निषेध किया है इससे उसकी विद्यमानता उक्त नियम से सिद्ध हो ही जाती है। अब इस प्रश्न पर विचार करना है कि वह वस्तुतः शरीर में है या नहीं? जब शरीर में जीव की उपस्थिति के चिह्न (नानादि) दिखाई देते हों, तो शरीर में जीव क्यों न माना जाए? तुम ही इस बात का [illegible] बताओ।

इन्द्रभूति—शरीर में जीव मानने के स्थान पर शरीर को ही जीव क्यों न मान लिया जाए?

भगवान्—जब तक शरीर में जीव होता है तब तक [illegible] है। शरीर में जीव का सम्बन्ध टूट जाने पर [illegible]। [illegible] [illegible]

जीव-पद सार्थक है

अपि च 'जीव' पद घट पद के समान व्युत्पत्ति युक्त शुद्ध पद होने के कारण सार्थक होना चाहिए—अर्थात् जीव पद का कुछ अर्थ होना चाहिए। जो पद सार्थक नहीं होता, वह व्युत्पत्ति युक्त शुद्ध पद भी नहीं होता जैसे डित्थ या खर विषाण आदि पद। जीव पद वैसा नहीं है—यह व्युत्पत्ति वाला पद है अतः उसका अर्थ होना ही चाहिए।

इन्द्रभूति—देह ही जीव पद का अर्थ है। उससे भिन्न कोई वस्तु जीव पद का अर्थ नहीं है। शास्त्र-वचन भी है[1] 'जीव शब्द का व्यवहार देह के लिए ही होता है जैसे कि यह जीव है, वह इसका घात नहीं करता।' तात्पर्य यह है कि आप जीव को तो नित्य मानते हैं अतः इसके घात का प्रश्न ही उपस्थित नहीं होता शरीर का ही घात होता है। अतः उक्त वचन में जीव के घात का जो निषेध बताया गया है, वह जीव शब्द का अर्थ शरीर मान कर ही है।

जीव पद का अर्थ देह नहीं

भगवान—'जीव' पद का अर्थ शरीर नहीं हो सकता। कारण यह है कि जीव शब्द के पर्याय शरीर शब्द के पर्यायों से भिन्न हैं। जिन शब्दों के पर्यायों में भेद हो उन शब्दों के अर्थ में भी भेद होना चाहिए। जैसे घट शब्द और आकाश शब्द के पर्याय भिन्न भिन्न हैं और उनके अर्थ भी भिन्न हैं। इसी प्रकार जीव और शरीर के भी पर्याय भिन्न भिन्न हैं, जैसे कि जीव के पर्याय हैं—जन्तु प्राणी सत्त्व आत्मा आदि। शरीर के पर्याय हैं—देह वपु काय कलेवर आदि। इस प्रकार पर्याय का भेद होने पर भी यदि अर्थ में अभेद हो तो संसार में वस्तु भेद ही नहीं रह सकता सभी को एक रूप ही मानना पड़ेगा। उक्त शास्त्र-वचन में शरीर को जो जीव कहा गया है वह उपचार से है क्योंकि जीव प्रायः शरीर का सहचारी है और शरीर में ही अवस्थित है। इसीलिए शरीर में जीव का उपचार कर दिया जाता है। वस्तुतः जीव और शरीर भिन्न भिन्न ही है। यदि ऐसा न हो तो लोगों का यह कहना कि 'जीव तो चला गया अब शरीर को जला दो,' शक्य नहीं हो सकता।

फिर, देह और जीव के लक्षण भी भिन्न हैं। जीव ज्ञानादि गुण युक्त है जब कि देह जड़ है। अतः देह ही जीव कैसे हो सकता है? अतः तुम्हें दोनों को पृथक् ही मानना चाहिए। मैं तुम्हें यह पहले ही समझा चुका हूँ कि ज्ञानादि गुण देह में सम्भव नहीं क्योंकि देह मूर्त है—इत्यादि। [१७७५-७६]

सर्वज्ञ-वचन द्वारा जीव सिद्धि

इस प्रकार मैंने प्रत्यक्ष और अनुमान से जीव का अस्तित्व सिद्ध किया है।

---

1 देह एवाऽयमनुप्रयुज्यमानो दृष्टः अयं जीवः, एनं न हिनस्ति।

आकाश एक है और विशुद्ध है, फिर भी तिमिर रोग वाला पुरुष उस अनेक रेखाओं से चित्र विचित्र देखता है। इसी प्रकार ब्रह्म विकल्प शून्य है एक और विशुद्ध है। तदपि माना वह अविद्या से कलुषित न हो गया हो भिन्न अथवा अनेक रूपों से भासित होता है। [1]

'जिसका मूल उर्ध्व आकाश में है और शाखाएँ नीचे जमीन में है ऐसे अश्वत्थ वृक्ष को अव्यय शाश्वत कहा गया है। छन्द उसके पत्ते हैं। जो उसे जानता है वही वेदज्ञ (ब्रह्मज्ञ) है। [2]

उपनिषदों में भी कहा है— जो कुछ था और जो कुछ होगा वह सब पुरुष रूप ही है वह पुरुष ही अमृत का स्वामी है जो अन्न से बढ़ता है। [3] 'जो काँपता है जो नहीं काँपता, जो दूर है जो निकट है जो सब के अंतर में है और जो सबके बाहर है—यह सब पुरुष ही है। [4]

इस प्रकार सब कुछ ब्रह्म रूप ही मान तो क्या हानि है ?

जीव अनेक हैं

भगवान—हे गौतम ! नारक देव मनुष्य तथा तिर्यंच इन सब पिण्डों में आकाश के समान यदि एक ही आत्मा हो तो क्या हानि है ? यह तुम्हारा प्रश्न है किन्तु आकाश के समान सब पिण्डों में एक आत्मा सम्भव नहीं। कारण यह है कि आकाश का सर्वत्र एक ही लिंग अथवा लक्षण अनुभव में आता है। अतः आकाश एक ही है

---

1 यथा विशुद्धमाकाशं तिमिरोपप्लुतो जनः।
संकीर्णमिव मात्राभिर्भिन्नाभिरभिमन्यते॥
तथेदममलं ब्रह्म निर्विकल्पमविद्यया।
कलुषत्वमिवापन्नं भेदरूपं प्रकाशते॥ बृहदारण्यक भाष्य वार्तिक 3 4 43-44

2 ऊर्ध्वमूलमधः शाखमश्वत्थं प्राहुरव्ययम्।
छन्दांसि यस्य पर्णानि यस्तं वेद स वेदवित्॥ भगवद्गीता 15 1 योगशिखोपनिषद् 6 14

3 'पुरुष एवेदं ग्नि सर्वं यद् भूतं यच्च भाव्यम् उतामृतत्वस्येशानो यदन्नेनातिरोहति। मुद्रित विशेषावश्यक भाष्य की टीका में पुरुष एवेदं ग्नि सर्वं ऐसा पाठ है किन्तु वस्तु स्थिति और है। यह मन्त्र ऋग्वेद 10 90 2 सामवेद 619 यजुर्वेद 31 2 तथा अथर्व वेद 19 6 4 में है। पाठ पुरुष एवेदं सर्वं ऐसा ही है। केवल यजुर्वेदी पाठ के बीच में आने वाले अनुस्वार के स्थान में गुं उच्चारण करते हैं और ऋग्वेदी अथवा अथर्ववेदी वैसा उच्चारण न करके अनुस्वार को अनुस्वार रूप में ही उच्चारण करते हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि यजुर्वेदी के इस उच्चारण भेद को लिपि में बद्ध करते हुए काल क्रम से ग्नि विपर्यास हो गया है।

4 यदेजति यन्नैजति यद् दूरे यद्वन्तिके।
यदन्तरस्य सर्वस्य यत् सर्वस्यास्य बाह्यतः॥ ईशावास्योपनिषद् मन्त्र 5

भगवान्—क्योंकि संसार की सभी वस्तुएँ सामान्य हैं।

इन्द्रभूति—यह कैसे ?

वस्तु की सर्वमयता

भगवान—वस्तु की पर्याय दो प्रकार की है—स्वपर्याय तथा परपर्याय। इन दोनों पर्यायों की अपेक्षा से विचार किया जाए तो वस्तु सामान्य रूप से सर्वमय सिद्ध होती है किन्तु यदि केवल स्वपर्यायों की विवक्षा की जाए तो सर्व वस्तु विविक्त है, सब से व्यावृत्त है असर्वमय है। इस प्रकार यदि पद के प्रत्यक्ष पद का अर्थ विवक्षाधीन समझा जाए तो वह सामान्य विशेषात्मक ही होगा। किन्तु यह नहीं कहा जा सकता कि वह अमुक प्रकार का ही है और अमुक प्रकार का है ही नहीं। कारण यह है कि वस्तु वाच्य रूप हो अथवा वाचक (शब्द) रूप हो, किन्तु स्व पर-पर्याय की दृष्टि से तो विश्व रूप ही है ? अत सामान्य विवक्षा से 'घट' शब्द सर्वात्मक होने के कारण द्रव्य गुण क्रिया आदि समस्त अर्थों का वाचक है, किन्तु विशेषापेक्षा से वह प्रतिनियत रूप होने के कारण विशिष्ट आकार वाले मिट्टी आदि के पिण्ड का ही वाचक होता है। यही बात प्रत्यक्ष शब्द के विषय में कही जा सकती है कि वह सामान्य विवक्षा से सभी अर्थों का वाचक हो सकता है, किन्तु विशेषापेक्षा से जिस एक अर्थ में वह रूढ होता है उसी का वाचक बनता है। [१६०२-१६०३]

इस प्रकार जब जरा मरण से मुक्त भगवान् महावीर ने इन्द्रभूति का संशय दूर किया तब उसने अपने पाँचसौ शिष्यों के साथ भगवान् से दीक्षा ग्रहण कर ली। [१६०४]

आगे कर्म आदि की चर्चा के समय इस चर्चा के साथ जिस अंश में समान हो उसका वहाँ सम्बन्ध जोड कर चर्चा का मर्म समझ लेना चाहिए। उसमें जो विशेषता होगी वह मैं प्रतिपादित करूँगा। (ऐसा आचार्य जिनभद्र कहते हैं।) [१६०५]

द्वितीय गणधर अग्निभूति

कर्म के अस्तित्व की चर्चा

इन्द्रभूति की दीक्षा की बात सुन कर उसके छोटे भाई दूसरे विद्वान अग्नि भूति के मन में यह विचार उत्पन्न हुआ कि मैं भगवान महावीर के पास जाकर और उन्हें पराजित कर इन्द्रभूति को वापिस ले आऊँ। यह विचार कर वह क्रुद्ध होता हुआ भगवान के समीप पहुँचा। वह समझता था कि मेरा बड़ा भाई शास्त्रार्थ में तो अजेय है निश्चय पूर्वक श्रमण महावीर ने उस छल कपट से ठगा होगा। यह श्रमण कोई इन्द्रजालिक या मायावी होना चाहिए। न जाने उसने क्या-क्या किया होगा? वहाँ जो कुछ हुआ है उसे मैं अपनी आँखों से देखूँ और इस भेद का उद्घाटन करूँ। यह भी सम्भव है कि इन्द्रभूति को उन्होंने पराजित भी किया हो। यदि वे मेरे किसी भी पक्ष का पार पा जाएँ (मेरे सन्देह का निराकरण कर दें) तो मैं भी उनका शिष्य बन जाऊँगा। ऐसा कह कर वह भगवान के पास जा पहुँचा। [१६०६-१६०८]

जन्म जरा मरण से मुक्त भगवान ने उसे नाम और गोत्र से सम्बोधित करते हुए कहा, 'अग्निभूति गौतम! आओ'। कारण यह है कि भगवान् सर्वज्ञ सर्वदर्शी थे। किन्तु अग्निभूति ने विचार किया कि मुझे संसार में कौन नहीं जानता? अतः उन्होंने मुझे मेरे नाम व गोत्र से बुलाया इसमें कोई नई बात नहीं है किन्तु यदि वे मेरे मन के संशय को जान लें अथवा दूर कर दें तो अवश्य ही आश्चर्य की बात होगी। [१६०९]

कर्म के विषय में संशय

इस प्रकार जब वह विचार में तल्लीन था तब भगवान् ने उससे कहा— अग्निभूति! तुम्हारे मन में यह सन्देह है कि कर्म है अथवा नहीं? किन्तु तुम वेद-पदों का अर्थ नहीं जानते इसीलिए तुम्हें ऐसा सन्देह है। मैं तुम्हें उनका वास्तविक अर्थ बताऊँगा। [१६१०]

हे अग्निभूति! तुम यह समझते हो कि कर्म ... द किसी भी ज्ञान का विषय नहीं होता वह सब ... है, ... विषाण के समान अतीन्द्रिय होने से प्रत्यक्ष नहीं है ... प्रकार ... प्रत्यक्ष आदि सब प्रमाणों ... व को ... था ... सिद्ध करते हो कि

कर्म किसी भी प्रमाण का विषय नहीं—वह सब प्रमाणातीत है। अपने इस मत की पुष्टि के लिए तुम वेद के 'पुरुष एवेदं सर्वं'[1] इत्यादि वाक्यों का आश्रय लेते हो और कहते हो कि कर्म का अस्तित्व नहीं है, किन्तु वेद में ऐसे भी वाक्य उपलब्ध होते हैं जिन से कर्म का अस्तित्व मानना पड़ता है। जैसे कि 'पुण्यः पुण्येन कर्मणा पापः पापेन कर्मणा'[2] अर्थात् पुण्य कर्म से जीव पवित्र होता है और पाप कर्म से अपवित्र होता है इत्यादि। इससे तुम्हें सन्देह होता है कि वस्तुतः कर्म है या नहीं।

कर्म की सिद्धि

आपने मेरे सन्देह का कथन तो ठीक-ठीक कर दिया है, किन्तु यदि आप उसका समाधान भी कर दें तो मुझे आप की विद्वत्ता पर विश्वास हो जाएगा।

भगवान—सौम्य! तुम्हारा उक्त संशय अयुक्त है, क्योंकि मैं कर्म को प्रत्यक्ष देखता हूँ। तुम्हें चाहे वह प्रत्यक्ष नहीं है, किन्तु तुम अनुमान से उसकी सिद्धि कर सकते हो। कारण यह है कि सुख दुःख की अनुभूति-रूप कर्म का फल (कार्य) तो तुम्हें प्रत्यक्ष ही है। इसलिए अनुमानगम्य होने के कारण कर्म को सर्व प्रमाणातीत नहीं कहा जा सकता।

अग्निभूति—किन्तु यदि कर्म की सत्ता है तो आपके समान मुझे भी उसका प्रत्यक्ष क्यों नहीं होता?

भगवान—यह कोई नियम नहीं है कि जो वस्तु एक को प्रत्यक्ष हो वह सब को ही प्रत्यक्ष होनी चाहिए। सिंह, व्याघ्र आदि अनेक ऐसी वस्तुएँ हैं जिनका प्रत्यक्ष सभी मनुष्यों को नहीं होता तथापि यह कोई नहीं मानता कि संसार में सिंह आदि प्राणी नहीं हैं। अतः सर्वज्ञ रूप मेरे द्वारा प्रत्यक्ष किए गए कर्म का अस्तित्व तुम्हें स्वीकार करना ही चाहिए जैसे मैंने तुम्हारे संशय का प्रत्यक्ष कर लिया और तुमने उसका अस्तित्व मान लिया था।[3]

अपि च अतीन्द्रिय होने के कारण तुम परमाणु का प्रत्यक्ष तो नहीं करते परन्तु उसका कार्य रूप प्रत्यक्ष तो तुम मानते ही हो। कारण यह है कि तुम्हें परमाणु के घटादि कार्य प्रत्यक्ष हैं। इसी प्रकार तुम्हें कर्म स्वयं चाहे प्रत्यक्ष न हो तथापि उसका फल (कार्य) सुख-दुःखादि तो प्रत्यक्ष ही है। अतः तुम्हें कर्म का कार्य रूप में प्रत्यक्ष मानना ही चाहिए। [१६११]

अग्निभूति—आपने पहले कहा था कि कर्म अनुमानगम्य है। अब आप वह अनुमान बताएँ।

1 श्वेता० ३।१५। ऋग्वे०। इसकी विशेष चर्चा आगे गाथा 1643 में आएगी।
2 इसकी विशेष चर्चा 1643 में है। यह वाक्य बृहदारण्यक उप० (4 4 5) में है।
3 इसकी चर्चा गाथा 1577–79 में है।

कर्मसाधक अनुमान

भगवान्—सुख-दुःख का कोई हेतु अथवा कारण होना चाहिए क्योंकि वे कार्य हैं जैसे अंकुर रूप कार्य का हेतु बीज है। सुख-दुःख रूप कार्य का जो हेतु है वही कर्म है।

सुख दुःख मात्र दृष्टकारणाधीन नहीं

अग्निभूति—यदि सुख-दुःख का दृष्ट कारण सिद्ध हो तो अदृष्ट-रूप कर्म को मानने की क्या आवश्यकता है? हम देखते हैं कि सुगंधित फूलों की माला चन्दन आदि पदार्थ सुख के हेतु हैं और साप का विष, कांटा आदि पदार्थ दुःख के हेतु हैं। जब इन सब दृष्ट कारणों से सुख-दुःख होता हो तब उसका अदृष्ट कारण कर्म क्यों माना जाए?

भगवान्—दृष्ट कारण में व्यभिचार दृष्टिगोचर होता है अतः अदृष्ट कारण मानना पड़ता है। [१६१२]

अग्निभूति—यह कैसे?

भगवान्—सुख दुःख के दृष्ट साधन अथवा कारण समान रूप से उपस्थित होने पर भी उन के फल में (कार्य में) जो तारतम्य (विशेषता) दिखाई देता है वह निष्कारण नहीं हो सकता क्योंकि यह विशेषता घट के समान ही कार्य रूप है। अतः उस विशेषता का कोई जनक (हेतु) मानना ही चाहिए और वही कर्म है। जैसे कि सुख-दुःख के बाह्य साधन समान होने पर भी दो व्यक्तियों को उनसे मिलने वाले सुख-दुःख रूप फल में तारतम्य दृष्टिगोचर होता है। अर्थात् जिन साधनों से एक को सुख मिलता है उनसे दूसरे को कम या अधिक मिलता है। तुमने माला को सुख का दृष्ट कारण माना है किन्तु यदि इसी माला को कुत्ते के गले में डाली जाए तो वह उसे दुःख का कारण मान कर उससे छूटने का प्रयत्न क्यों करता है? फिर विष भी यदि सर्वथा दुःखदायी ही हो तो कितने ही रोगों में वह रोग निवारण द्वारा जीव को सुख क्यों प्रदान करे? अतः मानना पड़ेगा कि माला आदि सुख-दुःख के जो बाह्य साधन दिखाई देते हैं उनके अतिरिक्त भी उन से भिन्न और अन्तरंग कर्मरूप अदृष्ट कारण भी सुख-दुःख का हेतु है। [१६१३]

कर्म-साधक अन्य अनुमान

कर्म का साधक एक अन्य प्रमाण यह है—आद्य बाल शरीर देहान्तर पूर्वक है—अर्थात् देहान्तर का कार्य है क्योंकि वह इन्द्रिय आदि से युक्त है जैसे कि युवा शरीर बाल शरीर पूर्वक है। प्रस्तुत हेतु में आदि पद से सुख दुःख प्राणापान निमेष-उन्मेष, जीवन आदि धर्म भी समझ लेने चाहिए और इन धर्मों को भी हेतु बना कर उक्त साध्य की सिद्धि कर लेनी चाहिए। आद्य बाल शरीर जिस देहपूर्वक है वह कार्मण शरीर अर्थात् कर्म है।

अग्निभूति—पूर्वोक्त अनुमान से इतनी बात भी सिद्ध होती है कि बाल
शरीर देहान्तर पूर्वक है। अतः कार्मण शरीर के स्थान पर पूर्वभवीय स्थूल शरीर
को ही बाल शरीर के पूर्व का शरीर तथा उसका कारण मानना चाहिए।

कार्मण शरीर की सिद्धि

भगवान—पूर्वभव के स्थूल शरीर को बाल शरीर का कारण नहीं माना
जा सकता, क्योंकि अन्तराल गति में उसका सर्वथा अभाव ही होता है। अन्तराल गति में
बाल शरीर पूर्वभवीय स्थूल शरीर पूर्वक सम्भव ही नहीं है। अन्तराल गति में
भवीय शरीर का संचार इसलिए नहीं है कि मृत्यु होने के पश्चात् जीव उस
गति करता है जहाँ नया जन्म लेना हो। उस समय पूर्वभवीय शरीर छूट
है और नवीन शरीर का अभी ग्रहण नहीं होता। अतः अन्तराल गति में
औदारिक अथवा स्थूल शरीर से तो सर्वथा रहित होता है। इससे बाल शरीर
पूर्वभवीय औदारिक शरीर का कार्य नहीं कहा जा सकता। तब हम यह कह
सकते हैं कि वह पूर्व भव के शरीर पूर्वक है? और यदि जीव के कोई भी शरीर
न हो तो वह नियत गर्भ देश में कैसे जा सकता है? अतः नियत देश में प्राप्ति का
कारणभूत तथा नूतन शरीर की रचना का कारणभूत कोई शरीर तो स्वीकार
करना ही होगा। जैसे कहा जा चुका है उसके अनुसार ऐसा कारण औदारिक
शरीर तो नहीं हो सकता। अतः कर्मरूप कार्मण को ही बाल देह का कारण
समझना चाहिए। जीव अपने स्वभाव से ही नियत देश में पहुँच जाएगा, यह
मान्यता ठीक नहीं। इस विषय को मैं आगे स्पष्ट करूँगा।

शास्त्र में भी कहा है कि मृत्यु के उपरान्त जीव कार्मण योग से आहार करता
है।[1] अतः बाल शरीर को कार्मण शरीर पूर्वक मानना चाहिए। [१६१८]

चेतन की क्रिया सफल होने के कारण कर्म की सिद्धि

कर्म साधक तीसरा अनुमान यह है—दानादि क्रिया का कुछ फल होना ही
चाहिए क्योंकि वह सचेतन व्यक्ति द्वारा की गई क्रिया है, जैसे कि कृषि क्रिया।
सचेतन पुरुष कृषि क्रिया करता है तो उसे उसका फल धान्यादि प्राप्त होता है
उसी प्रकार दानादि क्रिया का कर्ता भी सचेतन है अतः उसे उसका कुछ न कुछ
फल मिलना चाहिए। जो फल प्राप्त होता है वह कर्म है।

अग्निभूति—पुरुष कृषि करता है किन्तु अनेक बार उसे धान्यादि फल की
प्राप्ति नहीं भी होती, अतः आपका यह हेतु व्यभिचारी है। इसीलिए यह नियम
नहीं बनाया जा सकता कि सचेतन द्वारा आरम्भ की गई क्रिया का कोई फल अवश्य
होना चाहिए।

---

1 "कार्मण कम्मएण आहारेई अणंतरं जीवो। सूत्रकृतांग नियुक्ति 177

भगवान्—तुम इस बात का स्वीकार करोगे कि बुद्धिमान् चेतन जो क्रिया करता है वह उसे फलवती मान कर ही करता है। फिर भी जहाँ क्रिया का फल नहीं मिलता वहाँ उसका अज्ञान अथवा सामग्री की विकलता या न्यूनता इस बात का कारण होता है। अत सचेतन द्वारा आरम्भ की गई क्रिया को निष्फल नहीं माना जा सकता। यदि ऐसी बात हो तो सचेतन पुरुष ऐसी निष्फल क्रिया में प्रवृत्ति ही क्यों करेगा ? यह तो मैं भी स्वीकार करता हूँ कि यदि दानादि क्रिया भी मन शुद्धि पूर्वक नहीं की जाती तो उसका कुछ भी फल नहीं मिलता। अत मेरे कथन का तात्पर्य इतना ही है कि यदि सामग्री का साकल्य अथवा पूर्णता हो तो सचेतन द्वारा प्रारब्ध क्रिया निष्फल नहीं होती।

अग्निभूति—आपके कथन के अनुसार दानादि क्रिया का फल मन ही हो किन्तु जैसे कृषि आदि क्रिया का दृष्ट फल धान्यादि है वैसे दानादि क्रिया का भी सब के अनुभव से सिद्ध मन प्रसाद रूप दृष्ट फल ही मानना चाहिए परन्तु कर्मरूप अदृष्ट फल नहीं मानना चाहिए। इस प्रकार तुम्हारा हेतु अभिप्रेत अदृष्ट कर्म के स्थान पर दृष्ट फल का साधक होने से विरुद्ध हेत्वाभास है। [१६१५]

भगवान—तुम भूलते हो। मन प्रसाद भी एक क्रिया है अत सचेतन की अन्य क्रियाओं के समान उसका भी फल होना चाहिए। वह फल कर्म है अत मेरे इस नियम में कोई दोष नहीं कि सचेतन द्वारा आरम्भ की गई क्रिया फलवती होती है।

अग्निभूति—मन प्रसाद का फल भी कर्म है, यह बात आप कैसे कहते हैं ?

भगवान—क्योंकि उस कर्म का कार्य सुख-दुःख भविष्य में पुन हमारे अनुभव में आते हैं।

अग्निभूति—आपने पहले दानादि क्रिया को कर्म का कारण बताया और और अब मन प्रसाद को कर्म का कारण बताते हैं, अत आपके कथन में पूर्वापर विरोध है।

भगवान—बात यह है कि कर्म का कारण तो मन प्रसाद ही है, किन्तु इस मन प्रसाद का कारण दानादि क्रिया है। अत कर्म के कारण के कारण में कारण का उपचार करके दानादि क्रिया को कर्म का कारण रूप माना जाता है। इस तरह पूर्वापर विरोध का परिहार हो जाता है। [१६१६]

अग्निभूति—इस सारे झगड़े को छोड़ कर सरल मार्ग से विचार किया जाए तो यह बात स्पष्ट हो जाएगी कि मनुष्य जब मन में प्रसन्न होता है तब ही वह दानादि करता है। दानादि करने पर उसे बाद में मन प्रसाद प्राप्त होता है इसलिए वह पुन दानादि करता है। इस तरह मन प्रसाद का फल दानादि है तथा

तुम्हारे मतानुसार पाप कर्म होंगे। अतः जो लोग कृषि का आरम्भ नहीं करते फिर तो मृत्यु के बाद उन्हें मोक्ष मिल जाना चाहिए। संसार में केवल कुछ धर्मिष्ठ लोग रह जाएँगे जो कि अदृष्ट के निमित्त दानादि क्रियाएँ करते हैं। किन्तु हम नित्य ही अनन्त जीव देखते हैं और उनमें भी अधर्मी ही अधिक हैं। अतः मानना होगा कि समस्त क्रियाओं का फल दृष्ट के अतिरिक्त अदृष्ट कर्म रूप फल भी होता है।

अग्निभूति—दानादि क्रिया के कर्ता को भले ही कर्म रूप अदृष्ट फल मिले, क्योंकि वह उस फल की कामना करता है किन्तु जो कृषि आदि क्रियाएँ करते हैं वे तो दृष्ट फल की ही अभिलाषा रखते हैं। फिर उन्हें भी अदृष्ट फल कर्म की प्राप्ति क्यों हो ?

न चाहने पर भी अदृष्ट फल मिलता है

भगवान्—तुम्हारी यह शंका अनुचित है। कारण यह है कि कार्य का आधार उसकी सामग्री पर होता है। मनुष्य की इच्छा हो या न हो, किन्तु जिस कार्य की सामग्री होती है, वह कार्य अवश्य उत्पन्न होता है। कोई व्यक्ति किसान अनजान में भी गेहूँ के स्थान पर बाजरा बो दे और उसे हवा, पानी आदि अनुकूल सामग्री मिल जाए तो कृषक की इच्छा न होने पर भी उसमें से बाजरा उत्पन्न हो ही जाएगा। इसी प्रकार हिंसा आदि पाप करने वाले लोग भले ही चाहें या न चाहें, किन्तु अधर्म रूप अदृष्ट कर्म उत्पन्न होता ही है।

दानादि क्रिया करने वाले विवेकशील पुरुष यद्यपि फल की इच्छा न करें, तथापि सामग्री होने पर उन्हें धर्म रूप फल मिलता ही है। [१६२०]

अतः यह बात मान लेनी चाहिए कि शुभ अथवा अशुभ सभी क्रियाओं का शुभ अथवा अशुभ अदृष्ट फल होता ही है। अन्यथा इस संसार में अनन्त संसारी जीवों की सत्ता ही सम्भव नहीं। कारण यह है कि अदृष्ट कर्म के अभाव में सभी प्राणी अनायास मुक्त हो जाएँगे क्योंकि उनके अदृष्ट न होने के कारण मृत्यु के बाद संसार का कारण कर्म रहेगा ही नहीं। किन्तु जो लोग अदृष्ट शुभ कर्म के निमित्त दानादि क्रियाएँ करते होंगे, उनके लिए ही यह क्लेश-बहुल संसार रह जाएगा। यह बात इस तरह होगी—जिसने दानादि शुभ क्रिया अदृष्ट के निमित्त की होगी, उसे कर्म का बन्ध होगा, उसे भोगने के लिए वह नया जन्म धारण करेगा। वहाँ पुनः कर्म के विपाक का अनुभव करते हुए वह दानादि क्रिया करेगा और नए जन्म की सामग्री तैयार करेगा। इस तरह तुम्हारे मतानुसार एक धार्मिक लोगों के लिए ही संसार होना चाहिए, अधार्मिकों के लिए मानो मोक्ष का निर्माण हुआ है। तुम्हारी मान्यता में ऐसी असंगति उपस्थित होती है।

अग्निभूति—इसमें असंगति क्या है? धार्मिक लोगों ने अदृष्ट के लिए प्रयत्न किया, अतः उन्हें वह प्राप्त हुआ और उनके संसार में वृद्धि हुई। हिंसादि

अशुभ क्रिया करने वाला न तो मांसादि इष्ट फल की ही इच्छा की थी और न ही उसकी प्राप्ति हो गई तो फिर उनकी संसार वृद्धि क्या हो ?

भगवान- असंगति क्या नहीं ? यदि हिंसादि क्रियाएं करने वाले सभी मोक्ष ही जाते रहे तो फिर इस संसार में हिंसादि क्रिया करने वाला कोई भी न रहे और हिंसादि क्रिया का फल भोगने वाला भी कोई न रहे। केवल दानादि शुभ क्रियाएं करने वाले और इनका फल भोगने वाले ही संसार में रह जाएंगे। किन्तु संसार में यह बात दिखाई नहीं देती। उसमें उक्त दोनों प्रकार के जीव दृष्टिगोचर होते हैं। [१६२१]

अनिष्ट रूप अदृष्ट का फल की प्राप्ति के लिए इच्छा पूर्वक कोई भी जीव कोई क्रिया नहीं करता फिर भी इस संसार में अनिष्ट फल भोगने वाले असंख्य जीव दृष्टिगोचर होते हैं। अतः हमें मानना पड़ेगा कि प्रत्येक क्रिया का अदृष्ट फल होता ही है। अर्थात् क्रिया शुभ हो अथवा अशुभ, उसका अदृष्ट रूप फल कर्म अवश्य होता है। इससे विपरीत दृष्ट फल की इच्छा करने पर दृष्ट फल की प्राप्ति अवश्य हो, ऐसा एकान्त नियम नहीं है। ऐसी स्थिति का कारण भी पूर्वबद्ध अदृष्ट कर्म ही होता है। सारांश यह है कि दृष्ट फल धान्य आदि के लिए कृषि आदि कर्म करने पर भी पूर्व-कर्म के कारण धान्य आदि दृष्ट फल शायद न भी मिले किन्तु अदृष्ट कर्म रूप फल तो अवश्य मिलेगा ही। कारण यह है कि चेतन द्वारा प्रारम्भ की गई कोई भी क्रिया निष्फल नहीं होती [१६२२-२३]

अथवा यह समस्त चर्चा अनावश्यक है। कारण यह है कि तुल्य साधना की उपस्थिति में भी फल की विशेषता अथवा तरतमता के कारण कर्म की सिद्धि पहले ही की जा चुकी है।[1] वहाँ यह बात स्पष्ट कर दी गई है कि फल विशेष कार्य है अतः इसका कारण अदृष्ट कर्म होना चाहिए जैसे घट का कारण परमाणु हैं। ऐसा कर्म की सिद्धि प्रस्तुत अनुमान में भी की गई है कि सचेतन क्रिया का कोई फल अदृष्ट कर्म रूप फल होना चाहिए जो उस क्रिया से भिन्न हो, क्योंकि कार्य कारण में भेद होता है। यहाँ क्रिया कारण है और कर्म कार्य है, अतः ये दोनों भिन्न भिन्न होने चाहिए। [१६२४]

अग्निभूति—यदि कार्य के अस्तित्व से कारण की सिद्धि होती हो तो शरीर आदि कार्य के मूर्त होने से कारण उसका कारण भी मूर्त ही होना चाहिए।

अदृष्ट होने पर भी कर्म मूर्त है

भगवान—मैंने यह कब कहा कि कर्म अमूर्त है। मैं कर्म को मूर्त ही मानता हूँ क्योंकि उसका कार्य मूर्त है। जैसे परमाणु का कार्य घट मूर्त होने से परमाणु

---

1 गा 1663

भी मूर्त है, वैसे कर्म भी मूर्त ही है। जो कार्य अमूर्त होता है उसका कारण भी अमूर्त होता है जैसे ज्ञान का समवायि कारण (उपादान कारण) आत्मा।

अग्निभूति—सुख-दुःख भी कर्म का कार्य है अतः कर्म को अमूर्त भी मानना चाहिए, क्योंकि सुख-दुःख भी अमूर्त है। ऐसी बात स्वीकार करने से कर्म मूर्त और अमूर्त सिद्ध होगा। यह सम्भव नहीं क्योंकि इसमें विरोध है। जो अमूर्त है वह मूर्त नहीं होता और जो मूर्त है वह अमूर्त नहीं होता।

भगवान—जब मैं इस नियम का प्रतिपादन करता हूँ कि मूर्त कार्य का मूर्त कारण तथा अमूर्त कार्य का अमूर्त कारण होना चाहिए तब उस कारण का तात्पर्य समवायि अथवा उपादान कारण है अन्य नहीं। सुख-दुःख आदि कार्य का समवायि कारण आत्मा है और वह अमूर्त ही है। कर्म तो सुख-दुःखादि का अन्न आदि के समान निमित्त कारण है। अतः नियम निर्बाध है। [१६२५]

अग्निभूति—कर्म को मूर्त मानने में यदि कुछ अन्य हेतु भी है, तो बताएँ।

भगवान—(१) कर्म मूर्त है क्योंकि उस से सम्बन्ध होने से सुख आदि का अनुभव होता है जैसे कि खाद्य आदि भोजन। जो अमूर्त हो उससे सम्बन्ध होने पर सुख आदि का अनुभव नहीं होता, जैसे कि आकाश। कर्म का सम्बन्ध होने पर आत्मा सुख आदि का अनुभव करता है अतः कर्म मूर्त है।

(२) कर्म मूर्त है, क्योंकि उसके सम्बन्ध से वेदना का अनुभव होता है। जिससे सम्बद्ध होने पर वेदना का अनुभव हो वह मूर्त होता है जैसे कि अग्नि। कर्म का सम्बन्ध होने पर वेदना का अनुभव होता है अतः वह मूर्त होना चाहिए।

(३) कर्म मूर्त है क्योंकि आत्मा और उस के ज्ञानादि धर्मों से भिन्न बाह्य पदार्थ से उसमें बलाधान होता है—अर्थात् स्निग्धता आती है। जैसे घट आदि पर तैल आदि बाह्य वस्तु का विलेपन करने से बलाधान होता है, वैसे ही कर्म में भी माला, चंदन, वनिता आदि बाह्य वस्तु के संसर्ग से बलाधान होता है अतः वह घट के समान मूर्त है।

(४) कर्म मूर्त है, क्योंकि वह आत्मा आदि से भिन्न होने पर परिणामी है जैसे कि दूध। जैसे आत्मादि से भिन्न रूप दूध परिणामी होने के कारण मूर्त है वैसे ही कर्म मूर्त है। [१६२६-२७]

अग्निभूति—कर्म का परिणामी होना सिद्ध नहीं अतः इस हेतु से कर्म मूर्त सिद्ध नहीं हो सकता।

कर्म परिणामी है

भगवान—कर्म परिणामी है क्योंकि उसका कार्य शरीर आदि परिणामी

है। जिसका कार्य परिणामी हो उसका कारण भी परिणामी होता है। जैसे दूध का कार्य दही का परिणामी होने के कारण उसका कारण रूप दूध भी परिणामी है, उसी प्रकार कर्म के कार्य शरीर के परिणामी (विकारी) होने के कारण उसका कारण भी परिणामी है। अतः कर्म के परिणामी होने का हेतु असिद्ध नहीं। [१६२८]

अग्निभूति—आपने सुख-दुःख के अनुरूप कर्म की सिद्धि की और समान साधना के अस्तित्व में जिस फल विचित्रता का अनुभव होता है वह कर्म के बिना सम्भव नहीं यह भी बताया। किन्तु बादलों में विविध प्रकार के विकार होते हैं और उनका कारण कर्म की विचित्रता नहीं। इसी प्रकार संसारी जीव के सुख दुःख की तरतमता रूप विचित्रता भी कर्म की विचित्रता के बिना ही मानने में क्या दोष है? [१६२९]

कर्म विचित्र है

भगवान—सौम्य! यदि तुम बाह्य स्कन्धों को विचित्र मानते हो तो आंतरिक कर्म में कौनसी ऐसी विशेषता है जिसके कारण दोनों के पुद्गलरूप में समान होने पर भी बादल आदि बाह्य स्कन्धों की विचित्रता को तो तुम सिद्ध मानो और कर्म की विचित्रता को सिद्ध न मानो। वस्तुतः जीव के साथ सम्बद्ध कर्म पुद्गलों को तो तुम्हें विचित्र मानना ही चाहिए। कारण यह है कि अन्य बाह्य पुद्गलों की अपेक्षा आंतरिक कर्म पुद्गलों में यह विशेषता है कि वे जीव द्वारा गृहीत हुए हैं, इसी कारण वे जीवगत विविध सुख-दुःख के कारण भी बनते हैं। [१६३०]

पुनश्च जिन पुद्गलों को जीव ने गृहीत नहीं किया उन्हें भी यदि तुम विचित्र मानते हो तो जीव द्वारा गृहीत कर्म-पुद्गलों को तो तुम्हें विशेषरूपेण विचित्र मानना ही चाहिए। जिस प्रकार बिना किसी के प्रयत्न के स्वाभाविक रूपेण बादल आदि पुद्गलों में इन्द्रधनुष आदि रूप जो विचित्रता होती है उसकी अपेक्षा किसी कारीगर द्वारा बनाए गए पुद्गलों में एक विशिष्ट प्रकार की विचित्रता होती है, उसी प्रकार जीव द्वारा गृहीत कर्म पुद्गलों में नाना प्रकार के सुख-दुःख उत्पन्न करने की विशिष्ट प्रकार की परिणाम विचित्रता क्यों नहीं होगी? [१६३१][1]

अग्निभूति—यदि इस प्रकार आप बादलों के विकार के समान कर्म-पुद्गलों में भी विचित्रता स्वीकार करते हैं तो मेरा अब यह प्रश्न है कि बादलों की विचित्रता के समान अपने शरीर में ही स्वाभाविक रूपेण नाना प्रकार के सुख दुःख उत्पन्न करने वाली विचित्रता क्यों न मानी जाए? और यदि बादलों के समान

---

1 गा॰ 1612–13

शरीर में भी न्यायत उक्त विचित्रता का अस्तित्व हो तो फिर शरीर की विचित्रता के कारण रूप कर्म की सत्ता की क्या आवश्यकता है?

भगवान्—तुम यह भूल जाते हो कि मैं तुम्हें यह बात समझा ही चुका हूं कि कर्म भी एक शरीर है। अतः बादलों की विचित्रता के समान यदि शरीर भी विचित्र हो तो तुम्हें शरीर रूप कर्म को भी विचित्र मानना चाहिए। दोनों में भेद यह है कि बाह्य औदारिक शरीर की अपेक्षा कार्मण शरीर सूक्ष्मतर है और आभ्यन्तर है। फिर भी बादलों के समान यदि तुम बाह्य शरीर का वैचित्र्य स्वीकार करते हो तो आभ्यन्तर कार्मण शरीर का भी तुम्हें विचित्र मानना चाहिए। [१६३२]

अग्निभूति—बाह्य स्थूल शरीर दिखाई देता है अतः उसका वैचित्र्य स्वीकार करने में कोई आपत्ति नहीं हो सकती। किन्तु कार्मण शरीर सूक्ष्म भी है और आभ्यन्तर भी, अतः वह दिखाई नहीं देता इसलिए उसका अस्तित्व ही असिद्ध है तो उसकी विचित्रता की बात ही कहां से होगी? इसलिए स्थूल शरीर से भिन्न कार्मण शरीर को यदि न माना जाए तो इसमें क्या हानि है?

कार्मण देह स्थूल शरीर से भिन्न है

भगवान्—मृत्यु के समय आत्मा स्थूल शरीर को सर्वथा छोड़ देती है। तुम्हारे मतानुसार स्थूल शरीर से भिन्न कोई कार्मण शरीर नहीं है अतः आत्मा के नवीन शरीर ग्रहण करने का कोई कारण विद्यमान नहीं है। ऐसी परिस्थिति में संसार का अभाव होगा और सभी जीव अनायास ही मुक्त हो जाएंगे। कार्मण शरीर का पृथक् अस्तित्व स्वीकार न करने में यह आपत्ति है।

यदि तुम यह कहो कि शरीर रहित जीव भी संसार में भ्रमण कर सकता है तो फिर तुम्हें संसार निष्कारण मानना पड़ेगा। अर्थात् यह बात स्वीकार करनी होगी कि संसार का कोई भी कारण नहीं। फलतः मुक्त जीवों को भी पुनः भव-भ्रमण स्वीकार करना पड़ेगा। ऐसी अवस्था में जीव मोक्ष के लिए प्रयत्न ही क्यों करेंगे? मोक्ष पर उनका विश्वास ही नहीं होगा। कार्मण शरीर को पृथक् न मानने में ये सब दोष हैं। उनके निवारणार्थ उसे स्थूल शरीर से भिन्न मानना चाहिए। [१६३३-३४]

अग्निभूति—किन्तु मूर्त कर्म का अमूर्त आत्मा से सम्बन्ध कैसे होगा?

मूर्त कर्म का अमूर्त आत्मा से सम्बन्ध

भगवान्—हे सौम्य! घट मूर्त है फिर भी उसका संयोग सम्बन्ध अमूर्त आकाश से होता है इसी प्रकार मूर्त कर्म का अमूर्त आत्मा से संयोग होता है। अथवा

अँगुली तक मूत द्रव्य है, फिर भी आकुचनादि अमूत क्रिया से उसका समवाय सम्बन्ध है, इसी प्रकार जीव और कम का सम्बन्ध सिद्ध होता है। [१६३५]

किंवा जीव और कम का सम्बन्ध अ य प्रकार से भी सिद्ध हो सकता है। स्थूल शरीर मूर्त है, पर तु उसका आत्मा से सम्बन्ध प्रत्यक्ष ही है, अत भवान्तर मे गमन करते हुए जीव का कामण शरीर से सम्बन्ध भी सिद्ध ही स्वीकार करना चाहिए, अन्यथा नए स्थूल शरीर का ग्रहण सम्भव नही। अन्य भी ऐस पूर्वोक्त दोष उपस्थित होगे।

अग्निभूति—नए शरीर का ग्रहण कामण शरीर से नही, अपितु धम और अधम से होता है। अत मूत कामण शरीर का अमूत आत्मा से सम्बन्ध मानने की आवश्यकता ही नही है।

भगवान—इस विषय मे यह पूछना है कि वे धम और अधम मूत हैं या अमूत ?

अग्निभूति—धम व अधम अमूत हैं।

भगवान—तो फिर धम व अधम का भी अमूत आत्मा म कम सम्बध होगा ? क्योंकि तुम कहते हो कि मूत का अमूत से सम्बन्ध नही होता। यदि वे मूत हो तो वे कम ही है

अग्निभूति—ऐसी दशा म धम व अधम को अमूर्त मानना चाहिए।

धम व अधम कम ही हैं

भगवान—तो भी धम व अधम का मूत स्थूल शरीर से कम सम्बध होगा ? तुम तो यह कहते हो कि मूर्त अमूत का सम्बन्ध होता ही नही। पुनश्च यदि धमाधम का शरीर स सम्बन्ध ही न हो तो उसके आधार पर बाह्य शरीर म चष्टादि भी कम सम्पन्न होगा ? अत यदि तुम अमूत धर्माधम का सम्बन्ध मूत शरीर म मानते हो तो अमूत आत्मा का मूर्त कम से भी सम्बन्ध मान लेना चाहिए। [१६३६]

अग्निभूति—एक के अमूत और दूसरे के मूत होने पर भी जीव तथा कम का सम्बन्ध आकाश तथा अग्नि के समान सम्भव है यह बात तो मेरी समझ म आ गई है किन्तु जिस प्रकार आकाश और अग्नि का सम्बन्ध होने पर भी आकाश म अग्नि द्वारा किसी प्रकार का अनुग्रह या उपघात नहीं हो सकता उसी प्रकार अमूत आत्मा म मूत कम द्वारा उपकार अथवा उपघात सम्भव नहीं चाहे उन दोनों का सम्बन्ध हो भले ही।

मूर्त कर्म का अमूर्त आत्मा पर प्रभाव है

भगवान्—यह कोई नियम नहीं कि मूर्त वस्तु अमूर्त वस्तु पर उपकार अथवा उपघात (ह्रास) कर ही न सके। कारण यह है कि हम देखते हैं कि विज्ञानादि अमूर्त हैं परन्तु मदिरा, विष आदि मूर्त वस्तु द्वारा उन का उपघात होता है तथा घी-दूध आदि पौष्टिक भोजन से उनका उपकार होता है, इसी प्रकार मूर्त कर्म अमूर्त आत्मा पर उपकार अथवा उपघात कर सकते हैं। मैंने यह सब चर्चा इस बात को सिद्ध करने के लिए की है कि अमूर्त आत्मा से मूर्त कर्म का सम्बन्ध और तत्कृत उपकार-उपघात भी सम्भव है। [१६३७]

संसारी आत्मा मूर्त भी है

किन्तु संसारी जीव वस्तुतः एकान्त रूप से अमूर्त नहीं वह मूर्त भी है। जैसे अग्नि और लोहे का सम्बन्ध होने पर लोहा अग्नि रूप हो जाता है वैसे ही संसारी जीव तथा कर्म का सम्बन्ध अनादि कालीन होने के कारण जीव भी कर्म के परिणाम रूप हो जाता है अतः वह उस रूप में मूर्त भी है। इस प्रकार मूर्त कर्म से कथंचित् अभिन्न होने के कारण जीव भी कथंचित् मूर्त ही है। अतः मूर्त आत्मा पर मूर्त कर्म द्वारा होने वाले उपकार अथवा उपघात को स्वीकार करने में कोई दोष नहीं है।

तुमने जो यह बात कही है कि आकाश पर मूर्त द्वारा उपकार या उपघात नहीं होता वह ठीक नहीं है। कारण यह है कि आकाश अचेतन है और अमूर्त है अतः उस पर मूर्त द्वारा उपकार उपघात नहीं होता। किन्तु संसारी आत्मा चेतन है तथा मूर्तामूर्त है अतः उस पर मूर्त द्वारा उपकार उपघात मानने में कोई हानि नहीं। [१६३८]

अग्निभूति—आप ने कहा है कि जीव से कर्म का सम्बन्ध अनादि काल से है यह कैसे?

जीव-कर्म का अनादि सम्बन्ध

भगवान्—गौतम! देह और कर्म में परस्पर कार्य-कारण भाव है अतः कर्म सन्तति अनादि है। जैसे बीज से अंकुर और अंकुर से बीज की बीजांकुर-सन्तति अनादि है वैसे ही देह से कर्म और कर्म से देह के विषय में समझना चाहिए। इस प्रकार देह और कर्म की परम्परा अनादि काल से चली आ रही है अतः कर्म सन्तति अनादि माननी चाहिए। जिनका परस्पर कार्य-कारण भाव होता है उनकी संतति अनादि होती है। [१६३९]

अग्निभूति—मैं यह मानता हूँ कि आप की युक्तियों से कर्म का अस्तित्व

सिद्ध होता है किन्तु वेद में कर्म का निषेध है। यानी वेदों को प्रमाण मानने पर मेरा मन पुनः शंकाशील हो जाता है कि वस्तुतः कर्म है या नहीं ?

वेद-वाक्यों की संगति

भगवान—यदि वेद में कर्म का अभाव ही प्रतिपाद्य हो तो वेद की यह विधि कि स्वर्ग में जाने के इच्छुक व्यक्ति को अग्निहोत्र करना चाहिए निरर्थक सिद्ध होती है। अग्निहोत्र का अनुष्ठान करने से आत्मा में एक अपूर्व (कर्म) उत्पन्न होता है जिसके आधार पर जीव मृत्यु के पश्चात् स्वर्ग में जाता है। यदि यह कर्म उत्पन्न न हो तो फिर जीव स्वर्ग में कैसे जाएगा ? मृत्यु के बाद शरीर तो छूट ही जाता है अतः नियामक कारण के अभाव में स्वर्ग गमन कैसे सम्भव होगा ? इसलिए यह बात नहीं मानी जा सकती कि वेद में कर्म का निषेध प्रतिपाद्य है।

पुनश्च, संसार में यह माना गया है कि दानादि का फल स्वर्ग प्राप्ति है। यदि कर्म न हो तो इसकी भी सम्भावना नहीं रहती। अतः कर्म का सद्भाव स्वीकार करना चाहिए। [१६४०]

अग्निभूति—यदि ईश्वरादि को जगत् वैचित्र्य का कर्ता मान लिया जाए तो कर्म मानने की आवश्यकता नहीं रहती।

ईश्वरादि कारण नहीं

भगवान—यदि तुम कर्म को न मान कर मात्र शुद्ध जीव को ही देहादि वैचित्र्य का कर्ता स्वीकार करो अथवा ईश्वर से इस समस्त वैचित्र्य की रचना मानो किंवा अव्यक्त प्रधान, काल, नियति, यदृच्छा (अकस्मात्) आदि से इस वैचित्र्य की संसार में उत्पत्ति मानो तो तुम्हारी ये सब मान्यताएँ असंगत होंगी। [१६४१]

अग्निभूति—इन की असंगति का क्या कारण है ?

भगवान—यदि शुद्ध जीव अथवा ईश्वरादि कर्म (साधन) की अपेक्षा नहीं रखते हैं तो वह शरीरादि का आरम्भ ही नहीं कर सकता क्योंकि आवश्यक उपकरणों या साधनों का अभाव है जैसे कि कुम्भकार दण्डादि उपकरणों के अभाव में घटादि की उत्पत्ति नहीं कर सकता। शरीरादि के आरम्भ में कर्म के अतिरिक्त अन्य किसी भी उपकरण की सम्भावना सिद्ध नहीं होती। कारण यह है कि यदि गर्भस्थ जीव कर्म रहित हो तो वह शुक्र शोणित का भी ग्रहण नहीं कर सकता और उसके ग्रहण के बिना देह निर्माण शक्य नहीं। अतः यह बात माननी पड़ती है कि जीव कर्म रूप उपकरण द्वारा ही देह का निर्माण करता है।

दूसरा अनुमान यह हो सकता है—निष्कर्म जीव शरीरादि का आरम्भ नहीं कर सकता क्योंकि वह निश्चेष्ट है। जो आकाश के समान निश्चेष्ट होता है वह

शरीर आदि का प्रारम्भ करने में असमर्थ है। कर्म रहित जीव भी उसका महान है अतः वह शरीर का प्रारम्भ नहीं कर सकता। इसी प्रकार अमूर्तित्व रूप हेतु से इस साध्य की सिद्धि की जा सकती है कि ईश्वर शरीर का प्रारम्भ करने में समर्थ नहीं है। इसी साध्य की सिद्धि के लिए निष्क्रियता सर्वगतता अशरीरिता आदि हेतु भी दिए जा सकते हैं। अर्थात् कर्म सार बिना छुटकारा नहीं है।

अग्निभूति—ऐसा यह मानना चाहिए कि शरीर वाला ईश्वर देहादि सभी कार्यों का कर्ता है कर्म की मान्यता आवश्यक नहीं है।

भगवान—तुमने साकार ईश्वर का प्रतिपादन किया है किन्तु इसी विषय में मेरा प्रश्न है कि वह ईश्वर अपने शरीर की रचना सकर्म होकर करता है अथवा कर्म रहित होकर? कर्म रहित होकर ईश्वर अपने शरीर की रचना नहीं कर सकता क्योंकि जीव के समान उसके पास भी उपकरणों का अभाव है। इसी प्रकार की अन्य उपयुक्त युक्तियाँ दी जा सकती हैं जिनसे यह बात सिद्ध होगी कि सकर्म ईश्वर की शरीर रचना अशक्य है। यदि तुम यह कहो कि किसी दूसरे ईश्वर ने उसके शरीर की रचना की है तो फिर यह प्रश्न उपस्थित होगा कि वह अन्य ईश्वर सशरीर है अथवा शरीर रहित? यदि वह अशरीर है तो उपकरण रहित होने के कारण शरीर रचना नहीं कर सकता। इस विषय में सब उपयुक्त सभी दोष बाधक हैं। और यदि ईश्वर के शरीर की रचना करने वाले किसी अन्य ईश्वर को तुम साकार मानते हो तो वह यदि अकर्म है अपने शरीर की ही रचना नहीं कर सकेगा तब दूसरे की शरीर रचना का प्रश्न तो उत्पन्न ही नहीं होगा। उसके शरीर की रचना के लिए यदि तीसरा ईश्वर माना जाए तो उसके सम्बन्ध में भी पूर्वोक्त प्रश्न-परम्परा उपस्थित होगी। इस प्रकार अनवस्था होगी। अतः ईश्वर को कर्म रहित मानने से उसके द्वारा देहादि की विचित्रता सम्भव नहीं है। यदि ईश्वर को कर्म सहित माना जाए तो फिर यही मानना युक्ति संगत होगा कि जीव ही सकर्म होने के कारण देहादि की रचना करता है।

अपि च यदि ईश्वर बिना किसी प्रयोजन के ही जीव के शरीर आदि की रचना करता है तो वह उन्मत्त के समान समझा जाएगा और यदि उसका कोई प्रयोजन है तो वह ईश्वर क्या कहलाएगा? वह तो अनीश्वर हो जाएगा। ईश्वर को अनादि शुद्ध मानने पर भी शरीर आदि की रचना सम्भव नहीं है। कारण यह है कि ईश्वर राग रहित है। राग के बिना इच्छा नहीं होती और इच्छा के अभाव में रचना शक्य नहीं। अतः देहादि की विचित्रता का कारण ईश्वर नहीं अपितु सकर्म जीव है। इससे कर्म की सिद्धि हो जाती है। [१६४२]

अग्निभूति—'विज्ञानघन एवैतेभ्य'[1] इत्यादि वेद-वाक्यों से ज्ञात होता है

---

1 गाथा 1553 1588 1592–94, 1597 देखें।

कि इस शरीर आदि के वैचित्र्य की उत्पत्ति स्वाभाविक है—स्वभाव से ही होता है, उसके कारण के रूप में कर्म जैसी किसी वस्तु को मानने की आवश्यकता नहीं है।

स्वभाववाद का निराकरण

भगवान्—स्वभाव से ही सब की उत्पत्ति स्वीकार करने में कई दोष हैं। इसके अतिरिक्त वेद वाक्यों का तुम जो अर्थ समझते हो, वह ठीक भी नहीं है। अतः स्वभाव से जगद्-वैचित्र्य मानना अयुक्त है।

अग्निभूति—स्वभाव से उत्पत्ति कैसे सम्भव नहीं है? किसी कवि ने भी कहा है—

भावों (वस्तुओं) की उत्पत्ति में किसी भी हेतु की अपेक्षा नहीं है यह बात स्वभाववादी कहते हैं। वे वस्तु की उत्पत्ति में 'स्व' को भी कारण नहीं मानते।

वे कहते हैं कि कमल कोमल है, काँटा कठोर है, मयूरपिच्छ विचित्ररंगा है, मोर चन्द्रिका धरते हैं, यह विविध वैचित्र्य कौन करता है? यह सब कुछ स्वभाव से ही होता है। अतः यह बात माननी चाहिए कि जगत् में जो कुछ कादाचित्क है (कभी होता है कभी नहीं) उसका कोई हेतु नहीं है। जैसे उपर्युक्त कथनानुसार काँटे की तीक्ष्णता का कोई हेतु नहीं वैसे ही जीव के सुख-दुःख का भी कोई हेतु नहीं है क्योंकि वे कभी-कभी होते हैं।[1]

इस कथन से भी ज्ञात होता है कि विश्व की विचित्रता कर्म से नहीं अपितु स्वभाव से ही होती है।

भगवान्—तुम्हारी यह मान्यता दूषित है। तुम जिसे स्वभाव कहते हो मैं तुमसे पूछता हूँ कि वह क्या है? क्या वह वस्तु विशेष है? तुम अकारणता को स्वभाव कहते हो अथवा वस्तु धर्म को?

अग्निभूति—स्वभाव को वस्तु विशेष मानें तो इसमें क्या दोष है?

भगवान्—वस्तु विशेष रूप स्वभाव का साधक कोई प्रमाण नहीं है। अतः [illegible] के समान तुम्हें स्वभाव को भी स्वीकार नहीं करना चाहिए। यदि तुम

---

1 [illegible]

ग्राहक प्रमाण के अभाव म भी स्वभाव का अस्तित्व मानत हो तो उसी न्याय से तुम्हे कम का भी अस्तित्व मानना चाहिए।

पुनश्च तुम स्वभाव को मूत मानोगे अथवा अमूत ? यदि तुम उसे मूत मानते हो तो वह कम का ही दूसरा नाम होगा। यदि उसे अमूत मानोगे तो वह रस्सी का भी कर्ता नहीं बन सकता। कारण यह है कि वह आकाश के समान अमूत और उपकरण रहित भी है।

फिर शरीर आदि मूत-पदार्थों का कारण भी मूत होना चाहिए। इसलिए यदि स्वभाव को अमूत माना जाए तो वह मूत शरीरादि का अनुरूप कारण नहीं बन सकता, अत उसे अमूत वस्तु विशेष रूप भी नहीं माना जा सकता।

अग्निभूति—ऐसी दशा मे उसे वस्तु विशेष न मान कर यह मान लेना चाहिए कि अकारणता ही स्वभाव है।

भगवान—स्वभाव का अथ अकारणता किया जाए तो यह तात्पय फलित होगा कि शरीर आदि बाह्य पदार्थों का कोई कारण नहीं है किन्तु यदि शरीर आदि का कोई भी कारण न हो तो वे शरीर आदि सभी पदाथ सवत्र सवदा एक साथ ही किसलिए उत्पन्न नहीं होते ? तुम्हें इसका स्पष्टीकरण करना होगा। यदि उनका कोई कारण न हो तो उन सब पदार्थों म कारणाभाव समान रूप से होगा। अत सभी पदाथ सवत्र सवदा एक साथ उत्पन्न हो जाने चाहिए किन्तु यह अतिप्रसग होगा। फिर, यदि शरीर आदि को अहेतुक माना जाए तो उसे आकस्मिक भी मानना पडेगा। किन्तु ऐसी मान्यता अयुक्त है। कारण यह है कि जो अहेतुक (आकस्मिक) होता है वह बादल के विकार के समान सादि और नियत आकार वाला नहीं होता। शरीरादि तो सादि और नियत आकार वाले पदाथ है अत उन्हे आकस्मिक(अहेतुक) नहीं मान सकते उन्हे तो कम-हेतुक मानना पडेगा। शरीर आदि पदाथ सादि और नियत आकार वाले होने क कारण उनका कोई न कोई उपकरण सहित कर्ता भी मानना चाहिए। गर्भावस्था मे जीव के पास कम के अतिरिक्त शरीर रचना के लिए उपयोगी अन्य कोइ उपकरण सम्भव नहीं है अत जगत की विचित्रता स्वभाव जन्य न मान कर कम-जन्य ही माननी चाहिए।

अग्निभूति—फिर तो यही उचित प्रतीत होता है कि स्वभाव का अथ वस्तु धम किया जाए।

भगवान्—यदि स्वभाव को आत्मा का धर्म माना जाए तो उस से आकाश के समान शरीर आदि की उत्पत्ति सम्भव नहीं क्योंकि वह अमूत धम है। अमूत से मूत शरीर की उत्पत्ति सिद्ध नहीं हो सकती। यदि स्वभाव को मूत वस्तु का धम माना जाए तो ठीक ही है। कारण यह है कि हम भी उसे पुद्गल का पर्याय-विशेष ही मानते हैं। हम जिस वस्तु को सिद्ध कर रहे थे एक प्रकार से तुमने भी

किया जाए तो वह नित्य है। अतः इस प्रकार से वाक्य नित्य अथवा के द्योतक हैं।

द्वादश मासा संवत्सरः[1] 'अग्निरुष्णः[2] 'अग्निर्हिमस्य भेषजम्[3] इत्यादि वाक्य प्रसिद्ध अर्थ के ही द्योतक होने के कारण अनुवाद प्रधान हैं। इस प्रकार सभी वेद-वाक्यों का एक ही तात्पर्य नहीं माना जा सकता। अतः उक्त पुरुष एव इत्यादि वाक्य का तात्पर्य स्तुति-परक ही मानना चाहिए।

विज्ञानघन एतेभ्यः का भी वास्तविक तात्पर्य यह है कि विज्ञानघन अर्थात् पुरुष (आत्मा) भूतों से भिन्न है। पुरुष कर्ता है और शरीरादि उसका कार्य है यह मैं बता चुका हूँ। कर्ता व कार्य में भिन्न करण का अनुमान सरलता से किया जा सकता है। जहाँ कर्तृ-कार्य भाव हो वहाँ करण भी होना चाहिए। लुहार व लोहे के गोले में कर्तृ कार्य भाव है और सडासी करण है। आत्मा व शरीर-कार्य में भी करण होना चाहिये वही कर्म है।

कर्म साक्षात् प्रतिपादक वाक्य वेद में हैं यह तुम भी मानते हो, जैसे कि 'पुण्यः पुण्येन कर्मणा, पाप पापेन कर्मणा'[5] अतः कर्म को प्रमाण सिद्ध ही मानना चाहिए। [१६४३]

इस प्रकार जरा मरण से रहित भगवान् ने जब उसके संशय का निराकरण किया, तब अग्निभूति ने अपने ५०० शिष्यों सहित श्रमण दीक्षा लेली। [१६४४]।

---

2 बारह महीने का वर्ष कहलाता है, यह उक्त वाक्य का अर्थ है। यह तैत्तिरीय ब्राह्मण 1 1 4 का है।

3 अर्थात् अग्नि गरम है, वही 1 1 4

4 अर्थात् शीत की औषधि अग्नि है वही 1 1 4

5 गाथा 1611 की व्याख्या देखें।

तृतीय गणधर वायुभूति

जीव-शरीर-चर्चा

इन्द्रभूति तथा अग्निभूति इन दोनों के दीक्षित होने का समाचार सुन कर तीसरे वायुभूति उपाध्याय ने मन में यह विचार किया कि, मैं जाऊं वंदन करूं और वंदना करके पयुपासना करूँ। ऐसा विचार कर उसने भगवान की ओर जाने के लिए प्रस्थान किया। [१६४५]

उसने यह भी सोचा कि इन्द्रभूति व अग्निभूति जिनके अभी अभी शिष्य हुए हैं, ऐसे तीन लोक से वंदित महाभाग्यशाली भगवान के पास अवश्य जाना चाहिए। मैं उनके पास जाऊँ, उनकी वंदना व उपासना आदि द्वारा निष्पाप बनूं और उनसे अपने संशय कर कथन का संशय रहित बनूं। इस प्रकार विचार करता हुआ वह इष्ट-स्थान पर जा पहुंचा। [१६४६-४७]

उसे आया हुआ देख कर जन्म-जरा मरण से रहित भगवान ने सर्वज्ञ एवं सर्वदर्शी होने के कारण उसके नाम व गोत्र का उच्चारण करते हुए उसका स्वागत किया और कहा— वायुभूति गौतम !'। [१६४८]

जीव व शरीर एक ही है, यह संशय

किन्तु भगवान के उसे इस प्रकार स्पष्ट बुलाने से, उनकी आन्तरिक ज्ञान शक्ति से शारीरिक सौन्दर्य से तथा समवसरण की शोभारूप बाह्य शक्ति से वायुभूति का उलटा संकोच हुआ, अन्त वह भगवान के सम्मुख अपना संशय कह नहीं सका। वह चकित हो कर मूक-सा खड़ा रहा। उसकी दुविधा को दूर करने के लिए भगवान ने ही स्वयं उसे कहा—आयुष्मन वायुभूति ! तुम्हारे मन में यह संशय है कि जीव और शरीर एक ही है अथवा दोनों भिन्न भिन्न हैं फिर भी तुम मुझ पूछ नहीं रहे हो। किन्तु तुम्हें वेद-पदों का सच्चा अर्थ ज्ञान नहीं है इसीलिए ऐसा संशय रहा करता है। उन पदों का अर्थ यह है। [१६४९]

वेद पदों का सम्यग अर्थ बताने से पहले मैं तुम्हारी शंका को ही स्पष्ट कर दूँ।

तुम यह बात मानते हो कि पृथ्वी, जल, तेज, और वायु इन चार भूतों के समुदाय से चेतना उत्पन्न होती है। जिस प्रकार मद्य के प्रत्येक पृथक-पृथक अंग (अवयव) जैसे कि धातकी के फूल, गुड़, पानी इन में किसी में भी मद शक्ति दिखाई

वायुभूति—जैसे मद्यांगों के समुदाय में मद का आविर्भाव होने के कारण समुदाय के प्रत्येक अंग में भी मद शक्ति माननी पड़ती है, अन्यथा उन के समुदाय में भी मद का आविर्भाव नहीं हो सकता वैसे ही केवल भूतों के समुदाय में चैतन्य उत्पन्न होता है, इसलिए प्रत्येक भूत में भी चैतन्य शक्ति माननी चाहिए। किसी पृथक् चेतन को मानने की आवश्यकता नहीं।

भगवान—तुम्हारा यह कथन असिद्ध है कि केवल भूतों के समुदाय में चैतन्य उत्पन्न होता है, क्योंकि उस समुदाय में केवल भूत ही नहीं हैं किन्तु आत्मा भी है उसी से ही भूतों के समुदाय में चैतन्य प्रकट होता है। कारण यह है कि चैतन्य समुदायान्तर्गत आत्मा का धर्म है। तुम जिसे भूत समुदाय कहते हो, यदि उसमें आत्मा का समावेश न हो तो चैतन्य कभी भी प्रकट नहीं हो सकता। भूतों के समुदाय मात्र से चैतन्य प्रकट हो जाता हो तो मृत-शरीर में भी उसकी उपलब्धि होनी चाहिए किन्तु उसमें चैतन्य का अभाव स्पष्ट सिद्ध है। अतः चैतन्य को भूत मात्र में उत्पन्न नहीं माना जा सकता।

वायुभूति—मृत-शरीर में वायु नहीं है, अतः वह सब भूतों का समुदाय नहीं होता। इसीलिए उसमें चैतन्य का अभाव है।

भगवान—मृत शरीर में नली द्वारा वायु प्रविष्ट की जाए तो भी उसमें चैतन्य की उत्पत्ति नहीं होती।

वायुभूति—मृत-शरीर में अग्नि का भी अभाव है, तो फिर चैतन्य की उपलब्धि कैसे हो?

भगवान—मृत शरीर में अग्नि की पूर्ति करने पर भी चैतन्य उत्पन्न नहीं होता।

वायुभूति—मृत शरीर में विशिष्ट प्रकार की वायु और अग्नि का अभाव है अतः चैतन्य की प्राप्ति नहीं होती।

भगवान्—यह वैशिष्ट्य कोई अन्य नहीं किन्तु आत्मसहित वायु और अग्नि होना ही विशिष्ट वायु और विशिष्ट अग्नि कहलाती है। इस प्रकार तुमने दूसरे शब्दों में आत्मा का ही प्रतिपादन कर दिया है। [1655]

वायुभूति—भूत-समुदाय में चैतन्य प्रत्यक्ष दृष्टिगोचर होता है, फिर आप यह कैसे कहते हैं कि वह भूत-समुदाय का धर्म नहीं है। आपका यह कथन प्रत्यक्ष विरुद्ध है। जैसे घट के रूपादि गुणों के प्रत्यक्ष होने पर भी कोई यह कहे कि रूपादि घट के नहीं हैं तो उसका यह कथन प्रत्यक्ष विरुद्ध होगा।

भगवान—सौम्य! प्रत्यक्ष का विरोध नहीं है। क्योंकि उस प्रत्यक्ष से

बाधक आत्मसाधक अनुमान विद्यमान है। जैसे पानी तथा भूमि के समुदाय मात्र से हरे घास की उत्पत्ति देख कर कोई कहे कि यह घास पृथ्वी और पानी के समुदाय-मात्र से ही होती है तो उसका यह प्रत्यक्ष बीज साधक अनुमान से बाधित हो जाता है वैसे ही चैतन्य का केवल भूतों का धर्म प्रतिपादन करने वाला प्रत्यक्ष भी भूतों से सर्वथा भिन्न ऐसी आत्मा को सिद्ध करने वाले अनुमान से बाधित हो जाता है।

अपि च समुदाय में चैतन्य देखकर तुम यह कहते हो कि प्रत्येक भूत में भी चैतन्य है किन्तु तुम्हारा यह कथन प्रत्यक्ष विरुद्ध सिद्ध होता है क्योंकि प्रत्येक में चैतन्य दिखाई नहीं देता। [१६५६]

वायुभूति—आप कौन से अनुमान से आत्मा को भूतों से भिन्न सिद्ध करते हैं?

भूत भिन्न आत्मा का साधक अनुमान

भगवान—भूत अथवा इन्द्रियों से भिन्न-स्वरूप किसी भी पदार्थ का धर्म चेतना है क्योंकि भूत अथवा इन्द्रियों द्वारा उपलब्ध पदार्थ का स्मरण होता है जैसे कि पाँच झरोखों से उपलब्ध वस्तु का स्मरण होने से झरोखों से भिन्न स्वरूप देवदत्त का धर्म चेतना है। तात्पर्य यह है कि जैसे पाँच झरोखों से क्रमश देखने वाला देवदत्त एक ही है और वह झरोखों से भिन्न है क्योंकि वह पाँचों झरोखों द्वारा देखी गई चीजों का स्मरण करता है वैसे ही पाँचों इन्द्रियों द्वारा उपलब्ध पदार्थों का स्मरण करने वाला भी इन्द्रियों से भिन्न कोई पदार्थ होना चाहिए। वही आत्मा है जो भूतों अथवा इन्द्रियों से भिन्न है। जो भूत समुदाय से भिन्न न हो अर्थात् अभिन्न हो वह एक होने से अनेक द्वारा उपलब्ध अर्थ का स्मरण भी नहीं कर सकता, जैसे कि किसी एक शब्दादि को ग्रहण करने वाला मानसिक ज्ञान विशेष। यह ज्ञान विशेष अपने ही विषय का ग्रहण करता है किन्तु अन्य विषय का स्मरण नहीं कर सकता। फिर भी यदि इस स्मरणकर्ता को देह अथवा इन्द्रियों से अभिन्न माना जाए तो पाँच झरोखों से देख कर सब का स्मरण करने वाले देवदत्त को भी झरोखे से अभिन्न मानना चाहिए। [१६५७]

वायुभूति—इन्द्रियों के द्वारा नहीं किन्तु इन्द्रियाँ ही स्वयं उपलब्धि की कर्ता हैं। अतः इन्द्रियों से भिन्न आत्मा को मानने की आवश्यकता नहीं है।

इन्द्रियाँ आत्मा नहीं

भगवान—इन्द्रिय व्यापार के बन्द होने पर भी अथवा इन्द्रियों का नाश हो जाने पर भी इन्द्रियों द्वारा उपलब्ध वस्तु का स्मरण होता है और इन्द्रिय व्यापार के अस्तित्व में भी अन्यमनस्क को कदाचित् वस्तु की उपलब्धि भी नहीं होती अतः यह मानना चाहिए कि घटादि पदार्थों का ज्ञान इन्द्रियों को नहीं होता

वायुभूति – पूर्व-पूर्व विज्ञान-क्षण के संस्कार उत्तर उत्तर विज्ञान-क्षण में संक्रान्त होते हैं, अतः विज्ञानक्षणरूप जीव को क्षणिक स्वीकार करने पर भी स्मरण की सम्भावना है।

विज्ञान भी सर्वथा क्षणिक नहीं

भगवान् – यदि विज्ञान क्षण का सर्वथा निरन्वय नाश माना जाए तो पूर्व-पूर्व विज्ञान-क्षण से उत्तर उत्तर विज्ञान-क्षण सर्वथा भिन्न ही होंगे। ऐसी स्थिति में पूर्व विज्ञान द्वारा अनुभूत वस्तु का स्मरण उत्तर विज्ञान में सम्भव नहीं। देवदत्त द्वारा अनुभूत वस्तु का स्मरण यज्ञदत्त को नहीं होता। पूर्वभव का स्मरण तो होता है अतः जीव को सर्वथा विनष्ट नहीं माना जा सकता। [१६७१]

वायुभूति – जीव रूप विज्ञान को क्षणिक मान कर भी विज्ञान-सन्तति के सामर्थ्य से स्मरण हो सकता है।

भगवान् – यदि ऐसी बात है तो शरीर के नष्ट हो जाने पर भी विज्ञान सन्तति का नाश नहीं हुआ। अतः विज्ञान सन्तति को शरीर से भिन्न ही मानना चाहिए। यह बात भी स्वीकार करनी पड़ेगी कि विज्ञान सन्तति भवान्तर में भी संक्रान्त होती है। [१६७२]

पुनश्च ज्ञान को भी सर्वथा क्षणिक होना सम्भव नहीं है कारण यह है कि पूर्वोपलब्ध वस्तु का स्मरण होता है। जो क्षणिक होता है उसे भूत (अतीत) का स्मरण जन्मान्तर विनष्ट के समान सम्भव नहीं है। किन्तु स्मरण होता है अतः विज्ञान को क्षणिक नहीं माना जा सकता। [१६७३]

जिनका यह मत है कि ज्ञान एक है—अर्थात् असहाय है, और वह एक ज्ञान एक ही विषय का ग्रहण करता है तथा वह ज्ञान क्षणिक भी है उन के मत में इस स्वाष्ट मन्तव्य की कभी भी सिद्धि नहीं हो सकती कि 'इस संसार में जो सत् है वह सब क्षणिक है।'[1] जब सब पदार्थ सामने उपस्थित हों तब ही यह ज्ञान उत्पन्न हो सकता है कि ये सब पदार्थ क्षणिक हैं।[2] किन्तु सौगत मत में तो एक ज्ञान एक ही पदार्थ का ग्रहण करता है, अतः एक ज्ञान से सब पदार्थों की क्षणिकता का ज्ञान नहीं हो सकता।

पुनश्च, ज्ञान के एक पदार्थ का ग्रहण करने पर भी यदि एक ही समय में अनेक ज्ञान उत्पन्न होते हों और उन सब ज्ञानों का अनुसन्धान करने वाला कोई एक आत्मा विद्यमान हो तो सब पदार्थों के सम्बन्ध में क्षणिकता का ज्ञान सम्भव हो

1 यत् सत् तत् सर्वं क्षणिकम्—हेतुबिन्दु—पृ० 44।

2 क्षणिकाः सर्वसंस्काराः।

सकता है किन्तु सौगत उस प्रकार के अनन्त ज्ञानों की युगपदुत्पत्ति स्वीकार नहीं करता। अतः सब वस्तुओं की क्षणिकता का ज्ञान कभी भी नहीं होगा।

इसके अतिरिक्त यदि ज्ञान एक ही और एक समय में एक ही विषय का ज्ञान करता हो किन्तु वह क्षणिक न हो तो वह क्रमशः सब वस्तुओं की क्षणिकता का परिज्ञान कर सकता है। किन्तु तुम विज्ञान को क्षणिक भी मानते हो, अतः वह सब पदार्थों की क्षणिकता का परिज्ञान कर ही नहीं सकता। इसलिए विज्ञान को क्षणिक नहीं मानना चाहिए। ज्ञान गुण है, अतः वह निराधार नहीं रह सकता। फलतः शरीर से भिन्न गुणी आत्मा भी स्वीकार करना चाहिए। [१६७४]

वायुभूति—आपने कहा है कि क्षणिक विज्ञान इस बात का ज्ञान नहीं कर सकता कि सभी पदार्थ क्षणिक हैं। इसका और अधिक स्पष्टीकरण करने की कृपा करें।

भगवान्—बौद्ध मत के अनुसार विज्ञान स्व विषय में ही नियत है और वह क्षणिक भी है, अतः इस प्रकार का विज्ञान अनेक विज्ञानों के विषयभूत पदार्थों के धर्मों क्षणिकता निरात्मकता दुःखता आदि को कैसे जान सकता है? कारण यह है कि वे विषय उस ज्ञान के हैं ही नहीं। अपि च वह ज्ञान क्षणिक होने के कारण उन विषयों को क्रमशः भी नहीं जान सकता। इस प्रकार स्व विषय से भिन्न सभी पदार्थ उस ज्ञान के लिए अविषय रूप ही हैं। अतः उनकी क्षणिकता आदि के ज्ञान की सम्भावना नहीं रहती। [१६७५]

वायुभूति—एक ही वस्तु का ग्रहण करने वाला क्षणिक विज्ञान भी सब वस्तुओं के क्षण भंग का अन्यथा स्व विषय के समान अनुमान से ज्ञान कर सकता है। तात्पर्य यह है कि वह ज्ञान अनुमान करेगा कि संसार के सभी ज्ञान क्षणिक होने चाहिए क्योंकि जो ज्ञान हैं वे सब ज्ञान होने के कारण मेरे समान ही क्षणिक होने चाहिए, उनके विषय भी क्षणिक होने चाहिए क्योंकि वे सभी मेरे विषय के सदृश ज्ञान के ही विषय हैं। मेरा विषय क्षणिक है अतः वे सब ही क्षणिक होने चाहिए। इस प्रकार ज्ञान एक ही वस्तु का ग्रहण करते हुए तथा क्षणिक होते हुए भी समस्त वस्तुओं की क्षणिकता का ज्ञान कर सकता है।

भगवान्—तुमने जो अनुमान उपस्थित किया है वह अयुक्त है कारण यह है कि जब अन्य स्वेतर ज्ञान की सत्ता तथा स्व विषयेतर विषयों की सत्ता सिद्ध हो जाए तब उन सब की क्षणिकता का अनुमान हो सकता है। यह एक मान्य सिद्धान्त है कि प्रसिद्ध धर्मी का ही ... माना है।[1] किन्तु वह क्षणिक विज्ञान उन सब की सत्ता

---

1 पक्ष प्रसिद्धो धर्मी—न्यायप्रवेश पृ० १।

हो सिद्ध नहीं कर सकता उनकी क्षणिकता की सिद्धि की बात तो अलग ही रह जाती है।

वायुभूति—स्वतर विज्ञान तथा स्व विषयेतर वस्तु की सिद्धि भी विज्ञान उसी प्रकार के अनुमान से ही करेगा और कहेगा कि जैसे मेरा अस्तित्व है उसी प्रकार अन्य ज्ञानों का भी अस्तित्व होना चाहिए तथा जैसे मेरा विषय है वैसे ही अन्य ज्ञानों के भी विषय होने चाहिए। तदनन्तर वह यह निश्चय करेगा कि जैसे मैं क्षणिक हूँ और मेरा विषय क्षणिक है वैसे वे सब ज्ञान और उनके विषय भी क्षणिक होने चाहिए।

भगवान—तुम्हारा यह कथन भी युक्ति सगत नहीं है क्योंकि तुम्हारे द्वारा मान्य सब वस्तु की क्षणिकता का जानने वाला स्वय विज्ञान ही अपना जन्म होते ही तत्काल नष्ट हो जाता है अत वह अपने ही नाश को तथा अपनी ही क्षणिकता को जानने में असमर्थ है। तब अन्य ज्ञानों, उनके विषयों तथा उन सब की क्षणिकता को जानने में उसकी असमर्थता का कहना ही क्या है।

अपि च, वह क्षणिक ज्ञान अपने ही विषय की क्षणिकता को भी नहीं जान सकता क्योंकि ज्ञान और उसका विषय दोनों एक ही काल में नष्ट हो जाते हैं। यदि वह ज्ञान अपने विषय का विनाश होता देखे और इससे उसकी क्षणिकता का निर्णय करे और बाद मे वह स्वय नष्ट हो तो ही वह अपने विषय की क्षणिकता की प्रतिपत्ति कर सकता है। किन्तु ऐसा नहीं होता, क्योंकि बौद्धों के मत मे ज्ञान और विषय दोनों एक ही समय मे अपने अनन्तर क्षणों का उत्पन्न कर नष्ट हो जाते हैं। वस्तु की क्षणिकता का जानने के लिए अन्य स्व-संवेदन अथवा इन्द्रिय प्रत्यक्ष भी समर्थ नहीं हैं और उक्त प्रकार का अनुमान भी सिद्ध नहीं होता। अत बौद्ध मत मे सब वस्तु की क्षणिकता अज्ञात ही रहती है। [१६७६]

वायुभूति—पूर्व-पूर्व विज्ञानों द्वारा उत्तर उत्तर विज्ञानों में एक ऐसी वासना उत्पन्न होती है जिससे वह विज्ञान एक ही वस्तु का ग्रहण करते हुए तथा क्षणिक होते हुए भी अन्य विज्ञानों के तथा उनके विषयों के सत्व क्षणिकतादि धर्मों का ज्ञान कर सकता है। इस प्रकार बौद्धों का सभी पदार्थों की क्षणिकता अज्ञात नहीं रहता अत उसे स्वीकार करने मे कोई आपत्ति नहीं है।

भगवान—तुम्हारे द्वारा कही गई वासना भी तभी सम्भव है जब वास्य तथा वासक ये दोनों ज्ञान एक ही समय में एक साथ मिलते हों। किन्तु बौद्धों के मतानुसार उक्त दोनों ज्ञान जन्मानन्तर ही नष्ट हो जाने के कारण ...ही समय में विद्यमान नहीं हो सकते। यदि वे दोनों एक ही काल में ...न्न ज्ञानों की क्षणिकता नहीं। अत सभी ज्ञानों और सभी विषयों ... कैसे सकती है?

पुनश्च, यदि तू वासना भी क्षणिक है तो उससे भी ज्ञान के समान सर्वक्षणिकता सिद्ध नहीं हो सकती। और यदि वासना स्वयं अक्षणिक है तो तुम्हारी इस प्रतिज्ञा में बाधा आती है कि सभी पदार्थ क्षणिक हैं।

इस प्रकार वासना से भी सभी वस्तुओं की क्षणिकता सिद्ध नहीं हो सकती। [१६७७]

विज्ञान को एकान्त क्षणिक मान कर भी यदि सर्व क्षणिकता का ज्ञान करना हो तो पूर्वोक्त प्रकार से निम्न दोषों की आपत्ति है—

१ एक साथ अनेक विज्ञानों की उत्पत्ति माननी पड़ेगी और इन सब विज्ञानों की आश्रयभूत एक आत्मा भी स्वीकार करनी पड़ेगी। अथवा

२ यह बात स्वीकार करनी होगी कि एक विज्ञान का एक ही विषय नहीं प्रत्युत एक ही ज्ञान अनेक विषयों का ज्ञान करता है। अथवा

३ विज्ञान को अवस्थित अक्षणिक मानना होगा, जिससे वह सब पदार्थों का क्रमशः ज्ञान कर सके। इस प्रकार के विज्ञान तथा आत्मा में केवल नाम का भेद है अतः वस्तुतः अक्षणिक विज्ञान नहीं अपितु आत्मा ही माननी पड़ेगी।

४ उक्त आत्मा को स्वीकार करने से बौद्ध-सम्मत प्रतीत्य समुत्पादवाद का ही विघात होता है। कारण की अपेक्षा से कार्य की उत्पत्ति होती है, कारण का किसी भी प्रकार से कार्यावस्था में अन्वय नहीं है—प्रतीत्य समुत्पादवाद का यह रूप है। परन्तु इस वाद को स्वीकार करने से स्मरणादि समस्त व्यवहार का उच्छेद मानना पड़ता है। कारण है कि स्मरणादि व्यवहार उसी अवस्था में सम्भव है जब अतीत मवेतादि का आश्रय रूप कोई पदार्थ स्मरणादि ज्ञान रूप परिणाम को प्राप्त हो अर्थात उत्तर काल में भी उसी का अन्वय विद्यमान रहे। अन्यथा उसकी सम्भावना ही नहीं। ऐसी अन्वयी वस्तु ही आत्मा है। अतः स्मरणादि व्यवहार की उपपत्ति के लिए यदि आत्मा को स्वीकार किया जाए तो प्रतीत्यसमुत्पादवाद का विघात हो जाता है।

विज्ञान को एकान्त-क्षण विनाशी स्वीकार करने पर उक्त तथा अन्य अनेक दोषों की आपत्ति उपस्थित होती है। किन्तु उत्पाद-व्यय ध्रौव्य युक्त विज्ञानमय आत्मा को मानने में एक भी दोष नहीं है। ऐसी आत्मा स्वीकार करने से ही समस्त व्यवहार की भी सिद्धि होती है अतः क्षणिक विज्ञान के स्थान पर शरीर से भिन्न आत्मा ही माननी चाहिए। [१६७८-७९]

वायुभूति—उक्त आत्मा के कौन से ज्ञान होते हैं और वे किससे होते हैं?

ज्ञान के प्रकार

भगवान्— इस आत्मा में मतिज्ञानावरण, श्रुतज्ञानावरण, अवधिज्ञानावरण तथा मनःपर्ययज्ञानावरण का जब क्षयोपशम होता है तब मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान और मनःपर्ययज्ञान उत्पन्न होते हैं तथा केवलज्ञानावरण के क्षय से केवलज्ञान की उत्पत्ति होती है। इस प्रकार विभिन्न आवरणों के क्षय एवं क्षयोपशम से आत्मा में विभिन्न ज्ञान उत्पन्न होते हैं। वे पर्याय रूप से क्षणिक होते हैं तथा द्रव्य रूप से आत्मा के अन्तरस्थायी नित्य भी होते हैं। [१६९०]

इन सब ज्ञानों की जो ज्ञान सामान्य रूप है वह नित्य है, उसका कभी भी व्यवच्छेद नहीं होता, किन्तु सामग्री के अनुसार उन में अनेक प्रकार की विशेषता उत्पन्न होती है। इससे ज्ञान के अनेक स्वरूपानुरूप भेद हो जाते हैं— अथवा विशेष बनते हैं।

किन्तु ज्ञानावरण के सर्वथा क्षय से तो केवलज्ञान उत्पन्न होता है, उसमें भेदों का स्थान नहीं, अतः उसे अविकल्प कहते हैं। वह सदा केवल रूप असहाय रूप अनन्तकाल तक विद्यमान रहता है और अनन्त वस्तुओं का ग्रहण करता है अतः उसे अनन्त भी कहते हैं। [१६९१]

वायुभूति—यदि आत्मा शरीर से भिन्न है तो वह शरीर में प्रवेश करते समय अथवा वहाँ से बाहर निकलते समय दिखाई क्यों नहीं देता ?

विद्यमान होने पर भी अनुपलब्धि के कारण

भगवान—किसी भी वस्तु की अनुपलब्धि दो प्रकार से मानी गई है। एक प्रकार तो यह है कि जो वस्तु खरशृंगादि के समान सर्वथा असत् हो वह कभी भी उपलब्ध नहीं होती। दूसरा प्रकार यह है कि वस्तु सत् अथवा विद्यमान होने पर भी निम्न लिखित कारणों से अनुपलब्ध होती है—

१ बहुत दूर हो जैसे मेरु आदि।

२ अति निकट हो जैसे आँख की भौंह।

३ अति सूक्ष्म हो जैसे परमाणु।

४ मन के अस्थिर होने पर भी वस्तु का ग्रहण नहीं होता जैसे ध्यानपूर्वक न चलने वाले को।

५ इन्द्रियों में पटुता न हो जैसे किंचित बधिर को।

६ मति की मन्दता के कारण भी गम्भीर अर्थ का ज्ञान नहीं होता।

७ अशक्यता से भी वस्तु की उपलब्धि नहीं होती जैसे कि अपने कान का, मस्तक का अथवा पीठ का दर्शन अशक्य है।

८ आवरण के कारण—जैसे आँख को हाथ से ढक दिया जाए तो वह कुछ भी देख नहीं सकती। अथवा दीवार आदि से अन्तरित वस्तु भी दिखाई नहीं देती।

९ अभिभव के कारण—जैसे उत्कट सूर्य तेज से तारागण अभिभूत हो जाते हैं अतः दिखाई नहीं देते।

१० सदृशता होने के कारण—बारीकी से ध्यान पूर्वक देखा हुआ उड़द का दाना यदि उड़द के समूह (ढेर) में मिला दिया जाय तो उड़द के सभी दाने एक समान होने के कारण उस दाने को ढूँढना या पहचानना सम्भव नहीं है।

११ अनुपयोग के कारण—जिस मनुष्य का ध्यान उपयोग रूप में न हो वह जैसे गन्धादि को नहीं जानता वैसे।

१२ अनुपाय होने पर—जैसे कोई व्यक्ति सींग देख कर गाय भैंस के दूध के परिमाण को जानना चाहे तो वह नहीं जान सकता, क्योंकि दूध के परिमाण का ज्ञान प्राप्त करने का उपाय सींग नहीं है।

१३ विस्मरण होने पर भी पूर्वोपलब्ध वस्तु का ज्ञान नहीं हो सकता।

१४ दुरागम—मिथ्या उपदेश मिला हो तो सुवर्ण के समान चमकती हुई रेत को सुवर्ण मानने पर भी सुवर्ण की उपलब्धि नहीं होती।

१५ मोह—मूढ़मति या मिथ्यामति के कारण विद्यमान जीवादि तत्त्वों का ज्ञान नहीं होता।

१६ विदर्शन—दर्शन शक्ति के अभाव के कारण—जैसे जन्मान्ध को।

१७ विकार के कारण—वृद्धावस्था आदि विकार के कारण अनेक बार पूर्वोपलब्ध वस्तु की भी उपलब्धि नहीं होती।

१८ अक्रिया से—जमीन खोदने की क्रिया न की जाए तो [illegible] दिखाई नहीं देता।

१९ अनधिगम—शास्त्र को न सुनने से उसके अर्थ का ज्ञान नहीं होता।

२० कालविप्रकर्ष के कारण भूत तथा भावी वस्तु की उपलब्धि नहीं होती।

२१ स्वभावविप्रकर्ष अर्थात् अमूर्त होने के कारण आकाशादि दिखाई नहीं देते।

इन २१ कारणों से विद्यमान वस्तु की अनुपलब्धि होती है। इन में प्रस्तुत में [illegible] स्वभाव से विप्रकृष्ट है अर्थात् वह आकाश के समान अमूर्त है, [illegible]

तथा फूल भी दिखाए है तथापि यह सब मायिक होने के कारण परमार्थ रूप से विद्यमान नहीं है। इसी प्रकार संसार के समस्त पदार्थ स्वप्नोपम हैं और मायोपम है। इस तरह जहाँ प्रत्यक्ष भूतों के अस्तित्व में भी सन्देह है वहाँ जीव, पुण्य, पाप आदि परोक्ष पदार्थों की तो बात ही क्या है ? अतः तुम्हें भूतादि सभी वस्तुओं की शून्यता ज्ञात होती है और तुम समस्त लोक को मायोपम समझते हो।

अपि च, युक्ति से विचार करने पर भी तुम्हें यही प्रतीति होती है कि यह सब स्वप्न सदृश है। [१६६०-६१]

समस्त व्यवहार सापेक्ष है

हे व्यक्त ! तुम यह मानते हो कि संसार में सकल व्यवहार ह्रस्व-दीर्घ के समान सापेक्ष है। अतः वस्तु की सिद्धि स्वतः, परतः, स्व पर-उभय से अथवा किसी अन्य प्रकार से भी नहीं हो सकती।

संसार में सभी कुछ सापेक्ष है, इस बात का स्पष्टीकरण तुम इस प्रकार करते हो —संसार में जो कुछ है वह सब कार्य अथवा कारण के अन्तर्गत है। कार्य और कारण की सिद्धि परस्पर सापेक्ष है—अर्थात् दोनों एक दूसरे की अपेक्षा रखते हैं। यदि संसार में कार्य ही न हो तो किसी को कारण नहीं कहा जा सकता। इसी प्रकार यदि कारण न हो तो किसी को कार्य भी नहीं कहा जा सकता। दूसरे शब्दों में किसी भी पदार्थ के विषय में कार्यत्व का व्यवहार कारणाधीन है और कारणत्व का व्यवहार कार्याधीन है। इस तरह कार्य और कारण दोनों स्वतः सिद्ध नहीं हैं। अतः संसार में कुछ भी स्वतः सिद्ध नहीं है। यदि कोई भी पदार्थ स्वतः सिद्ध न हो तो वह परतः सिद्ध कैसे हो सकता है ? कारण यह है कि जैसे खर विषाण स्वतः सिद्ध नहीं तो उसे परतः सिद्ध भी नहीं कह सकते, वैसे ही संसार के सकल पदार्थ यदि स्वतः सिद्ध न हों तो वे परतः सिद्ध भी नहीं हो सकते। स्व पर-उभय से भी वस्तु की सिद्धि असंभव है, क्योंकि उक्त प्रकारेण यदि स्व और पर पृथक् पृथक् सिद्धि के कारण प्रमाणित न होते हों तो वे दोनों मिल कर भी वस्तु की सिद्धि में असमर्थ रहेंगे। रेत के एक एक कण में तेल नहीं है अतः समस्त कणों को मिलाने पर भी तेल की निष्पत्ति नहीं हो सकती। इसी प्रकार स्व और पर के अलग अलग असमर्थ होने पर यदि दोनों मिल भी जाएँ तो भी उन में सिद्धि का सामर्थ्य उत्पन्न नहीं होता। अपि च, स्व-पर उभय से सिद्धि स्वीकार करने में परस्पराश्रय दोष भी है क्योंकि जब तक कारण सिद्ध न हो तब तक कार्य नहीं होता और जब तक कि कार्य की निष्पत्ति न हुई हो तब तक किसी को कारण नहीं कहा जा सकता। इस प्रकार दोनों एक दूसरे के आश्रित हैं एक की सिद्धि दूसरे के बिना नहीं होती।

अत उन मे परस्पराश्रय दोष होने के कारण स्वय असिद्ध वे दोनो एकत्रित हो अन्य किसी की सिद्धि करें यह सम्भव नही है। उक्त तीन प्रकारो से जो सिद्ध न हो वह इन से भिन्न प्रकार से भी सिद्ध नही हो सकता, क्योकि अन्य प्रकार अनुभयरूप ही हो सकता है। अर्थात स्व पर उभय से भिन्न प्रकारेण। किन्तु ससार मे स्व-पर से भिन्न कोई वस्तु सम्भव ही नहीं, क्योकि जो कुछ होगा वह स्व या पर होगा। अत अनुभय से निष्पत्ति मानने का अर्थ होगा कि वस्तु की सिद्धि अहेतुक है अर्थात उसका कोई हेतु या कारण नही है। किन्तु यह बात असम्भव है। कारण के बिना ससार मे कुछ भी उत्पन्न नही हो सकता। अत अनुभय से भी वस्तु की सिद्धि नही होती।

ह्रस्व-दीर्घत्व के व्यवहार के विषय मे भी यही बात है। वह व्यवहार भी सापेक्ष ही है। अत कोई भी वस्तु स्वत ह्रस्व अथवा दीर्घ नही है। प्रदेशिनी—अँगूठे के निकटस्थ पहली अगुली—अगूठे की अपेक्षा लम्बी है किन्तु वही मध्यमा अँगुली की अपेक्षा छोटी है। इसलिए वह स्वत न तो लम्बी है और न छोटी। वह तो अपेक्षा से लम्बी और छोटी है। अत हम कह सकते हैं कि दीर्घत्व ह्रस्वत्व स्वत सिद्ध नही हैं। स्वत सिद्ध न होने के कारण खर विषाण के समान वे परत सिद्ध भी नहीं हो सकते। स्व पर-उभय अथवा अनुभय प्रकार से भी ह्रस्वत्व दीर्घत्व की सिद्धि सम्भव नही है। फलस्वरूप यह स्वीकार करना पडेगा कि यह समस्त व्यवहार सापेक्ष है। इसीलिए किसी ने ठीक ही कहा है —

"दीर्घ कहलाने वाली वस्तु मे दीर्घत्व जसी कोई चीज नही है ह्रस्व कहलाने वाली वस्तु मे भी दीर्घत्व का अभाव है। इन दोनो मे भी दीर्घत्व नही है, अत दीर्घत्व नामक वस्तु ही असिद्ध है। असिद्ध शून्य है अत उसका अस्तित्व कहाँ माना जा सकता है ? [1]

ह्रस्व की अपेक्षा से दीर्घ की सिद्धि कही जाती है और ह्रस्व की सिद्धि भी दीर्घ की अपेक्षा से है। किन्तु निरपेक्ष रूप से किसी की भी सिद्धि नहीं है, अत यह समस्त सिद्धि व्यवहार के कारण ही है परमार्थत कुछ भी नही है। [2]

इस प्रकार ससार में सब कुछ सापेक्ष होने के कारण शून्य ही है। [१६६२]

सब शून्यता के समर्थन के लिए तुम्हारा मन निम्न प्रकार से भी ऊहापोह करता है—

---

1 न दीर्घेऽस्तीह दीर्घत्व न ह्रस्वे नापि च द्वय।
तस्मादसिद्ध शून्यत्वात सदित्याख्यायते क्व हि ? ॥

2 ह्रस्व प्रतीत्य सिद्ध दीर्घ दीर्घ प्रतीत्य ह्रस्वमपि।
न किंचिदस्ति सिद्ध व्यवहारवशात् वदन्त्येवम ॥

ऐसी मान्यता है। किन्तु सामग्री के घटक प्रत्येक हेतु अथवा प्रत्यय में यदि कार्योत्पादन सामर्थ्य ही न हो तो वह सामग्री में भी कैसे हो सकता है? जैसे कि रेत के प्रत्येक कण में तेल का अभाव होने से समग्र कणों में भी तेल का अभाव ही होता है। अर्थात संसार में कार्य जैसी कोई वस्तु प्रमाणित न हो, सर्वाभाव हो जाए, तो फिर सामग्री का प्रश्न ही कैसे उत्पन्न होगा? तथा सामग्री के अभाव में कार्य का भी अभाव हो जायगा। इस तरह सर्व शून्यता की ही सिद्धि होती है। कहा भी है—

हेतु प्रत्यय रूप सामग्री यदि पृथक् हो तो उसमें कार्य का दर्शन नहीं होता और जब तक घटादि कार्य उत्पन्न न हो तब तक उसमें घटादि संज्ञा की प्रवृत्ति न होने के कारण वह स्वभावतः अनभिलाप्य (अवाच्य) है।'[1]

"संसार में जहाँ कहीं संज्ञा की प्रवृत्ति दृष्टिगोचर होती है वह सामग्री में ही है अतः भाव ही नहीं है। भाव न हो तो सामग्री भी नहीं होती।[2]" (१६९५)

अदृश्य होने के कारण शून्यता

सर्व शून्यता की सिद्धि निम्न प्रकार से भी की जाती है—जो अदृश्य है वह अनुपलब्ध होने के कारण खर विषाण के समान असत् ही है। जिसे दृश्य कहा जाता है उसका भी पिछला भाग अदृश्य होने से तथा निकटतम भाग सूक्ष्म होने से दिखाई नहीं देता, अतः उसे भी सर्वथा अदृश्य मानना चाहिए। इसलिए वह भी खर विषाण के समान शून्य होगा। यहाँ यह प्रश्न किया जा सकता है कि स्तम्भादि बाह्य पदार्थ दिखाई तो देते हैं, फिर उन्हें अदृश्य कैसे कहा सकता है? इसका समाधान यह है कि स्तम्भादि समस्त पदार्थ अखण्ड तो दिखाई नहीं देते। हम उनके तीन अवयवों की कल्पना करें—अन्तिम भाग, मध्य भाग तथा हमारे सम्मुख उपस्थित अग्र भाग। इनमें अन्तिम और मध्य भाग तो दिखाई ही नहीं देते, अतः वे अदृश्य हैं। सामने का जो भाग हम दिखाई देता है वह भी सावयव है। उनके अन्तिम अवयव तक जाएँ तो वह परमाणु ही होगा। वह भी सूक्ष्म होने के कारण अदृश्य है। इस प्रकार स्तम्भादि पदार्थों का वस्तुतः दर्शन ही सम्भव नहीं। इसलिए वे सब अनुपलब्ध होने के कारण खर विषाण के समान असत् ही हैं। इससे सर्व शून्यता सिद्ध होता है। कहा भी है—

जो कुछ दृश्य है उसका पर (परभाग) का भाग तो दिखाई नहीं देता। अतः ये सब पदार्थ स्वभाव से अनभिलाप्य (अवाच्य) ही हैं।[3]

---

1 हेतुप्रत्ययसामग्रीपृथग्भावेष्वदर्शनात्। तेन ते नाभिलाप्या हि भावाः सर्वे स्वभावतः॥

2 लोके यावत् संज्ञा सामग्र्यामेव दृश्यते यस्मात्। तस्मान्न सन्ति भावा भावेऽसति नास्ति सामग्री॥

3 यावद् दृश्यं परस्तावद् भागः स च न दृश्यते। तेन ते नाभिलाप्या हि भावाः सर्वे स्वभावतः॥

इस प्रकार तुम युक्ति से विचार करते हो कि संसार में भूतों की सत्ता हो रही है। किन्तु वेद में भूतों का अस्तित्व प्रतिपादित भी किया है। अतः तुम्हें संशय है कि भूत वस्तुतः हैं या नहीं? [१६९६]

व्यक्त—आपने मेरे संशय का यथार्थ वर्णन किया है। कृपया अब उसका निवारण करें।

संशय निवारण

भगवान्—व्यक्त! तुम्हें इस प्रकार का संशय नहीं करना चाहिए। कारण यह है कि यदि संसार में भूतों का अस्तित्व ही न हो तो उनके विषय में आकाश-कुसुम तथा खर-शृंग के समान संशय ही उत्पन्न न हो। जो वस्तु विद्यमान हो उसी के सम्बन्ध में संशय होता है जैसे कि स्थाणु व पुरुष के सम्बन्ध में। [१६९७]

भूतों के विषय में संशय का होना उनकी सत्ता का द्योतक है

ऐसी कौन सी विशेषता है जिसके कारण सर्वशून्य होने पर भी स्थाणु पुरुष के विषय में तो सन्देह होता है किन्तु आकाश-कुसुम खर-शृंग आदि के विषय में कोई संशय नहीं होता? तुम ही इसको स्पष्ट करो। अथवा ऐसा क्यों नहीं होता कि आकाश-कुसुम आदि के विषय में ही संशय हो तथा स्थाणु-पुरुष के विषय में कभी भी संशय न हो? ऐसा विपर्यय क्यों नहीं होता? अतः यह मानना चाहिए कि खर-शृंग के समान सब कुछ ही समान रूपेण शून्य नहीं है। [१६९८]

व्यक्त—आप ही बताएँ कि किस विशेषता के कारण स्थाणु-पुरुष के सम्बन्ध में सन्देह होता है।

भगवान्—प्रत्यक्ष, अनुमान तथा आगम—इन प्रमाणों द्वारा पदार्थ की सिद्धि होती है। अतः इन प्रमाणों के विषयभूत पदार्थों के सम्बन्ध में ही सन्देह उत्पन्न हो सकता है। जो विषय सब प्रमाणातीत हो उसके सम्बन्ध में संशय कैसे हो सकता है? यही कारण है कि स्थाणु आदि पदार्थों के विषय में सन्देह होता है किन्तु आकाश-कुसुम आदि के विषय में नहीं। [१६९९]

अपि च, संशयादि ज्ञान-पर्याय हैं तथा ज्ञान की उत्पत्ति ज्ञेय से होती है। इससे भी ज्ञात होता है कि यदि ज्ञेय ही नहीं तो संशय भी कैसे हो सकता है? [१७००]

अतः संशय होने के कारण भी ज्ञेय का अस्तित्व अनुमान सिद्ध मानना चाहिए। वह अनुमान यह है—ये सब पदार्थ विद्यमान हैं, क्योंकि उनके विषय में सन्देह होता है। जिसके विषय में सन्देह होता है वह स्थाणु पुरुष के समान विद्यमान होता है। अतः संशय होने के कारण पदार्थों का अस्तित्व मानना चाहिए।

व्यक्त—जब सब कुछ शून्य है तब स्थाणु पुरुष भी असत् ही है, अतः वह भी प्रमाण सिद्ध नहीं है। फिर वह दृष्टान्त कैसे बन सकता है?

भगवान—इस तरह तुम्हें संशय का भी अभाव मानना पड़ेगा क्योंकि जब सब का अभाव है तो संशय का भी अभाव सिद्ध होगा। फिर जब तुम्हें भूतों के विषय में संदेह ही नहीं होगा, तब वे सब विद्यमान ही मानने पड़ेंगे। [१७०१]

व्यक्त—ऐसा कोई नियम नहीं है कि यदि सब का अभाव हो तो संशय हो न हो। सोए हुए पुरुष के पास कुछ भी नहीं होता, तथापि वह स्वप्न में संशय करता है कि यह गजराज है अथवा पर्वत? अतः सब वस्तुओं के शून्य होने पर भी संशय सम्भव है।

भगवान—तुम्हारा कथन ठीक नहीं है, क्योंकि स्वप्न में जो सन्देह होता है वह भी पूर्वानुभूत वस्तु के स्मरण से होता है। यदि सभी वस्तुओं का सर्वथा अभाव ही हो तो स्वप्न में भी संशय न हो। [१७०२]

व्यक्त—क्या निमित्त के बिना स्वप्न नहीं होता?

भगवान—नहीं, निमित्त के बिना कभी भी स्वप्न नहीं होता।

व्यक्त—स्वप्न के निमित्त कौन से हैं?

स्वप्न के निमित्त

भगवान—अनुभव में आए हुए जैसे कि स्नान, भोजन, विलेपन आदि पदार्थों के स्मरण में अनुभव निमित्त है। हस्ति आदि पदार्थ दृष्ट होने के कारण स्वप्न के विषय बनते हैं। चिन्ता भी स्वप्न का निमित्त है। जैसे कि अपनी प्रियतमा के सम्बन्ध में चिन्ता हो तो वह स्वप्न में दिखाई देती है। यदि किसी विषय के सम्बन्ध में कुछ सुन रखा हो तो वह भी स्वप्न में आता है। प्रकृति विकार अर्थात् वात, पित्त, कफ के विकार से भी स्वप्न आते हैं। अनुकूल अथवा प्रतिकूल देवता, सजल प्रदेश, पुण्य तथा पाप भी स्वप्न के निमित्त हैं। किन्तु वस्तु का सर्वथा अभाव कभी भी स्वप्न का निमित्त नहीं बन सकता। अतः स्वप्न भी भावरूप है इसलिए उसे सर्वशून्य कैसे माना जाए? [१७०३]

व्यक्त—आप स्वप्न को भावरूप कैसे मानते हैं?

भगवान्—स्वप्न भावरूप है, क्योंकि घट विज्ञानादि के समान वह भी विज्ञान रूप है। अथवा स्वप्न भावरूप है क्योंकि वह भी उक्त निमित्तों द्वारा उत्पन्न होता है। जैसे घट ज्ञान दण्डादि निमित्तों द्वारा उत्पन्न होने के कारण भावरूप है, वैसे ही स्वप्न भी निमित्तों से उत्पन्न होने के कारण भावरूप है। [१७०४]

सर्वशून्यता में व्यवहाराभाव

और फिर यदि सर्वाभाव हो (सर्वशून्य हो) तो ज्ञानों में यह भेद किस कारण से होता है कि अमुक ज्ञान स्वप्न है और अमुक ज्ञान अस्वप्न; यह सत्य है और यह मृषा; यह गन्धर्व नगर है (माया नगर है) और यह पाटलिपुत्र है, यह तथ्य है (मुख्य है) और यह

औपचारिक है, यह कार्य है और यह कारण है यह साध्य है और यह साधन है यह कर्त्ता है यह वक्ता है यह उसका वचन है यह त्रि अवयव वाला वाक्य है यह पच अवयव वाला वाक्य है, यह वाच्य अर्थात वचन का अर्थ है यह स्वपक्ष है तथा यह परपक्ष है- ये सम्पूर्ण व्यवहार यदि ससार म सवशून्य के हो तो किस लिए प्रवत्ति हो ? पुनश्च पृथ्वी मे स्थिरत्व पानी मे द्रवत्व, अग्नि म उष्णत्व, वायु म चलत्व तथा आकाश म अमूतत्व यह सब कुछ कम नियत हो सकता है ? यह नियम भी कसे बनेगा कि शब्दादि विषय-ग्राह्य हैं तथा श्रोत्र आदि इन्द्रियाँ ग्राहक है ? उक्त सभी बातें एकरूप क्यो नही हो जाती ? अर्थात जसा स्वप्न वसा ही अस्वप्न क्यो नही माना जाता ? उक्त बातो म असमानता का क्या कारण है ? अथवा स्वप्न की प्रतीति अस्वप्न रूप मे हो ऐसा विपर्यय व्यवहार म क्यो नही होता ? तथा यदि सब कुछ शून्य ही है तो फिर सर्वाग्रहण क्या नही होता ? अर्थात् किसी भी वस्तु का ग्रहण या ज्ञान हो न हो।

व्यक्त—भ्रान्ति के कारण यह व्यवहार प्रवृत्त होता है कि यह स्वप्न है और यह अस्वप्न ।

सभी ज्ञान भ्रान्त नहीं

भगवान - सभी ज्ञानो को भ्रान्तिमूलक नही माना जा सकता। कारण यह है कि वे ज्ञान देश काल, स्वभाव आदि के कारण नियत है । फिर भ्रान्ति स्वय विद्यमान है या अविद्यमान ? यदि भ्रान्ति को विद्यमान माना जाए तो सवशून्यता सिद्ध नही होती । यदि उसे अविद्यमान मानें तो भावग्राहक ज्ञानो को अभ्रान्त मानना पड़गा । अत सवशून्यता नही अपितु सवसत्ता ही माननी चाहिए ।

फिर तुम यह भेद भी कसे करोगे कि शून्यता का ज्ञान ही सम्यक है तथा भावसत्ता ग्राही ज्ञान मिथ्या है। तुम्हारे मत मे तो सब कुछ शून्य ही है अत ऐसा भेद सम्भव ही नही है । [१७०५ ८]

व्यक्त—स्वत , परत , उभयत तथा अनुभयत इन चारो प्रकारों से वस्तु का सिद्धि नही होती, इसलिए तथा सव सापेक्ष होने के कारण सवशून्यता को सिद्ध स्वीकार करना चाहिए।

भगवान—यदि सब कुछ शून्य है तो यह बुद्धि भी कसे उत्पन्न होगी कि यह स्व है और वह पर है। जब स्व-पर आदि विषयक बुद्धि ही नही होगी तो स्वत , परत इत्यादि विकल्प करके वस्तु की जो परस्पर असिद्धि सिद्ध की जाती है, वह भी कसे सम्भव होगी ?

अपि च, एक ओर तो यह बात स्वीकार करना कि वस्तु की सिद्धि ह्रस्व दीर्घ के समान सापेक्ष है और दूसरी ओर यह कहना कि वस्तु की सिद्धि स्व पर आदि किसी से भी होती नही, परस्पर विरुद्ध कथन करना है।

है। इसलिए यह बात स्वत सिद्ध है कि सभी पदार्थ चक्षु आदि सामग्री उपस्थित होने पर अन्य किसी की अपेक्षा रखे बिना स्वज्ञान में प्रतिभासित होते हैं।

पुनश्च बालक जन्म लेने के बाद पहली बार ही आँख खोल कर जो ज्ञान प्राप्त करता है उसमें उसे किस की अपेक्षा है ? और जो दो पदार्थ दो नेत्रों के समान सदृश हों उनका ज्ञान यदि एक साथ हो तो इसमें भी किसी की अपेक्षा दृष्टिगोचर नहीं होती। अतः मानना चाहिए कि अँगुली आदि पदार्थों का स्वरूप सापेक्ष मात्र नहीं है किन्तु वे स्वविषयक ज्ञान में अन्य की अपेक्षा के बिना ही स्वरूप से स्वत प्रतिभासित होते हैं और तदनन्तर अपने प्रतिपक्षी पदार्थ का स्मरण होने से उनमें इस प्रकार का व्यपदेश होता है कि यह अमुक से ह्रस्व है और अमुक से दीर्घ है। अतः पदार्थों को स्वतः सिद्ध मानना ही चाहिए। [१७१०-११]

इसके अतिरिक्त यह प्रश्न भी उपस्थित होता है कि जब सब कुछ शून्यता के कारण समानरूप से असत् है तब प्रदेशिनी आदि ह्रस्व पदार्थों की अपेक्षा से ही मध्यमा अंगुली आदि में दीर्घत्व का व्यवहार क्यों होता है ? दीर्घ पदार्थ की अपेक्षा से ही दीर्घ पदार्थों में दीर्घत्व का व्यवहार क्यों नहीं होता ? इसके विपरीत दीर्घ पदार्थ की अपेक्षा से ही ह्रस्व द्रव्य में ह्रस्वत्व का व्यवहार क्यों होता है ? और ह्रस्व की अपेक्षा से ही ह्रस्व में ह्रस्वत्व की प्रवृत्ति क्यों नहीं होती ? असत् के समानरूप से विद्यमान होने पर भी ह्रस्व आदि पदार्थ की अपेक्षा से ही दीर्घत्व आदि के व्यवहार का क्या कारण है ? यह व्यवहार आकाश कुसुम आदि की अपेक्षा से क्यों नहीं होता ? आकाश कुसुम की अपेक्षा से ही आकाश-कुसुम में ह्रस्व आदि व्यपदेश और ज्ञान न होने का क्या कारण है ? अतः यह बात माननी होगी कि सर्वशून्य नहीं है किन्तु पदार्थ विद्यमान हैं। [१७१२]

और जब सर्वशून्य है तब अपेक्षा की भी क्या आवश्यकता है ? क्योंकि जैसे घटादि सत्त्व शून्यता के प्रतिकूल है वैसे अपेक्षा भी शून्यता के प्रतिकूल है।

व्यक्त—यह स्वाभाविक बात है कि अपेक्षा के बिना काम नहीं चलता। अर्थात् अपेक्षा से ही ह्रस्व दीर्घ व्यवहार की प्रवृत्ति होती है यह स्वभाव है। यह प्रश्न नहीं किया जा सकता कि ऐसा स्वभाव क्यों है ? कहा भी है —

'अग्नि जलती है किन्तु आकाश नहीं जलता इसे किससे पूछा जाए[1] ?" अर्थात् ऐसे नियत स्वभाव में किसी से यह प्रश्न या आक्षेप नहीं किया जा सकता कि इससे विपरीत कार्य क्यों नहीं होता ?

शून्यता स्वाभाविक नहीं

भगवान्—स्वभाव मानने से भी सर्वशून्यता की हानि हो जाती है क्योंकि 'स्व' रूप जो भाव है उसे स्वभाव कहते हैं। अतः 'स्व' तथा 'पर' इन दो भावों की

1 अग्निर्दहति नाकाशं कोऽत्र पर्यनुयुज्यताम्।

कल्पना करनी ही पड़ती है। उससे शून्यवाद का स्वतः ही निरास हो जाता है। वन्ध्यापुत्र जैसे अविद्यमान पदार्थों में स्वभाव की कल्पना नहीं की जा सकती, वह विद्यमान पदार्थों में ही करनी पड़ती है। ऐसी स्थिति में शून्यवाद का निरास स्पष्ट है। [१७१३]

अपेक्षा मानने में मुझे भी आपत्ति नहीं, किन्तु मेरे कथन का भाव इतना ही है कि वस्तु के दीर्घ आदि का विज्ञान तथा व्यवहार कथंचित् अपेक्षाजन्य होने पर भी वस्तु की सत्ता अपेक्षाजन्य नहीं है। इसी प्रकार रूप, रस आदि अन्य वस्तु धर्म भी आपेक्षिक नहीं है। अतः वस्तु के अस्तित्व में अन्य किसी की अपेक्षा न होने के कारण उसे असत नहीं कहा जा सकता और फलतः सब शून्य भी नहीं माना जा सकता। [१७१४]

व्यक्त – वस्तु सत्ता तथा उसके रसादि धर्मों को अन्य निरपेक्ष क्यों माना जाए?

वस्तु की अन्य निरपेक्षता

भगवान – यदि वस्तु सत्तादि अन्यनिरपेक्ष न हो तो ह्रस्व पदार्थों का नाश होने पर दीर्घ पदार्थों का भी सर्वथा नाश हो जाना चाहिए क्योंकि दीर्घ पदार्थों की सत्ता ह्रस्व पदार्थ सापेक्ष है। किन्तु ऐसा नहीं होता। अतः यही फलित होता है कि पदार्थ के ह्रस्व आदि धर्म का भान और व्यवहार ही पर सापेक्ष है उसके सत्ता आदि धर्म पर सापेक्ष नहीं है। वे अन्य निरपेक्ष ही हैं। अतः यह नियम दूषित है कि 'सब कुछ सापेक्ष होने से शून्य है'। फलतः सर्वशून्यता भी असिद्ध ही है। [१७१५]

सर्वशून्यता की सिद्धि के लिए अपेक्षा होने से यह हेतु दिया गया है परन्तु यह विरुद्ध है। क्योंकि यह सर्वशून्यता के स्थान पर वस्तु-सत्ता को ही सिद्ध करता है।

व्यक्त—यह कैसे?

भगवान—अपेक्षणरूप क्रिया अपेक्षकरूप कर्ता तथा अपेक्षणीयरूप कर्म इन तीनों में निरपेक्ष अपेक्षा असम्भव ही है। अर्थात् जब क्रिया कर्म और कर्ता तीनों विद्यमान हों तभी अपेक्षा की सम्भावना है। इससे सर्वशून्यता के स्थान पर वस्तु सत्ता ही सिद्ध होती है। अतः उक्त हेतु विरुद्ध है। [१७१६]

स्वतः परतः आदि पदार्थों की सिद्धि

ठीक बात तो यह है कि मेघ आदि कुछ पदार्थ अपने कारणभूत द्रव्य के विस्रसा परिणाम रूप होकर कर्ता आदि किसी की भी अपेक्षा न रखकर, स्वतः सिद्ध कहलाते हैं; घटादि कुछ पदार्थ कुम्भकारादि कर्ता की अपेक्षा रखने से परतः सिद्ध कहलाते हैं; पुत्रादि कुछ पदार्थ माता-पिता आदि पर-पदार्थ तथा स्वोपार्जित कर्म का सम्बन्ध होने से उभयतः सिद्ध कहलाते हैं तथा आकाशादि कुछ पदार्थ नित्य सिद्ध कहलाते हैं। यह समस्त व्यवहार व्यवहार-नयाश्रित है इसे सर्वथा न मानिए। [१७१७]

किन्तु निश्चय-नय की अपेक्षा से बाह्य कारण निमित्त मात्र है उनका उपयोग होने पर भी सब पदार्थ स्वत सिद्ध ही माने जाते हैं। कारण यह है कि बाह्य निमित्तों के होने पर भी खर विषाण आदि पदार्थ यदि स्वत सिद्ध न हो तो वे कभी भी सिद्ध नहीं हो सकते। अत निश्चय-नय के मत से सभी पदार्थ स्वत सिद्ध ही माने जाते हैं। इस प्रकार व्यवहार तथा निश्चय दोनों नयों द्वारा होने वाला वस्तुदर्शन सम्यक् कहलाता है। [१७१८]

व्यक्त--अस्तित्व तथा घट के एकानेकत्व (भेदाभेद) की युक्ति[1] का क्या उत्तर है?

सर्वशून्यता का निराकरण

भगवान्--जब पहले यह सिद्ध हो जाए कि 'घट है' तब यह पर्याय विषयक विचारणा हो सकती है कि घट तथा उसका धर्म अस्तित्व--ये दोनों एक हैं अथवा अनेक। इससे यह स्पष्टत सिद्ध है कि घट अथवा अस्तित्व का अभाव नहीं माना जा सकता। जो वस्तु खर विषाण के समान पहले से ही असिद्ध हो उसके विषय मे भेदाभेद का विचार ही उत्पन्न नहीं होता। यदि घट तथा उसका अस्तित्व अविद्यमान हो और फिर भी उनके विषय में एकानेकत्व की विचारणा हो तो खर विषाण के सम्बन्ध मे भी यह बात होनी चाहिए ऐसा नहीं होता। अत मानना होगा कि घटादि के विषय में यह चर्चा इसीलिए होता है कि खर विषाण के समान उनका सर्वथा अभाव नहीं है। [१७१९]

अपि च, 'घट है' इस पर घट तथा अस्तित्व के विषय मे तुमने जो ऊहापोह की वही ऊहापोह तुम्हारे मत में 'घट शून्य है' इस पर घट तथा शून्यता के विषय में भी की जा सकती है। घट तथा शून्यता में भेद है अथवा अभेद? यदि शून्यता घट से भिन्न है तो व्यक्त! तुम ही बताओ कि घट से भिन्न शून्यता कैसी है? यदि घट तथा शून्यता अभिन्न है तो घट ही मानना चाहिए, क्योंकि वह प्रत्यक्ष द्वारा उपलब्ध होता है। शून्यता रूप धर्म स्वतन्त्ररूपेण उपलब्ध नहीं होता, अत उसे मानने की आवश्यकता नहीं रहती। [१७२०]

पुनश्च, तुम्हें जो यह ज्ञान होता है कि ये तीनों लोक शून्य हैं और तुम उक्त वचन का भी जो व्यवहार करते हो वे दोनों तुम से अभिन्न हैं या भिन्न? यदि अभेद हो तो वस्तु का अस्तित्व सिद्ध होता है, क्योंकि जैसे शिंशपा और वृक्षत्व का एकत्व सद्भूत है वैसे तुम सब का भी है अत शून्यता मानी नहीं जा सकती। यदि तुम विज्ञान और वचन से भिन्न हो तो तुम पत्थर के समान अज्ञानी तथा वचन शून्य बन जाओगे। फिर तुम वादी अर्थात् शून्यवादी कैसे बन सकोगे? शून्यवाद की सिद्धि भी कैसे होगी? [१७२१]

---

1 गाथा 1693 देखें।

इस प्रकार कैसे कहा हो ? एक ही वस्तु ज्ञात तथा अज्ञात दोनों नहीं हो सकती। इसमें स्ववचन विरोध है। यदि ज्ञात अथवा असत् है तो ज्ञानादि विकल्प निरर्थक हैं। यदि असत् पदार्थ के विषय में भी ज्ञानादि का विचार हो सकता है तो आकाश कुसुम के विषय में ऐसी विचारणा क्यों नहीं की जाती? वह भी असत् तो है ही, अतः सर्वशून्य नहीं माना जा सकता। इसके अतिरिक्त मैं पहले यह कह ही चुका हूँ कि यदि सब कुछ शून्य है तो स्वप्न अस्वप्न इत्यादि सब एक समान हो जाने चाहिए अथवा अस्वप्न स्वप्न इत्यादि हो जाने चाहिए आदि। उसी प्रकार यहाँ भी उन सब दोषों का पुनरावर्तन किया जा सकता है और यह कहा जा सकता है कि यदि सब कुछ शून्य ही है तो ज्ञात और अज्ञात दोनों समान होने चाहिए अथवा अज्ञात ज्ञात हो जाने चाहिए इत्यादि। [१७२५]

यदि तुम शून्यवादी का यही मत हो कि घटादि वस्तु किसी भी प्रकार उत्पन्न ही नहीं होती तो मैं यह प्रश्न करता हूँ कि जो घट पहले मिट्टी के पिण्ड में उपलब्ध न था वह कुम्भकार दण्ड चक्रादि सामग्री से उत्पन्न होने के पश्चात् उपलब्ध कैसे हुआ? इस सामग्री के अभाव में यह उपलब्ध क्यों नहीं होता था? फिर उत्पत्ति के बाद यह दृष्टिगोचर हुआ किन्तु तत्पश्चात् मुद्गर आदि से नष्ट हो जाने के बाद कालान्तर में यह दिखाई क्यों नहीं देता? जो वस्तु सर्वथा अज्ञात हो वह खर शृंग के समान सर्वदा अनुपलब्ध रहता है। अतः जिसकी उपलब्धि कादाचित्क हो, उस वस्तु को ज्ञात मानना चाहिए। [१७२६]

पुनश्च ज्ञात अज्ञात आदि विकल्पों द्वारा 'यह सब कुछ शून्य है' ऐसा ज्ञान और वचन भी अज्ञात सिद्ध किया जा सकता है। फिर भी उस ज्ञान और वचन को किसी न किसी प्रकार ज्ञात माने बिना तुम्हारा छुटकारा नहीं हो सकता। उसी प्रकार सब भावों को तुम्हें ज्ञात मानना चाहिए चाहे उनके विषय में ज्ञात अज्ञात आदि विकल्प घटित न होते हों। अतः सब भावों के ज्ञात होने के कारण शून्य नहीं माना जा सकता।

व्यक्त—उस शून्यता विषयक विज्ञान और वचन को भी मैं ज्ञात होने पर भी अज्ञात ही मानता हूँ।

भगवान्—ऐसी स्थिति में अज्ञात विज्ञान तथा वचन द्वारा शून्य का प्रकाशन नहीं होगा। फिर शून्यता का प्रकाश उसके बिना कैसे होगा? अर्थात् यह बात मानने से शून्यता ही असिद्ध हो जायेगी। [१७२७]

व्यक्त—किन्तु ज्ञातादि विकल्पों से वस्तु की उत्पत्ति सिद्ध नहीं होती इस विषय में आप क्या कहते हैं?

1 गा० 1708

व्यक्त—वस्तु न हो और फिर भी अविद्याजन्य भ्रान्ति से वह दिखाई दे तो इससे वस्तु की सत्ता सिद्ध नहीं हो जाती। कहा भी है—

[1]'कामवासना स्वप्न भय, उन्माद तथा अविद्याजन्य भ्रान्ति से मनुष्य अविद्यमान अर्थ को भी केशोण्डुक[2] के समान देखता है।'

भगवान—यदि ऐसा ही है तो शून्यता के समानभाव से होने पर भी कछुआ के बाल की सामग्री किसलिए दिखाई नहीं देती? वचन की ही सामग्री क्यों दिखाई देती है? या तो दोनों की दिखाई देनी चाहिए अथवा किसी की भी नहीं। कारण यह है कि तुम्हारे मत में दोनों समान रूप से शून्य हैं। [१७३२]

पुनश्च, छाती, मस्तक, कण्ठ, ओष्ठ, तालु, जीभ आदि सामग्री रूप वक्ता तथा उसका वचन सत् है या नहीं? यदि वे सत् हैं तो सर्वशून्य नहीं कहा जा सकता। यदि वक्ता और वचन असत् हैं तो यह बात किसने कही कि सब कुछ शून्य है? किस ने सुनी? सर्वशून्य मानने से न कोई वक्ता रहेगा और न कोई श्रोता। [१७३३]

व्यक्त—ठीक तो है वक्ता भी नहीं है, वचन भी नहीं है, अतः वचनीय पदार्थ भी नहीं है। इसीलिए तो सर्वशून्य सिद्ध होता है।

भगवान—किन्तु मैं तुम से पूछता हूँ कि तुमने जो यह बात कही कि वक्ता, वचन तथा वचनीय का अभाव होने से सर्वशून्य ही है, वह (तुम्हारी बात) सत्य है या मिथ्या? [१७३४]

यदि तुम अपने इस वचन को सत्य मानते हो तो वचन का सद्भाव सिद्ध होने से सर्ववस्तु का अभाव सिद्ध नहीं होता। यदि तुम अपने इस वचन को मिथ्या मानते हो तो वह अप्रमाण होने के कारण सर्वशून्यता को सिद्ध करने में असमर्थ है।

व्यक्त—चाहे यह वचन शून्यता को सिद्ध न कर सके फिर भी हम तो शून्यता को मानते ही हैं।

भगवान—तो भी यह प्रश्न हो सकता है कि तुम्हारा यह अभ्युपगम (मान्यता) सत्य है या मिथ्या? उत्तर से यही फलित होगा कि शून्यता नहीं माननी चाहिए। अपि च अभ्युपगम भी तभी घटित हो सकता है जब तुम अभ्युपगन्ता (स्वीकार करने वाला) अभ्युपगम (स्वीकार) तथा अभ्युपगमनीय (स्वीकरणीय वस्तु) इन तीनों वस्तुओं का सद्भाव मानो। किन्तु सर्वशून्यता मानने पर अभ्युपगम भी घटित नहीं होता अतः सर्वशून्यता का आग्रह छोड़ देना चाहिए। [१७३५]

---

1 कामस्वप्नभयोन्मादैरविद्योपप्लवात्तथा। पश्यन्त्यसन्तमप्यर्थं जनः केशोण्डुकादिवत्।

2 आकाश में कुछ भी न हो फिर भी बाल के गुच्छा जैसा दिखाई देता है, उसे केशोण्डुक कहते हैं।

यदि [illegible] हो सकता है [illegible] जाती भांति [illegible]। [illegible] सामग्री से तब क्या नहीं होगा ? [illegible] सब कुछ सिद्ध [illegible] किन्तु प्रतिनियत [illegible] का प्रतिनियत कारण [illegible]। [१३२]

यह भी [illegible] नहीं है कि संसार में जो [illegible] है वह सब सामग्री से ही उत्पन्न [illegible]। [illegible] परमाणु सामग्री से उत्पन्न [illegible] सामग्री-जन्य [illegible] है। किन्तु निरवयव परमाणु किसी से भी उत्पन्न नहीं होता फिर उसे सामग्रीजन्य कैसे कहा जा सकता है ?

व्यक्त—परमाणु भी सप्रदेश (सावयव) है [illegible] वह भी सामग्री जन्य है।

भगवान—किन्तु उस परमाणु के [illegible] अवयव होंगे अथवा उन अवयवों के भी जो अवयव होंगे और इस प्रकार जो अन्तिम निरवयव (अप्रदेशी अवयव) होगा उसको तो सामग्री द्वारा जन्य नहीं माना जाएगा। अतः यह एकान्त नियम नहीं है कि सभी कुछ सामग्रीजन्य है।

व्यक्त—यदि ऐसा कोई परमाणु नहीं मानें तो ?

भगवान् परमाणु का सर्वथा अभाव तो माना नहीं जा सकता। कारण यह है कि उसका कार्य दिखाई देता है। अतः कार्य द्वारा कारण का अनुमान हो सकता है। कहा भी है कि—

'मूर्त वस्तु द्वारा परमाणु का अनुमान किया जा सकता है। वह परमाणु अप्रदेश है, निरवयव है, अन्त्य कारण है, नित्य है और उसमें एक रस, एक वर्ण, एक गंध तथा दो स्पर्श हैं। कार्य द्वारा उसका अनुमान हो सकता है।'[1] [१७३०]

व्यक्त—किन्तु इस परमाणु का अस्तित्व ही नहीं है, क्योंकि वह सामग्री से उत्पन्न नहीं होता।

भगवान—एक ओर तुम कहते हो कि सब कुछ सामग्रीजन्य है और दूसरी ओर कहते हो कि परमाणु नहीं है, यह कथन तो परस्पर विरुद्ध कहलाएगा। तथा कोई कहे कि सभी वचन झूठ हैं तो उसका यह कथन स्ववचन विरुद्ध है, वैसे तुम्हारे कथन में भी विरोध है। कारण यह है कि यदि परमाणु ही नहीं है तो उनसे इतर कौनसी ऐसी सामग्री है जिससे सब कुछ उत्पन्न होता है ? क्या यह सब आकाश

---

1 मूर्तैरणुप्रदेशः कारणमन्त्यं भवेत् तथा नित्यः।
एकरसवर्णगन्धो द्विस्पर्शः कार्यलिङ्गश्च॥

तन्तुओं से उत्पन्न होता है। अतः यदि सब कुछ सामग्रीजन्य मानना हो तो परमाणु रूप सामग्री का अभाव नहीं माना जा सकता। [१७२८]

व्यक्त—किन्तु परभाग का दर्शन नहीं होता तथा [illegible] भाग भी सूक्ष्म होने से अदृश्य है इसलिए उसके द्वारा जो सर्वशून्यता की सिद्धि की थी उस विषय में आप क्या कहते हैं?

सब कुछ अदृश्य नहीं

भगवान्—इसमें भी विरोध है। इस वस्तु के अग्र भाग का तुम्हें ग्रहण होता है फिर भी तुम कहते हो कि वह नहीं है। इससे विरोध और क्या है?

व्यक्त—वस्तुतः सर्वाभाव होने से अग्रभाग का ग्रहण भी भ्रान्ति ही है।

भगवान्—यदि अग्रभाग का ग्रहण भ्रान्ति मात्र है तो फिर शून्य रूप से समान होने पर भी खर शृंग का अग्रभाग क्यों ग्रहण नहीं होता? दोनों का ग्रहण समान रूप से होना चाहिए अथवा नहीं होना चाहिए। समान होने पर यह नहीं हो सकता कि एक का तो ग्रहण हो किन्तु दूसरे का नहीं। यदि यह विपर्यय क्यों नहीं होता? स्तम्भादि के अग्रभाग की जगह खर शृंग का ही अग्रभाग दिखाई दे तथा स्तम्भादि का अग्रभाग दिखाई न दे यह बात क्यों नहीं होती? अतः सर्वशून्यता स्वीकार नहीं किया जा सकता। [१७२९]

पुनश्च 'परभाग दिखाई नहीं देता अतः अग्रभाग भी नहीं होना चाहिए,' तुम्हारा यह अनुमान कितना विचित्र है[1]। अग्रभाग तो प्रबाधित प्रत्यक्ष से सिद्ध है। अतः उक्त अनुमान से अग्नि की उष्णता के समान अग्रभाग बाधित नहीं हो सकता किन्तु अग्रभाग ग्राहक इस प्रत्यक्ष से ही तुम्हारा अनुमान बाधित हो जाता है। तुम यह बताओ कि अग्रभाग के ग्रहण से परभाग की सिद्धि क्यों नहीं होती? कारण यह है कि अग्रभाग सापेक्ष है अतः यदि कोई परभाग हो तो अग्रभाग भी सम्भव है अन्यथा नहीं। इस प्रकार अग्रभाग के अस्तित्व के बल पर परभाग का अनुमान सहज है।

अदर्शन अभाव साधक नहीं होता

पुनश्च केवल अदर्शन से वस्तु का निह्नव(उत्थापन)नहीं किया जा सकता। देशादि से विप्रकृष्ट वस्तुओं के विद्यमान होने पर भी उनका दर्शन नहीं होता फिर भी उनका अभाव नहीं माना जा सकता। सारांश यह है कि परभाग के अदर्शन मात्र से अग्रभाग का निषेध नहीं हो सकता। अग्रभाग का दर्शन होने के कारण अदृश्य रूप परभाग का अस्तित्व भी अनुमान से सिद्ध किया जा सकता है। जैसे कि दृश्य वस्तु का परभाग भी है क्योंकि तत्सम्बद्ध अग्रभाग का ग्रहण होता है। जहां

1 गाथा 1696

व्यक्त—पृथ्वी आदि भूतों का आधार आकाश है, यह दृष्टान्त न अन्य का आधार रूप जिस दृष्टान्त से पृथ्वी का आधार सिद्ध किया गया है उस सभी आधाररूप में सिद्ध करता है। इसलिए वह आधारभूत अन्य में साध्य होता है। फिर आधाररूप में सब ओर अभिन्न पृथ्वी को दृष्टान्त में कैसे सम्मिलित किया जा सकता है?

भगवान्—ऐसी अवस्था में उक्त अनुमान के स्थान पर निम्न अनुमान से भूतों का आधार सिद्ध करना चाहिए: पृथ्वी आधार वाली है मूर्त होने से, पानी के समान। इसी प्रकार पानी के आधार की सिद्धि के लिए अग्नि, अग्नि के आधार की सिद्धि के लिए वायु तथा वायु के आधार की सिद्धि के लिए पृथ्वी का दृष्टान्त देकर पृथक्-पृथक् भूतों का आधार सिद्ध करना चाहिए। इससे उक्त दोष की निवृत्ति हो जाएगी। इस प्रकार चार भूतों के आधार रूप आकाश की सिद्धि हो जाने के कारण उसके अस्तित्व में सन्देह का अवकाश नहीं रहता। [१७४०]

हे सौम्य! इस प्रकार प्रत्यक्षादि प्रमाणों से सिद्ध भूतों की सत्ता स्वीकार करनी ही चाहिए। जब तक शस्त्र से उपघात न हुआ हो तब तक ये भूत सचेतन अथवा सजीव हैं, शरीर के आधारभूत हैं और विविध प्रकार से जीव के उपभोग में आते हैं। [१७४१]

व्यक्त—आप ने भूतों को सजीव कैसे कहा?

भूत सजीव हैं

भगवान्—पृथ्वी, जल, अग्नि और वायु ये चार ही सचेतन हैं, क्योंकि उनमें जीव के लक्षण दिखाई देते हैं। किन्तु आकाश अमूर्त है और वह केवल जीव का आधार ही बनता है। वह सजीव नहीं है। [१७४२]

व्यक्त—पृथ्वी के सचेतन होने में क्या हेतु है?

भगवान—सुनो। पृथ्वी सचेतन है क्योंकि उसमें स्त्री में दृग्गोचर होने वाले जन्म, जरा, जीवन, मरण, क्षतसंरोहण, आहार, दोहद, रोग, चिकित्सा इत्यादि लक्षण पाये जाते हैं।

व्यक्त—अचेतन में भी जन्म आदि दिखाई देते हैं, जैसे दही उत्पन्न हुआ। जीर्ण विष, निरिन्द्रिय कुसुमों जैसे प्रयोग में दही आदि में भी जन्म इत्यादि है, फिर भी वह सजीव नहीं।

भगवान्—दही आदि अचेतन वस्तु में ऐसा प्रयोग औपचारिक है, क्योंकि उसमें जरादि सभी धर्म मनुष्य के समान दिखाई नहीं देते। किन्तु वृक्षों में तो जन्मादि सभी भाव निरुपचरित हैं, अतः उन्हें सचेतन मानना चाहिए।

पृथ्वी आदि चारों भूत जीव द्वारा उत्पन्न तथा जीव के आधारभूत शरीर हैं। कारण यह है कि वे अभ्रविकार से भिन्न प्रकार की मूर्त जाति के द्रव्य हैं जैसे कि गाय आदि का शरीर। ये शरीर जब तक शस्त्रापहत न हों तब तक सजीव है तथा शस्त्रापहत होने के बाद वे निर्जीव हो जाते हैं। [१७७६]

हे सौम्य ! यदि संसार में पृथ्वी आदि एकेन्द्रिय जीव न हों तो संसार का ही विच्छेद हो जाए। कारण यह है कि संसार में से अनेक जीव मोक्ष में जाते रहते हैं तथा नए जीव उत्पन्न नहीं होते। लोक भी अति परिमित है अतः उसमें स्थूल जीव तो थोड़े में ही रह सकते हैं इसलिए संसार जीव रहित हो जाएगा। किन्तु यह बात कोई भी स्वीकार नहीं करता कि संसार जीव रहित हो जाता है। अतः पार्थिव आदि एकेन्द्रिय जीवों की अनन्त संख्या माननी चाहिए। ये जीव भूतों को अपना आधारभूत शरीर बनाकर उनमें उत्पन्न होते हैं। [१७८०-८१]

व्यक्त—यदि पृथ्वी आदि भूतों में आपके कथनानुसार अनन्त जीव हों तो साधु को भी आहारादि लेने के कारण अनन्त जीवों की हिंसा का दोष लगेगा। इससे अहिंसा का अभाव हो जाएगा।

भूतों के सजीव होने पर भी अहिंसा का सद्भाव

भगवान—अहिंसा का अभाव नहीं होता क्योंकि मैं पहले ही कह चुका हूँ कि शस्त्रापहत पृथ्वी आदि भूतों में जीव नहीं होता। अतः सभी भूत निर्जीव होते हैं।

तुम्हें हिंसा और अहिंसा का विवेक करना चाहिए। लोक जीवों से परिपूर्ण है, केवल इतने से ही हिंसा हो जाती है यह बात नहीं है। [१७८२]

अपि च यह भी ठीक नहीं है कि कोई व्यक्ति जीव का घातक बना और इसी से वह हिंसक हो गया। यह भी असंगत है कि एक व्यक्ति किसी जीव का घातक नहीं, अतः वह निश्चयपूर्वक अहिंसक है। यह बात भी नहीं है कि थोड़े जीव हों तो हिंसा नहीं होती और अधिक जीव हों तो हिंसा होती है। [१७]

व्यक्त—फिर किसी को हिंसक या अहिंसक कैसे समझना चाहिए ?

हिंसा अहिंसा का विवेक

भगवान—जीव की हत्या न करने पर भी दुष्ट भावों के कारण कसाई के समान हिंसक कहलाता है तथा जीव का घातक होने पर भी शुद्ध भावों के कारण सुवैद्य के समान अहिंसक कहलाता है। इस प्रकार अनुक्रम से शुद्ध तथा दुष्ट भावों के कारण जीव को मारने पर भी अहिंसक तथा न मारने पर भी हिंसक कहलाता है। [१७८४]

व्यक्त—फिर भी हिंसा का प्रश्न तो रह ही जाता है ?

भगवान—पाँच समिति तथा तीन गुप्ति सम्पन्न ज्ञानी साधु अहिंसक होता है किन्तु इसके विपरीत जो असंयमी है वह हिंसक है। उक्त संयमी से जीव का घात हो या न हो किन्तु उसमें वह हिंसक नहीं कहलाता, क्योंकि हिंसक होने का आधार आत्मा के अध्यवसाय पर है। बाह्य निमित्त रूप जीवघात तो व्यभिचारी है। [१७६५]

व्यक्त—यह कैसे ?

भगवान—वस्तुतः निश्चय नय से अशुभ परिणाम का नाम ही हिंसा है। यह अशुभ परिणाम बाह्य जीवघात की अपेक्षा रख भी सकता है और नहीं भी रखता। सारांश यह है कि अशुभ परिणाम ही हिंसा है। बाह्य जीव का घात हुआ हो या न हुआ हो अशुभ परिणाम वाला जीव हिंसक है। [१७६६]

व्यक्त—तो क्या बाह्य जीव का घात हिंसा नहीं कहलाती ?

भगवान—जो जीव-वध अशुभ परिणामजन्य हो अथवा अशुभ परिणाम का जनक हो वह जीव-वध तो हिंसा ही है, अतः यह नहीं कहा जा सकता कि जीव-वध सर्वथा हिंसा है ही नहीं। जो जीव-वध अशुभ परिणाम से जन्य नहीं अथवा अशुभ परिणाम का जनक नहीं, वह हिंसा की कोटि में नहीं आता। [१७६७]

जैसे इन्द्रियों के विषय रूप, शब्दादि वीतराग पुरुष के लिए राग के जनक नहीं होते, क्योंकि वीतराग पुरुष के भाव शुद्ध हैं वैसे ही संयमी का जीव-वध भी हिंसा नहीं है। कारण यह है कि उसका मन शुद्ध है।

अतः हे व्यक्त ! यह कहना ठीक नहीं कि लोक-जीव संकुल है, अतः संयमी को भी हिंसा का दोष लगेगा और अहिंसा का अभाव हो जाएगा।

इस तरह यह बात सिद्ध हो गई कि संसार में पाँच भूत हैं, उनमें पहले चार—पृथ्वी, जल, तेज, वायु सजीव हैं और पाँचवा आकाश निर्जीव है।

व्यक्त—प्रमाण से पाँच भूतों की सिद्धि हुई, किन्तु वेद-वचन के विरोध के विषय में आप क्या कहते हैं ?

वेद-वचन का समन्वय

भगवान्—वेद में संसार के सभी पदार्थों को स्वप्न-सदृश कहा है इसका अर्थ यह नहीं है कि उनका सर्वथा अभाव है। किन्तु भव्य जीव इन पदार्थों में अनुरक्त होकर मूढ़ न हो जाएँ उनमें आसक्त न हो जाएँ इस उद्देश्य से उन्हें स्वप्नोपम अथवा असार बताया गया है। मनुष्य संसार के परिग्रह से मुक्त हो कर

सुधर्मा—हाँ, भगवन्! आपका कथन ठीक-ठाक यह ही है किन्तु मेरी मान्यता अयुक्त क्या है?

संशय निवारण—कारण से विलक्षण कार्य

भगवान्—यह कोई एकान्तिक नियम नहीं है कि कार्य कारण के सदृश ही होता है। शृंग से भी शर नामक वनस्पति उत्पन्न होती है और उसी पर यदि सरसों का लेप किया जाए तो पुनः उसी में से अमुक प्रकार का घास उत्पन्न होता है। इसके अतिरिक्त गाय तथा बकरी के बालों से दूर्वा उत्पन्न होती है। इस प्रकार नाना प्रकार के द्रव्यों के संयोग से विलक्षण वनस्पति की उत्पत्ति का वर्णन वृक्षायुर्वेद में है। इससे सिद्ध होता है कि यह कोई नियम नहीं है कि कार्य कारणानुरूप ही होता है। कार्य कारण से विलक्षण भी हो सकता है। योनिप्राभृत के योनि-वर्णन से भी सिद्ध होता है कि नाना द्रव्यों के सम्मिश्रण से सर्प सिंहादि प्राणियों का तथा सुवर्ण व मणि की उत्पत्ति होती है। अतः यह मानना चाहिए कि कार्य कारण से विलक्षण भी उत्पन्न हो सकता है। यह एकान्त नहीं है कि कार्य कारणानुरूप ही होना चाहिए। [१७७४-७५]

कारण वैचित्र्य से कार्य वैचित्र्य

कारणानुरूप कार्य मानने पर भी भवान्तर में विचित्रता की सम्भावना है। अर्थात् कारणानुरूप कार्य स्वीकार करके भी यह निश्चित नहीं किया जा सकता कि मनुष्य मरकर मनुष्य ही बनता है।

सुधर्मा—यह कैसे?

भगवान्—यदि तुम बीज के अर्थात् कारण के अनुरूप ही अंकुर अर्थात् कार्य की उत्पत्ति मानते हो तो भी तुम्हें परजन्म में जीव में वैचित्र्य मानना ही पड़ेगा। कारण यह है कि भवांकुर का बीज मनुष्य नहीं किन्तु उस का कर्म है और वह विचित्र होता है। अतः इसमें कोई नई बात नहीं कि मनुष्य का परभव विचित्र हो। जब कारण ही विचित्र है तो कार्य भी विचित्र होगा ही।

सुधर्मा—कर्म की विचित्रता का क्या कारण है?

भगवान्—कर्म के हेतुओं—मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय, योग में विचित्रता है अतः कर्म भी विचित्र है। कर्म के विचित्र होने के कारण जीव का भवांकुर भी विचित्र ही होगा। यह बात तुम्हें माननी ही चाहिए। अतः मनुष्य मर कर अपने कर्मों के अनुसार नारक, देव, अथवा तिर्यंच रूप में भी जन्म ले सकता है। [१७७६-७८]

उक्त वस्तु को सिद्ध करने के लिए अनुमान प्रमाण भी है। वह यह है—जीवों की सांसारिक अवस्था नारकादि रूप में विचित्र है, अतः वह विचित्र कर्म का फल अथवा कार्य है। जो विचित्र हेतु का फल होता है वह विचित्र होता है जैसे कृषि आदि विचित्र कर्म का फल लोक में विचित्र दृष्टिगोचर होता है।[१७७९]

सुधर्मा—कर्म की विचित्रता का क्या प्रमाण है?

भगवान्—कर्म पुद्गल का परिणाम है अतः उस में बाह्य अभ्रादि विकार के समान अथवा पृथ्वी आदि के विकार के समान विचित्रता है। जो विचित्र परिणति वाला नहीं होता वह आकाश के समान पुद्गल का परिणाम भी नहीं होता। यद्यपि पुद्गल के परिणाम के रूप में कर्म के सभी परिणाम समान हैं तथापि कर्म की आवरण रूप से जो विशेषता है वह मिथ्यात्व आदि सामान्य हेतुओं तथा ज्ञानी के प्रद्वेष आदि विशेष हेतुओं की विचित्रता के कारण है। [१७८०]

सुधर्मा—क्या इस भव के समान परभव कभी सम्भव ही नहीं है?

इस भव की तरह पर भव विचित्र है

भगवान्—यदि इस भव के अनुरूप परभव मानना हो तो भी जैसे इस भव में कर्मफल की विचित्रता दृश्य है उसे परभव में भी माननी चाहिए। अर्थात् इस भव में जीव शुभाशुभ विचित्र क्रिया करते हैं, विचित्र कर्म करते हैं उनके अनुरूप ही परभव में भी विचित्र फल मानना चाहिए। [१७८१]

सुधर्मा—कृपया आप इसे स्पष्टता पूर्वक समझाएँ।

भगवान्—इस संसार में जीव नाना प्रकार से कर्म बाँधते हैं, कुछ नारक योग्य कर्म का बन्ध करते हैं तथा कुछ देव आदि योनि के योग्य। यह बात सभी को प्रत्यक्ष है। अब यदि परलोक में इन कर्मों का फल उन्हें मिलना ही हो तो हम यह कह सकते हैं कि इस लोक में उन के कर्म या उन की क्रिया की जैसी विचित्रता है वैसी ही परलोक में उन जीवों की विचित्रता होगी। अतः एक अपेक्षा से तुम्हारा कथन ठीक ही है कि इस भव में जो जैसा होता है वह परलोक में भी वैसा ही होता है। अर्थात् जो इस भव में अशुभ कर्म बाँधता है वह परभव में भी अशुभ कर्मों को भोगने वाला होता है। इस प्रकार जैसे का तैसा इस अर्थ का स्वीकार करने से तुम्हारा न्याय भी युक्त हो जाता है। [१७८२]

कर्म का फल परभव में भी होता है

सुधर्मा—इस भव में ही जिसका फल मिलता है ऐसा कृषि आदि कर्म ही सफल है किन्तु परभव के लिए जो दानादि कर्म किए जाते हैं उनका कुछ भी फल नहीं मिलता। अतः परभव में विचित्रता का कोई कारण नहीं रहेगा। फलतः इस

भव में जीव मनुष्यादि के रूप में जन्मा होगा, वह वैसा ही पर भव में भी रहेगा उसमें वैसादृश्य का प्रसंग नहीं रहता।

भगवान्—ऐसी मान्यता मान लेने पर भव में जीव का तुम्हें जो इष्ट है वह सर्वथा सादृश्य घटित ही नहीं होता। पर भव में जीव की उत्पत्ति का कारण कर्म है किन्तु तुम उस कर्म या कर्म के फल को परलोक में मानते ही नहीं।

सुधर्मा—कर्म के बिना भी जीव परलोक में सदृश ही होता है।

भगवान्—इस में तो निष्कारण की उत्पत्ति माननी पड़ेगी, क्योंकि परलोक में सादृश्य के किसी भी कारण के अभाव में उसकी उत्पत्ति हुई किन्तु उत्पत्ति निष्कारण नहीं होती। अतः यह मानना पड़ेगा कि जो कर्म नहीं किया, उसका फल मिला, तथा परलोक के लिए जो दानादि क्रिया की थी वह निष्फल सिद्ध हुई। इस प्रकार कृत का नाश स्वीकार करना होगा। [१७८२]

अपि च यदि दानादि क्रिया परलोक में निष्फल होगी तो वस्तुतः कर्म का ही अभाव हो जाएगा। उस के अभाव में परलोक की ही सत्ता नहीं रहेगी। फिर सादृश्य का प्रश्न ही कैसे उत्पन्न होगा?

सुधर्मा—कर्म के अभाव में भी भव मानने में क्या आपत्ति है?

कर्म के अभाव में संसार नहीं

भगवान्—ऐसी स्थिति में भव का नाश भी निष्कारण मानना पड़ेगा। अतः नाश के लिए तपस्या आदि अनुष्ठान भी व्यर्थ ही सिद्ध होंगे। फिर यदि भव निष्कारण हो सकता है तो जाति के वैसादृश्य को भी निष्कारण ही क्यों न मान लिया जाए? [१७८४]

सुधर्मा—कर्म के अभाव में स्वभाव से ही परभव मानने में क्या हानि है? जैसे कर्म के बिना भी मिट्टी के पिण्ड से उस के अनुरूप घट का निर्माण स्वभावतः होता है, वैसे ही जीव की सदृश जन्म परम्परा स्वभाव से ही होती है।

परभव स्वभाव जन्य नहीं

भगवान्—घट भी केवल स्वभाव से ही उत्पन्न नहीं होता, किन्तु वह कर्त्ता, करण आदि की भी अपेक्षा रखता है। इसी प्रकार जीव के विषय में भी जीव का तथा उसके परभव के शरीर आदि के निर्माण में करण की अपेक्षा है। संसार में जो करण होता है वह कर्त्ता से तथा कार्य से—कुम्भकार और घट से—चक्र के समान भिन्न होता है। इसलिए जीवरूप कर्त्ता से तथा पारभविक शरीर रूप कार्य से प्रस्तुत में भी करण पृथक् होना चाहिए। वही कर्म है।

उसे ही मैं कर्म कहता हूँ। इनमें केवल नामका भेद है। स्वभाव परिणामी होने के कारण दूध के समान सदा एक जैसा भी नहीं रह सकता। अथवा बादल के समान मूर्त होने के कारण भी स्वभाव एक जैसा नहीं रह सकता।

सुधर्मा—स्वभाव मूर्त नहीं परंतु अमूर्त है।

भगवान्—यदि स्वभाव अमूर्त है तो उपकरण रहित होने से वह शरीर आदि कार्यों का उत्पादक नहीं हो सकता। जैसे कुम्भकार दण्डादि उपकरण के बिना घट का निर्माण नहीं कर सकता वैसे स्वभाव भी उपकरण के अभाव में शरीर आदि का निर्माण नहीं कर सकता अथवा अमूर्त होने से आकाश के समान वह कुछ भी नहीं कर सकता।

पुनश्च, शरीर आदि कार्य मूर्त है तो भी हे सुधर्मन्[1] अमूर्त स्वभाव से उसका निष्पादन सम्भव नहीं है जैसे अमूर्त आकाश से मूर्त कार्य नहीं होता। मूर्त कर्म को माने बिना सुख संवेदन आदि भी घटित[1] नहीं होता। इसकी विशेष चर्चा अग्निभूति के साथ की ही गई है। अतः स्वभाव को अमूर्त भी नहीं माना जा सकता। [१७८६–९०]

सुधर्मा– ऐसी स्थिति में दूसरे विकल्प के अनुसार स्वभाव अर्थात् निष्कारणता यह उपयुक्त प्रतीत होता है।

भगवान्—स्वभाव को निष्कारणता मान कर भी परभव में सादृश्य कैसे घटित होगा? यदि सादृश्य का कोई कारण नहीं है तो वैसादृश्य का कारण भी क्या माना जाए? अर्थात् सादृश्य के समान वैसादृश्य भी कारण रहित हो जाएगा। फिर कारण न होने से भव का विच्छेद ही क्यों नहीं हो जाता? अथवा मोक्ष भी निष्कारण मानना चाहिए। यदि शरीरादि की उत्पत्ति कारण विहीन है तो खर विषाण की उत्पत्ति क्या नहीं हो जाती? कारण के बिना शरीरादि का प्रतिनियत आकार भी कैसे होगा? बादलों के समान अनियत आकार वाला शरीर क्यों उत्पन्न नहीं होता? स्वभाव को निष्कारणता मानने में इन समस्त प्रश्नों का समाधान नहीं होता। अतः अकारणता को स्वभाव नहीं माना जा सकता। [१७९१]

सुधर्मा—फिर स्वभाव को वस्तु धर्म मानना चाहिए।

भगवान्–यदि स्वभाव वस्तु धर्म हो तो वह सदा एक जैसा नहीं रह सकता ऐसी दशा में वह सदा सदृश शरीरादि का किस प्रकार उत्पन्न कर सकेगा?

सुधर्मा—किन्तु वस्तु धर्मरूप स्वभाव सदा सदृश क्यों नहीं रह सकता?

भगवान्—कारण यह है कि वस्तु की पर्याय उत्पाद स्थिति भंगरूप विचित्र होती है, अतः वे सदा सदृश नहीं रह सकतीं। वस्तु के नीलादि धर्मों का अन्य रूप

1 गाथा 1625 1626

एक जीव प्रथम मनुष्य है, किन्तु मरकर जब वह देव बनता है तब सत्त्वादि धर्मों के कारण अपनी पूर्वावस्था के साथ तथा समस्त विश्व के साथ उसकी समानता होने पर भी देवत्वादि धर्मों के कारण पूर्वावस्था से असमानता है। उसी प्रकार वही मनुष्य जीव रूप से नित्य है किन्तु मनुष्यादि पर्याय-रूप से अनित्य है। जीव जैसे समान और असमान धर्मों वाला है वैसे ही वह नित्य और अनित्य भी है। उसमें इसी प्रकार अन्य अनेक विरोधी धर्मों की भी सिद्धि होती है। अतः परभव में जीव में सर्वथा सादृश्य नहीं है।

सुधर्मा—मेरे मतानुसार भी कारण के साथ कार्य का सर्वथा सादृश्य नहीं है। किन्तु जब मैं यह कहता हूँ कि पुरुष मर कर पुरुष होता है तब मेरा तात्पर्य केवल जाति के सादृश्य से है। अर्थात् जाति नहीं बदलती, यही कथन करना मुझे इष्ट है।

पर भव में वही जाति नहीं

भगवान्—किन्तु यदि तुम पर भव को कर्मजन्य मानते हो तो कर्म के हेतु की विचित्रता के कारण कर्म को भी विचित्र ही मानना पड़ेगा। फलतः कर्म का फल भी विचित्र स्वीकार करना होगा। अतः यह नहीं कहा जा सकता कि पर भव में उसी जाति का सादृश्य रहता है। [१७६८]

अपि च, यदि जाति समान ही रहती है तो समान जाति में भी जो उत्कर्ष अपकर्ष दिखाई देता है, वह घटित नहीं होता। जो पुरुष इस भव में सम्पत्तिशाली हो उसे पर भव में भी वैसा ही रहना चाहिए। जो इस भव में दरिद्र हो उसे पर भव में भी दरिद्र होना चाहिए। फलतः पर भव में उत्कर्ष तथा अपकर्ष का अवकाश नहीं रहेगा। यदि यही बात हो तो दानादि का फल क्या सिद्ध होगा? उसे निष्फल मानना पड़ेगा। किन्तु दानादि को निष्फल नहीं मान सकते। कारण यह है कि लोग इसी भावना से दानादि सत्कार्य में प्रवृत्त होते हैं कि परलोक में उन्हें देवताओं की समृद्धि मिले जिससे उनका उत्कर्ष हो। यदि सत्कार्य का कोई फल ही नहीं होता तो लोग दानादि में क्या प्रवृत्त होंगे? [१७६९]

वेद वाक्यों का समन्वय

अपि च जाति सादृश्य का यदि एकान्त आग्रह रखा जाए तो वेद के निम्नलिखित वाक्य का विरोध होगा—'शृगालो वै एष जायते यः सपुरीषो दह्यते।' अर्थात् 'जिसे मल मूत्र सहित जलाया है वह शृगाल बनता है।' उक्त वेद-वाक्य में यह सिद्ध होता है कि पुरुष मरकर शृगाल हो सकता है। इसके अतिरिक्त 'अग्निहोत्रं जुहुयात् स्वर्गकामः' अर्थात् 'स्वर्ग का इच्छुक अग्निहोत्र करे' तथा 'अग्निष्टोमेन यमराज्यमभिजयति' अर्थात् 'अग्निष्टोम से यमराज्य पर विजय प्राप्त करता है'

इत्यादि वाक्यों में मनुष्य की स्वर्ग प्राप्ति तथा देवत्व प्राप्ति का उल्लेख है, वह भी बाधित हो जाएगा। अतः परभव में जाति-सादृश्य का आग्रह नहीं रखना चाहिए।

सुधर्मा—फिर वेद में यह कथन किस लिए किया है कि 'पुरुषो वै पुरुषत्वमश्नुते पशवः पशुत्वम्'। अर्थात् पुरुष मर कर पुरुष होता है तथा पशु मर कर पशु होते हैं आदि।

भगवान—तुम इस वाक्य का यथार्थ अर्थ नहीं जानते, इसीलिए तुम्हें संदेह होता है। इसका अर्थ यह है—जो मनुष्य इस भव में सज्जन प्रकृति का होता है, विनयी दयालु तथा अमत्सरी होता है, वह मनुष्य-नाम-कर्म तथा मनुष्य गोत्रकर्म का बंधन करता है। तदनन्तर वह मर कर उस कर्म के कारण पुनः मनुष्यरूप में जन्म ग्रहण करता है। सभी मनुष्य उक्त कर्म का बंधन नहीं करते, अतः अन्य पुरुष भिन्न प्रकार के कर्म-बंधन के कारण अन्यान्य योनि में जन्म लेते हैं। इसी प्रकार इस भव में जो पशु माया के कारण पशु-नाम-कर्म तथा पशु-गोत्र-कर्म का उपार्जन करते हैं वे परभव में भी पुनः पशुरूप में उत्पन्न होते हैं। सभी पशु उक्त कर्म का बंधन नहीं करते, अतः सभी पशुरूप में अवतरित नहीं होते। इस प्रकार जीव की गति कर्मानुसारी है। [१८००]

उक्त प्रकार से जरा मरण से रहित भगवान ने जब उसके संशय का निवारण किया तब सुधर्मा ने अपने ५०० शिष्यों के साथ जिन दीक्षा अंगीकार की। [१८०१]

छठे गणधर मण्डिक

बन्ध मोक्ष-चर्चा

उन सब के दीक्षित होने का समाचार प्राप्त कर मण्डिक ने विचार किया कि मैं भगवान् के पास जाऊँ, उन्हें नमस्कार करूँ तथा उनकी सेवा करूँ। यह विचार कर वह भगवान् के पास गया। [१८०२]

जाति-जरा-मरण से रहित भगवान् ने 'सर्वज्ञ-सर्वदर्शी होने के कारण उसे 'मण्डिक वशिष्ठ!' कह कर सम्बोधित किया। [१८०३]

बन्ध मोक्ष का संशय

तथा उसे कहा—वेद में एक वाक्य है "[1]स एष विगुणो विभुर्न बध्यते संसरति वा, न मुच्यते मोचयति वा, न वा एष बाह्यमभ्यन्तरं वा वेद" इससे तुम्हें यह प्रतीत होता है कि जीव के बन्ध और मोक्ष नहीं होते। किन्तु एक दूसरा वाक्य यह है—न ह वै सशरीरस्य प्रियाप्रिययोरपहतिरस्ति अशरीरं वा वसन्तं प्रियाप्रिये न स्पृशतः[2]। इससे तुम यह समझते हो कि जीव सशरीर और अशरीर इन दो अवस्थाओं को प्राप्त होता है अर्थात् जीव के बन्ध व मोक्ष है। इस प्रकार वेद वाक्यों का कथन परस्पर विरोधी होने से तुम्हारे मन में सन्देह है कि वस्तुतः जीव के बन्ध व मोक्ष होते हैं या नहीं।

किन्तु तुम उक्त वाक्यों का यथार्थ अर्थ नहीं जानते, इसीलिए तुम्हें यह सन्देह है मैं तुम्हें उनका ठीक-ठीक अर्थ बताऊँगा। [१८०४]

अपि च तुम युक्ति से भी बन्ध मोक्ष का अभाव सिद्ध करते हो, किन्तु वेद में उनका सद्भाव प्रतिपादित किया है। इसलिए भी तुम्हें संशय होता है कि बन्ध मोक्ष की सत्ता है या नहीं। बन्ध मोक्ष के विरोध में तुम ये युक्तियाँ देते हो—

यदि जीव का कर्म के साथ संयोग ही बन्ध है तो वह बन्ध सादि है या अनादि? यदि वह सादि है तो प्रश्न होता है कि १ प्रथम जीव तथा तत्पश्चात् कर्म

---

1 अर्थात् यह आत्मा सत्त्वादि गुणरहित विभु है। उसे पुण्य पाप का बन्ध नहीं होता अथवा उसका संसार नहीं है। वह कर्म से मुक्त नहीं होता कर्म को मुक्त नहीं करता, अर्थात् वह अकर्ता है। वह बाह्य या आभ्यन्तर कुछ भी नहीं जानता क्योंकि ज्ञान प्रकृति का धर्म है।

2 अर्थात् सशरीर जीव के प्रियाप्रिय का [सुख दुःख का] नाश नहीं होता किन्तु अशरीर अमूर्त जीव को प्रियाप्रिय का सुख दुःख का स्पर्श भी नहीं होता।

वाले गाय के सींगो मे एक को कर्त्ता तथा दूसरे को काय नहीं कहा जा सकता वस ही यदि जीव व कम एक साथ उत्पन्न हो तो उनमे भी कर्त्ता कम का व्यपदेश (व्यवहार) घटित नहीं हो सकता। इस प्रकार तुम यह मानते हो कि जीव व कम का सयोग सादि मानने मे अनुपपत्ति है। [१८०६-१०]

तुम्हे जीव व कम का अनादि सम्बन्ध भी अयुक्त प्रतीत होता है। कारण यह है कि उन्हे अनादि मानने पर जीव का मोक्ष कभी भी सम्भव नही हो सकता। जो वस्तु अनादि होती है वह अनन्त भी होती है जसे कि जीव तथा आकाश का सम्बन्ध अनादि भी है और अनन्त भी। इसी प्रकार जीव व कम का सम्बन्ध भी अनादि होने पर अनन्त मानना पडेगा। अनन्त होने पर मोक्ष की सम्भावना ही नही रहती, क्योकि कम सयोग का अस्तित्व हमेशा बना रहेगा। [१८११]

इस प्रकार पूर्वोक्त वेदवाक्यो के अतिरिक्त तुम युक्ति के आधार पर भी यही मानते हो कि जीव मे बन्ध व मोक्ष घटित नही होते किन्तु वेदवाक्य मे इन दोनो के अस्तित्व का भी प्रतिपादन है। अत तुम्हे बन्ध मोक्ष की वास्तविक सत्ता मे सन्देह है किन्तु तुम्हे ऐसा सशय नही करना चाहिए। मै तुम्हे इसका कारण बताता हू तुम ध्यानपूवक सुनो। [१८१२]

मण्डिक—कृपया मेरे सशय का निवारण कर तथा बताए कि मेरी युक्ति मे क्या दोष है? तथा जीव के बन्ध मोक्ष कसे सम्भव हैं?

सशय निवारण-कम-सन्तान अनादि है

भगवान—तुम्हारे द्वारा उपस्थित की गई युक्ति का सार यह है कि जीव व कम का सम्बन्ध सिद्ध नही हो सकता। इस विषय का स्पष्टीकरण यह है कि शरीर तथा कम का सन्तान अनादि है क्योंकि इन दोनो मे परस्पर कायकारण भाव है—बीजाकुर के समान। जसे बीज मे अकुर तथा अकुर से बीज होता है और यह क्रम अनादि काल से चलता आ रहा है अत इन दोनो की सन्तान अनादि है उसी प्रकार देह से कम और कम से देह की उत्पत्ति का क्रम अनादि काल से चला आ रहा है इसलिए इन दोनो की सन्तान अनादि है।

अत तुम्हारे इन विकल्पो का कोई अवकाश नही रहता कि जीव पहले या कम पहले। कारण यह है कि उनकी सन्तान अनादि है। कम का अनादि सन्तान की सिद्धि निम्न प्रकारेण होती है—

शरीर से कम उत्पन्न होता है—अथात कम शरीर का काय है। किन्तु यदि शरीर ने कम को उत्पन्न किया है तो शरीर भी पूव कम का काय है अर्थात वह भी कम से उत्पन्न होता है। पूव मे जिन कर्मों ने कर्मोत्पादक शरीर को उत्पन्न किया वे कम भी पूव शरीर से उत्पन्न हुए होते हैं। अत कम और देह परस्पर काय

भव्यों का मोक्ष मानने से भी ससार खाली नहीं होता

भगवान्– ऐसा नही हो सकता। अनागत काल तथा आकाश के समान भव्य भी अनन्त हैं अत ससार कभी भी भव्यो से शून्य नहीं हो सकता। अनागत काल की समय राशि म प्रत्येक क्षण कमी होती रहती है किन्तु वह अनन्त समय प्रमाण है, अत उसका कभी भी उच्छेद सम्भव नही है। अथवा आकाश के अनन्त प्रदेशो म से कल्पना द्वारा प्रति समय एक-एक प्रदेश अलग किया जाए तो भी आकाश के प्रदेशो का उच्छेद नही होता। इसी प्रकार भव्य जीव भी अनन्त हैं प्रत्येक समय उनमे से कुछ के मोक्ष जाने पर भी भव्य राशि का कभी उच्छेद नही होता। [१८२७]

अपि च अतीत काल तथा अनागत काल का परिणाम समान होता है। अतीत काल म भव्यों का अनन्तवां भाग ही सिद्ध हुआ है और वह निगोद के जीवो का अनन्तवा भाग है। अत अनागत काल मे भी उतना भाग ही सिद्ध हो सकेगा। कारण यह है कि उसका परिमाण अतीत काल जितना ही है। अत ससार से कभी भी भव्य जीवो का उच्छेद सम्भव नहा है, सम्पूर्ण काल म भी भव्य जीवो के उच्छेद का प्रसग नहीं आएगा।

मण्डिक—किन्तु आप यह कसे सिद्ध करते हैं कि भव्य अनन्त हैं तथा सवकाल म उनका अनन्तवा भाग ही मुक्त होता है ?

भगवान—आकाश तथा काल के समान भव्य जीव भी अनन्त है। जसे इन दोनों का उच्छेद नही होता वसे भव्य जीवो का भी उच्छेद नहीं होता। अत यह बात स्वीकार करनी चाहिए कि भव्य जीवो का अनन्तवां भाग ही मुक्त होता है। अथवा इस युक्ति की आवश्यकता ही नहीं है। यह बात मैं कहता हू इसलिए भी तुम्हें मान लेनी चाहिए। [१८२८-३०]

मण्डिक—मैं आपके कथन को सत्य क्यो मानू ?

सवज्ञ के वचन को प्रमाण मानो

भगवान—इतनी चर्चा से तुम्हे यह तो विश्वास हो गया होगा कि मैंने तुम्हारे सशय से लेकर अब तक जो कुछ कहा है, वह सत्य ही है। उसी आधार पर मेरा यह कथन भी तुम्हें यथार्थ मानना चाहिए। अथवा यह समझो कि मैं सवज्ञ हूँ (वीतराग हूँ), इस कारण भी तुम्हे मेरी बात मध्यस्थ ज्ञाता की बात के समान सच्ची माननी चाहिए। [१८३१]

तुम्हारे मन मे यह विचार उत्पन्न होगा कि मैं यह कसे मानूँ कि आप सवज्ञ हैं। किन्तु तुम्हारा यह सशय अयुक्त है। कारण यह है कि तुम जानते हो कि मैं सब के सभी सशयों का निवारण करता हू। यदि मैं सवज्ञ न होऊ तो सब सशय का निवारण न कर सकू। अत तुम्हे मेरी सवज्ञता के विषय मे सन्देह नही करना चाहिए।

होने के कारण भिन्न भी है [illegible]
होने से आकाश में कोई [illegible] नहीं आई। [illegible]
उत्तर क्या दिया जाय? इसी प्रकार [illegible]
केवल आत्मा ही है। [illegible]
हुई क्योंकि आकाश के समान [illegible] उत्पत्ति
मान को अनित्य अथवा [illegible] होने से आत्मा [illegible] है।
पर्याय दृष्टि से कथंचित् अनित्य माना [illegible] जा सकता। यदि तुम
मैं यह मानता हूँ कि [illegible] तो इसमें मुझे कोई आपत्ति नहीं है
नित्य और अनित्य है। [illegible] भी है तथा अनित्य भी। [१८३९]

मण्डिक—घट के टूट जाने पर उसके संयोग के साथ आकाश का सम्बन्ध बना रहता है। इसी प्रकार जीव ने जिन कर्मों की निर्जरा कर दी है, उनके साथ उसका संयोग बना रहना चाहिए, क्योंकि कर्म और जीव लोक में ही रहते हैं। फिर जीव व कर्म का बन्ध क्यों नहीं होता?

भगवान्—जैसे निरपराधी को बन्धन नहीं मिलता, वैसे ही आत्मा में बन्ध-कारण का अभाव होने से वह पुनः बद्ध नहीं होता। मुक्त जीव अयोगी है अतः कर्म-बन्ध के कारणभूत मन-वचन-काय का योग न होने से उसको पुनः बन्ध नहीं होता। केवल कर्म वर्गणा के पुद्गलों का आत्मा के साथ संयोग मात्र होने से कर्म बन्ध नहीं माना जा सकता क्योंकि ऐसी स्थिति में सभी जीवों को समान भाव से कर्म बन्ध होना चाहिए, कारण यह है कि कर्म वर्गणा के पुद्गल सर्वत्र विद्यमान हैं। इस प्रकार अतिप्रसंगादि दोष होने के कारण जीव कर्म-पुद्गलों का केवल संयोग ही कर्म के बन्धन का कारण नहीं माना जा सकता। जीव के मिथ्यात्वादि भाव तथा योग के कारण बन्ध होता है। [१८४०]

मण्डिक—सौगत मानते हैं कि आत्मा बार-बार संसार में आती है इस विषय में आपका क्या मत है?

मुक्त पुनः संसार में नहीं आते

भगवान्—मुक्त जीव संसार में पुनः जन्म नहीं लेता क्योंकि उनमें जन्म के कारण का अभाव है। जैसे बीज के अभाव में अंकुर की उत्पत्ति नहीं होती वैसे ही जन्म के बीज (कर्म) मुक्तावस्था में नहीं होते अतः मुक्त जीव सदा मुक्त ही रहते हैं। [१८४१]

पुनश्च मुक्तात्मा नित्य है क्योंकि वह द्रव्य होने पर भी अमूर्त है जैसे आकाश।

मण्डिक—अमूर्त द्रव्य होने के कारण आप आत्मा को आकाश के समान नित्य मानते हैं। इसी हेतु के आधार पर उसे आकाश के समान ही सर्वव्यापी भी मानना चाहिए।

आत्मा व्यापक नहीं है

भगवान—आत्मा को सर्वव्यापी नहीं माना जा सकता क्योंकि अनुमान बाधक है। बाधक अनुमान यह है—आत्मा असर्वगत है क्योंकि व है, कुम्भकार के समान। आत्मा म कर्तृत्व धर्म सिद्ध है। यदि आत्मा का माना जाए तो वह भोक्ता अथवा द्रष्टा भी नहीं हो सकता अत उसे कर्त्ता ही चाहिए। [१८४२]

मण्डिक—क्या आप आत्मा को एकान्त नित्य मानते हैं ?

आत्मा नित्य अनित्य है

भगवान—नहीं। जो लोग आत्मा को बौद्धो के समान एकान्त कहते हैं उनके निराकरण के लिए आत्मा का नित्यत्व सिद्ध किया है। आत्मा के नित्यत्व के सम्बन्ध मे मुझे एकान्त आग्रह नहीं है। मेरी मान्यता तो सभी पदार्थ उत्पाद स्थिति भग इन तीनो धर्मों से युक्त होने के कारण नित्य है। जब केवल पर्याय की विवक्षा हो तो पदार्थ अनित्य कहलाता है की अपेक्षा से उसे नित्य कहते हैं। जैसे कि घट के विषय मे कहा जाता है कि का पिण्ड नष्ट होता है तथा मिट्टी का घडा उत्पन्न होता है किन्तु मिट्टी तो हो रहती है। इसी प्रकार मुक्त जीव के विषय म कह सकते है कि वह ससारी के रूप म नष्ट हुआ मुक्त आत्मा के रूप म उत्पन्न हुआ तथा जीवत्व (मापयोग धर्मों की अपेक्षा से जीव रूप म स्थिर रहा। उस मुक्त जीव के विषय में भी सकते हैं कि वह प्रथम समय के सिद्ध रूप मे नष्ट हुआ द्वितीय समय के सि म उत्पन्न हुआ, किन्तु द्रव्यत्व, जीवत्वादि धर्मों की अपेक्षा से अवस्थित ही है पर्याय की अपेक्षा से पदार्थ अनित्य है और द्रव्य की अपेक्षा से नित्य है। [१८

मण्डिक—यदि आत्मा सर्वगत नहीं तो मुक्तात्मा कहाँ रहता है ?

भगवान्—सौम्य ! मुक्तात्मा लोक के अग्रभाग म रहता है।

मण्डिक—मुक्त जीव म विहायोगति नाम कर्म का अभाव है। ऐसी मे वह लोक के अग्रभाग म कैसे गमन करता है ?

मुक्त लोक के अग्रभाग मे रहते हैं

भगवान—जब जीव के सभी कर्म नष्ट हो जाते हैं और वह कर्म भार से हो जाता है तब कर्म के बिना भी वह अपने ऊर्ध्वगति रूप स्वाभाविक परि कारण एक ही समय मे ऊचे लोकान्त तक पहुँच जाता है। सकल कर्म के वि जैसे जीव को सिद्धत्व पर्याय की प्राप्ति होती है वैसे ही उक्त ऊर्ध्वगति प की भी। अत वह एक ही समय म लोक के अग्रभाग म पहुच जाता है।

भगवान्—प्रयत्न को चाहे क्रिया न मानें, किन्तु जो पदार्थ आकाश के समान निष्क्रिय होता है उसमें प्रयत्न की सम्भावना नहीं है, अतः आत्मा को सक्रिय मानना चाहिए। इसके अतिरिक्त प्रयत्न भी वस्तुतः क्रिया ही है। यदि यह कल्पना की जाए कि प्रयत्न क्रिया नहीं है तो प्रश्न होता है कि अमूर्तरूप प्रयत्न देह के परिस्पन्द में कैसे कारण बनता है ?

मण्डिक—प्रयत्न को किसी अन्य हेतु की अपेक्षा नहीं है, वह स्वतः ही देह के परिस्पन्द का हेतु बनता है।

भगवान्—तो फिर यही मानलो कि स्वतः आत्मा में ही देह-परिस्पन्द होता है। व्यर्थ प्रयत्न को मानने की क्या आवश्यकता है ?

मण्डिक—देह परिस्पन्द का कारण किसी अदृष्ट को ही मान लेना चाहिए। आत्मा निष्क्रिय होने से कारण नहीं बन सकती।

भगवान्—वह अदृष्ट कारण मूर्त है या अमूर्त ? यदि अमूर्त है तो आत्मा स्वयमेव देह-परिस्पन्द का कारण क्यों नहीं बनती ? आत्मा भी अमूर्त है। यदि अदृष्ट रूप कारण मूर्त है तो वह कार्मण देह ही हो सकता है, अन्य नहीं। उस कार्मण शरीर में भी यदि परिस्पन्द हो तो ही वह बाह्य शरीर के परिस्पन्द का कारण बन सकता है अन्यथा नहीं। अतः प्रश्न होता है कि उस कार्मण शरीर के परिस्पन्द का क्या कारण है ? यदि उसका कोई कारण है तो उसके परिस्पन्द का भी कोई अन्य कारण होना चाहिए। इस प्रकार अनवस्था दोष का प्रसंग आता है। यदि कार्मण देह में स्वभावतः ही परिस्पन्द माना जाए तो बाह्य शरीर में भी स्वभावतः परिस्पन्द मानना चाहिए। अदृष्ट मूर्त कार्मण शरीर को परिस्पन्द का कारण मानने की क्या जरूरत है ?

मण्डिक—हाँ, यह ठीक है। बाह्य शरीर में स्वभावतः ही परिस्पन्द होता है अतः आत्मा को सक्रिय मानने की आवश्यकता नहीं है।

भगवान्—किन्तु शरीर में जिस प्रकार का प्रतिनियत विशिष्ट परिस्पन्द दिखाई देता है उसे स्वाभाविक नहीं माना जा सकता। कारण यह है कि शरीर जड़ है। जो वस्तु स्वाभाविक होती है—अर्थात् किसी अन्य कारण की अपेक्षा नहीं रखती—वह वस्तु सदैव होती है अथवा कभी नहीं होती[1]। इस न्याय से यदि शरीर में परिस्पन्द स्वाभाविक हो तो उसे हमेशा एक जैसा ही रहना चाहिए, किन्तु वस्तुतः शरीर की चेष्टाएँ नाना प्रकार की होने पर भी अमुक दशा में नियत ही दिखाई देती हैं अतः उन्हें स्वाभाविक नहीं मान सकते। इसलिए कर्म-सहित आत्मा

---

1 नित्यं सत्त्वमसत्त्वं वा हेतोरन्यानपेक्षणात्।

का ही शरीर की प्रतिनियत विशिष्ट क्रिया में व्यापार रूप मानना चाहिए। इस से आत्मा सक्रिय ही सिद्ध होती है। [१८४७-४८]

मण्डिक—सकर्म होने से संसारी जीव सक्रिय सिद्ध हुआ, किन्तु मुक्तात्मा में तो कर्म का अभाव है अतः वह निष्क्रिय ही होगा। फिर भी आप यदि उसे सक्रिय स्वीकार करें तो इसका क्या कारण है?

भगवान्—मैंने तुम्हें बताया है कि मुक्तात्मा की गति क्रिया स्वाभाविक तथा गति-परिणाम के कारण होती है। मैं यह भी कथन कर चुका हूँ कि कर्म-निर्मुक्त होकर जब सिद्धत्व रूप धर्म को प्राप्त करता है वैसे तथाविध गति-परिणाम को भी प्राप्त करता है। [१८४९]

मण्डिक—आपका यह कथन युक्तियुक्त है कि मुक्तात्मा में गति है किन्तु अब यह प्रश्न उपस्थित होता है कि मुक्तात्मा सिद्धालय से भी आगे क्यों गति नहीं करती?

भगवान्—क्योंकि उससे आगे गति सहायक द्रव्य धर्मास्तिकाय का अभाव है।

मण्डिक—धर्मास्तिकाय उससे आगे क्यों नहीं है?

भगवान्—गति सहायक धर्मास्तिकाय लोक में ही है, अलोक में नहीं। सिद्धालय से आगे अलोक है, अतः उसमें धर्मास्तिकाय नहीं है। इसलिए उसमें मुक्त जीव की गति नहीं होती। [१८५०]

मण्डिक—इस बात में क्या प्रमाण है कि लोक से भिन्न रूप अलोक का अस्तित्व है?

अलोक के अस्तित्व में प्रमाण

भगवान्—लोक का विपक्ष होना चाहिए क्योंकि यह व्युत्पत्ति युक्त शुद्ध पद का अभिधेय है। जो व्युत्पत्ति युक्त शुद्ध पद का अभिधेय होता है उसका विपक्ष अवश्य होता है। जैसे घट का विपक्ष अघट है। इसी प्रकार लोक का विपक्ष अलोक होना चाहिए।

मण्डिक—जो लोक नहीं वह अलोक है। अर्थात् घटादि पदार्थों में से किसी को भी अलोक कहा जा सकता है। उन सब से स्वतन्त्र अलोक मानने की क्या आवश्यकता है?

भगवान्—अलोक को घटादि पदार्थों से स्वतन्त्र मानने की आवश्यकता है कारण है कि इसमें पर्युदास निषेध अभिप्रेत है। अतः विपक्ष निषेध्य के अनुरूप होना चाहिए। प्रस्तुत में लोक निषेध्य है और वह आकाश-विशेष है। अतः अलोक भी उसके अनुरूप ही होना चाहिए। जैसे कि 'यह अपण्डित है' ऐसा कहने से

अभाव अभिप्रेत नहीं होता अथवा इससे किसी अचेतन घटादि वस्तु का भी बोध नहीं होता। किन्तु हमें इस वचन से विशिष्ट ज्ञान रहित किसी चेतन पुरुष विशेष का ही भान होता है। इसी प्रकार यहाँ भी वस्तुभूत आकाश विशेष का ही बोध अलोक शब्द से होना चाहिए। कहा भी है - जिस शब्द को 'नञ्' युक्त अथवा 'इव' युक्त कहा जाता है उससे समान किन्तु अन्य ऐसे अधिकरण (पदार्थ) का लोक के प्रसंग में बोध कराता है[1]।'

नञ् तथा इव युक्त पद का अर्थ अन्य किन्तु सदृशरूप अधिकरण (वस्तु) समझा जाता है।[2]

साराश यह है कि लोक का विपक्ष अलोक भी मानना चाहिए।

धर्माधर्मास्तिकायों की सिद्धि

इस प्रकार लोक तथा अलोक दोनों वस्तुभूत हैं। अतः लोक से अलोक को भिन्न सिद्ध करने वाले किसी तत्त्व की भी सिद्धि होती है तथा वे धर्म और अधर्मास्तिकाय हैं। अर्थात् जितने आकाश-क्षेत्र में धर्म और अधर्म हैं, वह लोक है। इस रीति से यदि ये दोनों अस्तिकाय लोक का परिच्छेद न करते हों तो आकाश के सर्वत्र समानरूपेण व्याप्त होने के कारण यह भेद कैसे होगा कि 'यह लोक है और 'वह अलोक है'। [1851-52]

यदि उक्त प्रकारेण इन दोनों अस्तिकायों द्वारा अलोकाकाश में लोकालोक का विभाग न हो तो जीव और पुद्गल गति में किसी प्रकार का प्रतिघात न होने से अप्रतिहतगति वाले हो जाएँ। अलोक अनन्त है अतः उनकी गति का कहीं अन्त ही न होगा। यदि उनकी गति का अन्त ही न होगा तो जीव और पुद्गल का सम्बन्ध ही न हो सकेगा। सम्बन्धाभाव में पुद्गल स्कन्धों की औदारिक आदि विचित्र रचना भी असम्भव होगी। फलतः बन्ध, मोक्ष, सुख-दुःख आदि सांसारिक व्यवहार का अभाव हो जाएगा। इसलिए लोकालोक का विभाग मानना चाहिए तथा उस विभाग को करने वाले धर्माधर्मास्तिकाय मानने चाहिएँ। [1853]

जैसे पानी के बिना मछली की गति नहीं होती, वैसे ही लोक से परे अलोक में गति-सहायक द्रव्य के न होने से जीव तथा पुद्गल की गति अलोक में नहीं होती। अतः लोक में गति सहायक रूप धर्मास्तिकाय द्रव्य मानना चाहिए जो कि लोक परिमाण है। [1854]

---

1 नञ्युक्तमिवयुक्तं वा यद्धि कार्यं विधीयते।
तुल्याधिकरणेऽन्यस्मिंल्लोकेऽप्यर्थगतिस्तथा॥

2 नञ् इवयुक्तमन्यसदृशाधिकरणे तथा ह्यर्थगतिः।

पुनश्च, 'स एष विगुणो विभुर्न विद्यते' आदि वाक्य का अर्थ तुम यह समझते हो कि संसारी जीव के बंध मोक्ष नहीं है, किन्तु वस्तुतः यह वाक्य मुक्त जीव के स्वरूप का प्रतिपादक है। मैं भी तुम्हें बता चुका हूँ कि मुक्त के बंधादि नहीं होते। इस युक्ति का समर्थन वेद-वाक्य से भी हो जाता है, अतः तुम्हें बंध-मोक्ष के सम्बन्ध में शंका नहीं करनी चाहिए। [१८६१-६२]

इस प्रकार जब जरा मरणरहित भगवान् ने मण्डिक के संशय का निवारण किया, तब उस ने अपने साढ़े तीन सौ शिष्यों सहित दीक्षा ली। [१८६३]

सातवें गणधर मौर्यपुत्र
देव चर्चा

मण्डिक के दीक्षित होने का समाचार सुन कर मौर्यपुत्र ने भी विचार किया कि मैं भी भगवान् के पास जाऊँ, वन्दना करूँ तथा उनकी सेवा करूँ। यह विचार कर वह भगवान् के पास आ गया। [१८६४]

देवों के विषय में सन्देह

जाति-जरा-मरण से मुक्त भगवान् सर्वज्ञ सर्वदर्शी थे, अतः उन्होंने उसे नाम-गोत्र से बुलाते हुए कहा 'मौर्यपुत्र काश्यप!' [१८६५]

तत्पश्चात् उन्होंने कहना प्रारम्भ किया — 'तुम्हारे मन में यह सन्देह है कि देव हैं अथवा नहीं। तुमने वेद के परस्पर विरोधी अर्थ वाले वाक्य सुने हैं, जैसे कि 'स एष यज्ञायुधी यजमानोऽञ्जसा स्वर्गलोकं गच्छति'[1] इत्यादि तथा 'अपाम सोमममृता अभूम, अगन्म ज्योतिरविदाम देवान्, किं नूनमस्मान् कृणवदरातिः किमु धूर्तिरमृत मर्त्यस्य'[2] आदि। इन वाक्यों से तुम्हें यह प्रतीत होता है कि स्वर्ग में बसने वाले देवों का अस्तित्व है। किन्तु तुमने इसके विरोधी अर्थ के प्रतिपादक ये वाक्य भी सुने हैं कि 'को जानाति मायोपमान् गीर्वाणानिन्द्रयमवरुणकुबेरादीन्'[3] आदि। अतः तुम समझते हो कि देव तो हैं ही नहीं।

वस्तुतः तुम इन वाक्यों का तात्पर्य नहीं जानते, इसलिए तुम्हें संशय है। मैं तुम्हें वास्तविक अर्थ बताऊँगा। उससे तुम्हारे संशय का निवारण हो जाएगा। [१८६६]

---

1 यज्ञरूप शस्त्र वाला यजमान शीघ्रतापूर्वक स्वर्ग में जाता है।

2 मुद्रित गणधरवाद में शुद्ध पाठ नहीं है। ऊपर दिए गए शुद्ध पाठानुसार अर्थ यह है— 'हे अमर सोम! हमने तुम्हें पीया और हम अमर हो गए। हमने प्रकाश प्राप्त किया, देवों का ज्ञान प्राप्त किया। अब शत्रु हमारा क्या कर सकते हैं? मरणशील मानव की धूर्तता क्या कर सकती है?'
सायण इस अर्थ की अपेक्षा ग्रिफिथ द्वारा किया गया अर्थ अधिक संगत प्रतीत होने से यहाँ दिया गया है। देखें 8 48 Hymns of The Rigveda Vol II

3 माया सदृश इन्द्र, वरुण, यम, कुबेर आदि देवों को कौन जानता है?

[illegible] प्रभाव की [illegible] द्वारा भी कहे गए — तुम समझ गए होगे कि [illegible] देवों के [illegible] उपस्थित नहीं [illegible] तो भी दूसरों के वचन को प्रमाण मान कर उनका अस्तित्व श्रद्धा का विषय बन जाता है। [१८६७]

किन्तु देव तो स्वच्छन्द विहारी हैं अर्थात् उन्हें यहाँ आने में कोई भी रोक नहीं सकता। वे दिव्य प्रभाव वाले भी हैं। फिर भी वे कभी दिखाई नहीं देते। श्रुति-स्मृति में यद्यपि उनका अस्तित्व बताया है तथापि उनके सम्बन्ध में सन्देह होना अयुक्त नहीं है। [१८६८]

संशय का निवारण : देव प्रत्यक्ष हैं

किन्तु हे मौर्यपुत्र ! तुम्हें देवों की सत्ता के विषय में सन्देह नहीं करना चाहिए। श्रुति-स्मृति के आधार पर ही नहीं, अपितु प्रत्यक्ष प्रमाण से भी तुम उनकी सत्ता मान लो। यहीं पर मेरे इस समवसरण में तो मनुष्य से भिन्न-जातीय भवनपति, व्यंतर, ज्योतिष्क, वैमानिक इन चारों प्रकार के देव उपस्थित हैं। तुम उनके प्रत्यक्ष दर्शन कर अपने संशय का निवारण कर लो। [१८६९]

मौर्यपुत्र—किन्तु यहाँ दर्शन से पूर्व मुझे जो संशय था, वह तो युक्तियुक्त था न ?

भगवान्—नहीं, क्योंकि मेरे समवसरण में आने से पहले तुम यदि दूसरे देवों को नहीं तो कम से कम सूर्य चन्द्र आदि ज्योतिष्क देवों को तो प्रत्यक्ष देखते ही थे। अतः यह नहीं माना जा सकता कि देव कभी देखे नहीं गए, इसलिए उनके विषय में अस्तित्व विषयक सन्देह युक्त है। तुम्हें इस समय से पूर्व ही देवों के एक देश का प्रत्यक्ष था ही इसलिए समस्त देवों सम्बन्धी शंका अयुक्त थी।

अनुमान से सिद्धि

पुनश्च, लोक में देवकृत अनुग्रह और पीड़ा देखी जाती हैं। इस कारण भी देवों का अस्तित्व मानना चाहिए, जैसे लोक का हित या अहित करने वाले राजा का अस्तित्व माना जाता है वैसे ही देवों का अस्तित्व भी मानना चाहिए, क्योंकि वे भी किसी को वैभव प्रदान करते हैं तथा किसी के वैभव का नाश करते हैं। [१८७०]

मौर्यपुत्र—चन्द्र विमान, सूर्य विमान आदि निवास स्थान शून्य नगर के सदृश दिखाई देते हैं। उनमें निवास करने वाला कोई भी नहीं है। अतः यह कैसे कहा जा सकता है कि सूर्य चन्द्र का प्रत्यक्ष होने से देवों का भी प्रत्यक्ष हो गया ?

भगवान्—यदि तुम सूर्य व चन्द्र को आलय(स्थान) मानते हो तो उसमें रहने वाला कोई होना ही चाहिए, अन्यथा उसे आलय नहीं कहा जा सकता। जैसे

वसन्तपुर के आलयों मे देवदत्तादि रहते हैं इसीलिए उन्हे आलय कहा जाता है वैसे ही सूय चन्द्र भी यदि आलय हो तो उनमे निवास करने वाले भी होने चाहिए। जो वहाँ रहते हैं वही देव कहलाते है।

मौयपुत्र—आलय होने से उनमे देवदत्त जैसे मनुष्य रहते होगे। आप यह कैसे कहते हैं कि वे देव हैं ?

भगवान—तुम स्वय प्रत्यक्ष देखते हो कि इस देवदत्त के आलय की अपेक्षा वे आलय विशिष्ट हैं। अत उनमे निवास करने वाले भी देवदत्त की अपेक्षा विशिष्ट होने चाहिएँ। अत उन्हे देव मानना चाहिए।

मौयपुत्र—आप ने यह नियम बनाया है कि वे आलय हैं अत उनमे रहने वाला कोई न कोई होना चाहिए किन्तु यह नियम अयुक्त है। कारण यह है कि शून्य घर आलय कहलाते है, किन्तु उनमे रहने वाला कोई नही होता।

भगवान—कहने का भाव यह है कि जो आलय होता है वह सवथा शून्य नही हो सकता। उसमे कभी न कभी कोई रहता ही है। अत चन्द्रादि मे निवास करने वाले देवो की सिद्धि होती है। [१८७१]

मौयपुत्र—आप जिन्हे आलय कहते हैं वे वस्तुत आलय है या नही, अभी इसी बात का निणय नहीं हुआ। ऐसी अवस्था मे यह कहना ही निमूल है कि वे निवास स्थान है अत उनमे रहने वाले होने चाहिए। सम्भव है कि जिसे आप सूय कहते हैं वह एक अग्नि का गोला ही हो और जिसे चन्द्र कहते हैं वह स्वभावत स्वच्छ जल ही हो। यह भी सम्भव है कि वे ज्योतिष्क विमान प्रकाशमान रत्नो के गोले ही हो।

भगवान—वे देवो के रहने के ही विमान हैं, क्योकि वे विद्याधरो के विमानो के समान रत्न निर्मित हैं तथा आकाश मे भी गमन करते हैं। बादल तथा वायु भी आकाश मे गमन करते हैं फिर भी उन्हें विमान नहीं कहा जा सकता, कारण यह है कि वे रत्न निर्मित नही है। [१८७२]

मौयपुत्र—सूय चन्द्र विमानो को मायावी की माया क्यो न माना जाए ?

भगवान्—वस्तुत ये मायिक नही है। इन्हे मायिक मान लो भी इस माया को करने वाले देव तो मानने ही पडेंगे। मायावी के बिना माया कैसे सम्भव है ? मनुष्य ऐसी विक्रिया नही कर सकते अत विवश होकर देव ही मानने पड़ते है। अपि च, सूय चन्द्र विमानो को मायिक कहना भी अयुक्त है। कारण यह है कि माया तो क्षण पश्चात नष्ट हो जाती है किन्तु उक्त विमान सदा सव द्वारा उपलब्ध होने के कारण शाश्वत है जैसे चम्पा अथवा पाटलिपुत्र सत्य है वैसे ये भी सत्य हैं। [१८७३]

पुनश्च इस लोक मे जो प्रकृष्ट पाप करते हैं, उनके लिए उस पाप के फल भोग के निमित्त परलोक मे नारकों का अस्तित्व स्वीकार किया जाता है। जो

प्रकार इस लोक में प्रकृष्ट पुण्य करने वालों के फल भोग के लिए अन्य देवों का अस्तित्व भी स्वीकार करना चाहिए।

मौर्यपुत्र—इसी संसार में ही अपने प्रकृष्ट पाप का फल भोगने वाले अत्यन्त दुःखी मनुष्य तथा तिर्यंच हैं तथा अपने प्रकृष्ट पुण्य का फल भोगने वाले अति सुखी मनुष्य भी हैं। अगर हम यह बात मान लें तो अदृष्ट नारक तथा देवों को पृथक् मानने की आवश्यकता नहीं रहती।

भगवान्—इस संसार में दुःखी मनुष्यों व तिर्यंचों तथा सुखी मनुष्यों के होने पर भी नारक तथा देव-योनि को पृथक् मानने का कारण यह है कि प्रकृष्ट पाप का फल केवल दुःख ही होना चाहिए तथा प्रकृष्ट पुण्य का फल केवल सुख ही, इस संसार में ऐसा कोई प्राणी नहीं है जो मात्र दुःखी हो और जिसे सुख का कुछ भी अंश प्राप्त न हो। ऐसा भी कोई प्राणी नहीं है जो मात्र सुखी हो और जिसे लेशमात्र भी दुःख प्राप्त न हो। मनुष्य कितना भी सुखी क्यों न हो, फिर भी रोग, जरा, इष्ट-वियोग आदि से थोड़ा दुःख होता ही है। अतः कोई ऐसी योनि भी होनी चाहिए जहाँ प्रकृष्ट पाप का फल केवल दुःख ही हो तथा प्रकृष्ट पुण्य का फल केवल सुख ही हो। ऐसी योनियाँ क्रमशः नारक व देव हैं। अतः उनका पृथक् अस्तित्व मानना चाहिए। [१८७८]

मौर्यपुत्र—किन्तु आप के कथनानुसार यदि देव हैं तो वे स्वरविहारी होते हुए भी मनुष्य लोक में क्यों नहीं आते?

देव इस लोक में क्यों नहीं आते?

भगवान्—वे यहाँ आते ही नहीं हैं ऐसी बात नहीं है। कारण यह है कि तुम उन्हें समवसरण में बैठे देख रहे हो। हाँ, सामान्यतः वे नहीं आते, यह बात सत्य है किन्तु इसका कारण देवों का अभाव नहीं है। वास्तविक कारण यह है कि वे स्वर्ग में दिव्य पदार्थों में आसक्त हो जाते हैं, वहाँ के विषय भोग में लिप्त हो जाते हैं। वहाँ का [illegible] समाप्त नहीं होता। उनका यहाँ आगमन का विशेष प्रयोजन भी नहीं है और [illegible] की दुर्गन्ध के कारण भी वे यहाँ नहीं आते। [१८७९]

वे

[illegible] न आने के [illegible] वे किसी समय इस लोक में

[illegible] न, दा [illegible] इन सब महात्माओं के प्रभाव

[illegible]। स्वयं भक्ति-पूर्वक आते

[illegible] संशय के निवारणार्थ

[illegible] कारण है—जैसे कि पूर्व भव के

[illegible] के लिए पूर्व [illegible] का अस्तित्व तपस्या पुण्य

...के आस्वपण, पूर्वभव के वैरी को पीड़ा देना, मित्र का उपकार करना तथा काम ...ड़ा। कभी-कभी किसी साधु की परीक्षा के निमित्त भी वे इस लोक में आते हैं। ...-१८७६-७७]

मौर्यपुत्र—देवों की सिद्धि के लिए क्या और भी कोई प्रमाण है?

...व-साधक अन्य अनुमान

भगवान्—हाँ, अनुमान प्रमाण हैं। वे ये हैं—देवों के अस्तित्व में श्रद्धा रखनी चाहिए, क्योंकि (१) जातिस्मरणज्ञानी आप्त पुरुष अपने पूर्वभव का ज्ञान प्राप्त कर ये बताते हैं कि वे देव थे (२) कुछ तपस्वियों को देव प्रत्यक्ष दिखाई देते हैं, (३) कुछ व्यक्ति विद्या, मन्त्र, उपयाचन द्वारा देवों से अपने कार्य की सिद्धि करवाते हैं, (४) कुछ मनुष्यों में ग्रह विकार अर्थात् भूत पिशाच-कृत विक्रिया दिखाई देती है (५) तप दानादि क्रिया द्वारा उपार्जित प्रकृष्ट पुण्य का फल होना ही चाहिए और (६) देव यह एक अभिधान है। अतः इन सब हेतुओं से देवों की सिद्धि होती है। फिर सभी शास्त्रों में देवों का अस्तित्व स्वीकार किया गया है। इस कारण भी उनके विषय में शंका नहीं करनी चाहिए।

मौर्यपुत्र—आपने कहा है कि ग्रह विकार के कारण देवों का अस्तित्व मानना चाहिए, किन्तु यह कैसे ज्ञात होगा कि मनुष्य शरीर की अमुक क्रिया ग्रह विकार है?

ग्रह विकार की सिद्धि

भगवान्—जैसे यन्त्र पुरुष में चलने की शक्ति नहीं है, किन्तु यदि उसमें कोई पुरुष प्रविष्ट हो तो यन्त्र में गति आ जाती है वैसे ही शरीर में अमुक कार्य करने की शक्ति का अभाव होने पर भी शरीर वह काम करता दिखाई दे तो उसमें शरीराधिष्ठाता जीव से भिन्न किसी अदृश्य जीव का अधिष्ठान मानना पड़ेगा। ऐसा अधिष्ठाता देव है। उसी के कारण मनुष्य अपने शरीर से अपनी शक्ति का अतिक्रमण कर काम करता है। [१८७८-७९]

मौर्यपुत्र—देवत्व की सिद्धि के लिए आपने एक हेतु यह दिया है कि देव एक अभिधान है। कृपया इसका स्पष्टीकरण करें।

देव पद की सार्थकता

भगवान्—देव एक सार्थक पद है उसका कोई अर्थ होना चाहिए, क्योंकि यह व्युत्पत्ति वाला शुद्ध पद है जैसे कि घट।

अतीन्द्रिय ज्ञान का विषय समस्त है

भगवान्—इन्द्रियाँ जिस आत्मा की सहायक नहीं हैं अर्थात् जो केवलज्ञानी आत्मा है वह अत्यधिक तो क्या परन्तु सब कुछ जान सकता है। जैसे घर में बैठ कर देवदत्त झरोखों द्वारा जितने पदार्थ देखता है उनसे कुछ अधिक खुले आकाश में रह कर जान सकता है वैसे ही जीव के जब ज्ञान-दर्शन के समस्त आवरण दूर हो जाते हैं तब वह इन्द्रियों द्वारा होने वाले ज्ञान की अपेक्षा बहुत अधिक जान सकता है, देख सकता है। यही नहीं अपितु कोई ऐसी वस्तु शेष नहीं रहती जो उसे ज्ञात न हो। [१८९५]

अकम्पित—संसार में सभी लोग इन्द्रिय ज्ञान को प्रत्यक्ष कहते हैं आप उसे परोक्ष क्यों मानते हैं ?

इन्द्रिय ज्ञान परोक्ष क्यों ?

भगवान्—वस्तु में अनन्त धर्म हैं किन्तु इन्द्रिय द्वारा किसी एक स्थापित धर्म का ही ज्ञान होता है तथा उस ज्ञान से स्थापित किसी एक धर्म से विशिष्ट वस्तु का ज्ञान होता है। अतः वह अनुमान ज्ञान के समान परोक्ष ही है। जैसे अनुमान ज्ञान द्वारा किसी एक कृतकत्वादि धर्म से किसी एक अनित्यत्वादि धर्म विशिष्ट घट की सिद्धि होती है, वैसे ही इन्द्रिय ज्ञान में भी इन्द्रिय द्वारा किसी एक धर्म के ग्रहण से उस धर्म से विशिष्ट वस्तु की सिद्धि होती है। [१८९६]

पुनश्च, जैसे पूर्वोपलब्ध सम्बन्ध के स्मरण के सहयोग से धूमज्ञान द्वारा होने वाला अग्नि का ज्ञान परोक्ष है वैसे ही इन्द्रिय ज्ञान भी परोक्ष है। कारण यह है कि इसमें भी पूर्वगृहीत संकेत स्मरण आवश्यक है। अभ्यास आदि के कारण यह संकेत स्मरण प्रायः शीघ्र होता है इसलिए हमारे ध्यान में नहीं आता। फिर भी वह अनिवार्य है अन्यथा जिस मनुष्य ने संकेत ग्रहण न किया हो उसे भी घट देख कर यह ज्ञान हो जाना चाहिए कि यह घट है। ऐसा नहीं होता अतः संकेत-स्मरण आवश्यक है। इस प्रकार अनुमान तथा इन्द्रिय ज्ञान दोनों में स्मरण समान रूप से सहायक है इसलिए ये दोनों परोक्ष हैं।

अपि च जिस ज्ञान में आत्मा का निमित्त कोई अन्य हो वह परोक्ष ही कहलाता है। जैसे वह्निज्ञान में धूमज्ञान के निमित्त रूप होने से वह ज्ञान अनुमानात्मक परोक्ष है, वैसे ही इन्द्रिय ज्ञान में भी [illegible] इन्द्रियों का [illegible] होने से इन्द्रिय निमित्त है इसलिए इन्द्रिय ज्ञान भी परोक्ष है। जो प्रत्यक्ष होता है वह केवलज्ञान के समान किसी अन्य निमित्त की अपेक्षा नहीं रखता, वह साक्षात् अर्थ को जानता है। [१८९७]

इसलिए केवलज्ञान, मनःपर्ययज्ञान तथा अवधिज्ञान के अतिरिक्त — सभी ज्ञान अनुमान के समान परोक्ष ही हैं। ये तीन ज्ञान केवल आत्मसापेक्ष हैं [illegible]

कारण प्रत्यक्ष ज्ञान कहलाते हैं। ऐसे प्रत्यक्ष से नारकों की सिद्धि होती है, अतः उनका सद्भाव मानना चाहिए। वे अनुमान से भी सिद्ध होते हैं। [१८६८]

अकम्पित– कौन से अनुमान से नारकों की सिद्धि होती है?

अनुमान से नारक सिद्धि

भगवान—प्रकृष्ट पाप फल का भोक्ता कोई न कोई होना ही चाहिए, क्योंकि वह भी जघन्य मध्यम कर्मफल के समान कर्मफल है। जघन्य मध्यम कर्मफल के भोक्ता तिर्यंच तथा मनुष्य हैं। इसी प्रकार प्रकृष्ट पाप फल के जो भोक्ता हैं, उन्हें नारक मानना चाहिए।

अकम्पित—जो तिर्यंच मनुष्य अत्यन्त दुःखी हों, उन्हें ही प्रकृष्ट पाप फल के भोक्ता मानने में क्या आपत्ति हो सकती है?

भगवान—देवों में जैसा सुख का प्रकर्ष दृग्गोचर होता है, वैसा दुःख का प्रकर्ष तिर्यंच मनुष्यों में दिखाई नहीं देता, अतः उन्हें नारक नहीं कह सकते। ऐसा एक भी तिर्यंच या मनुष्य नहीं जो केवल दुःखी ही हो। अतः प्रकृष्ट पाप कर्म फल के भोक्ता रूप में तिर्यंच मनुष्यों से भिन्न नारक मानने चाहिएँ। कहा भी है— 'नारकों में तीव्र परिणाम वाला सतत दुःख लगा ही रहता है। तिर्यंचों में उष्ण, ताप, भय, भूख तथा इन सबका दुःख होता है तथा अल्प सुख भी होता है।'

'मनुष्यों को नाना प्रकार के मानसिक तथा शारीरिक सुख और दुःख होते हैं किन्तु देवों को तो शारीरिक सुख ही होता है, अल्प मात्रा में ही मानसिक दुःख होता है[1]। [१८६६-१६००]

सर्वज्ञ के वचन से सिद्धि

अपि च हे अकम्पित! मेरे दूसरे वचनों के समान नारकों का अस्तित्व बताने वाला वचन भी सत्य ही है क्योंकि मैं सर्वज्ञ हूँ। अतः तुम्हें स्वयं जैमिनी आदि अन्य सर्वज्ञ के वचन के समान मेरा वचन भी प्रमाण मानना चाहिए। [१६०१]

अकम्पित—सर्वज्ञ होते हुए भी आप झूठ क्यों नहीं बोलते?

---

1 सततमनुबद्धमुक्कं दुक्खं नरएसु तीव्वपरिणामं।
तिरिएसुण्हभयछुहाइदुक्खं सुहं चाप्पं॥
सुहदुक्खं बहुविगप्पं मणुयाणं मणसरीराधारं।
सुरएसु य सुहमुदारं दुक्खं तु मणोमयं॥
यह उद्धरण आचारांग टीका में भी है पृ 25

भगवान—मेरा वचन सत्यरूप तथा अहिंसक ही है क्योंकि असत्य और हिंसक वचन के कारण रूप, राग, द्वेष भय मोह का मुझ मे अभाव है। अत ज्ञाता तथा मध्यस्थ पुरुष के वचन के सदृश तुम्हे मेरा वचन सत्य और अहिंसक ही मानना चाहिए[1]। [१६०२]

अकम्पित—किन्तु आप सर्वज्ञ हैं, इसका क्या प्रमाण है ?

भगवान—तुम प्रत्यक्ष देखते हो कि मैं सभी सशयो का निवारण करता हू। क्या सर्वज्ञ के बिना ऐसा निराकरण कोई कर सकता है ? अत तुम्हे मुझे सर्वज्ञ मानना चाहिए। पुनश्च भय राग द्वेष के कारण मनुष्य अज्ञानी बनता है। मुझ मे इनमे से कोई भी दोष नही है। तुम उन का कोई भी बाह्य चिह्न मेरे मे नहीं देख रहे हो। अत भयादि दोष से रहित होने के कारण मुझे सर्वज्ञ मान कर तुम्हे मेरा वचन प्रमाण मानना चाहिए।

अकम्पित—युक्ति तथा आपके वचनो से नारको का सद्भाव मानने के लिए मैं तयार हूँ, किन्तु पहले कहे गए वेद-वाक्य के विषय मे आपका क्या विचार है ? 'न ह वै प्रेत्य नारका' इस वाक्य मे नारको का स्पष्ट रूप से अभाव बताया है।

वेद-वाक्यों का समन्वय

भगवान—इस वाक्य का तात्पर्य नारको का अभाव नही है। इसका भाव यह है कि परलोक मे मेरु आदि के समान नारक शाश्वत नही हैं किन्तु जो यहाँ प्रकृष्ट पाप करते हैं, वे मर कर नारक बनते हैं। अत ऐसा पाप नही करना चाहिए जिससे नारक बनना पडे। [१६०३]

इस प्रकार जब जरा मरण से रहित भगवान ने अकम्पित के सशय का निवारण किया तब उसने अपने ३५० शिष्यो के साथ दीक्षा अंगीकार की। [१६०४]

---

1 यह गाथा पहले भी आई है 1573

नवम गणधर अचलभ्राता

पुण्य पाप-चर्चा

उन सब को दीक्षित हुए सुन कर अचलभ्राता ने भी विचार कि भगवान के पास जाऊँ उन्हें नमस्कार करूँ तथा उनकी सेवा करूँ। तत्प भगवान के पास आ पहुँचा। [१६०५]

जन्म जरा मरण से मुक्त भगवान ने सर्वज्ञ सर्वदर्शी होने के कार अचलभ्राता हारित! इस नाम गोत्र से बुलाया। [१६०६]

पुण्य पाप के विषय में सन्देह

और भगवान् ने उसे कहा—पुरुष एवेदं ग्नि सर्वम् इत्यादि वाक्यों तुम्हें यह प्रतीत होता है कि इस संसार में पुरुष के अतिरिक्त कुछ भी सत्य नहीं अतः पुण्य-पाप जैसी वस्तु को भी मानने की आवश्यकता नहीं है। किन्तु तुम हो कि अधिकतर लोग पुण्य पाप का सद्भाव मानते हैं। अतः तुम्हें सन्देह है कि पुण्य पाप का सद्भाव है या नहीं? किन्तु तुम उक्त वेद वाक्य का यथार्थ अर्थ नहीं जानते इसलिए ऐसा संशय करते हो। मैं तुम्हें इसका यथार्थ अर्थ बताऊँगा उस से तुम्हारा संशय दूर हो जाएगा। [१६०७]

अपि च पुण्य-पाप के सम्बन्ध में तुम्हारे सम्मुख भिन्न भिन्न मत उप- है। इसलिए भी तुम यह निर्णय नहीं कर सकते कि सच्चा पक्ष कौनसा है तुम्हारा मन अस्थिर रहता है। तुम्हारे समक्ष पुण्य-पाप के सम्बन्ध में निम्नलि मत उपस्थित हैं—

1. केवल पुण्य ही है, पाप नहीं।
2. केवल पाप ही है पुण्य नहीं।
3. पुण्य और पाप एक ही साधारण वस्तु है। [illegible] साधारण वस्तु है [illegible] सुख तथा दुःख [illegible] [illegible] [illegible] है।
4. [illegible] है।
5. [illegible] है।

[illegible]

पुण्यवाद

१ केवल पुण्य ही है पाप का सर्वथा अभाव है। पुण्य का क्रमश उत्कर्ष होना है, वह शुभ है। अर्थात् जैसे जैसे पुण्य थोडा-थोडा बढ़ता है वैसे-वैसे क्रमश सुख की भी वृद्धि होती है। अन्त में पुण्य का परम उत्कर्ष होने पर स्वर्ग का उत्कृष्ट सुख प्राप्त होता है। किन्तु यदि पुण्य की क्रमश हानि होती जाए तो सुख की भी क्रमिक हानि होती है। अर्थात् उसी परिमाण में दुःख बढ़ता जाता है और निदान जब पुण्य न्यूनतम रह जाता है तब नरक में उत्कृष्ट दुःख मिलता है। किन्तु पुण्य का सर्वथा क्षय होने पर मोक्ष की प्राप्ति होती है। इस प्रकार केवल पुण्य का स्वीकार करने से सुख-दुःख नाना घटित हो जाते हैं तो फिर पाप को पृथक् मानने की क्या आवश्यकता है? जैसे पथ्याहार की क्रमिक वृद्धि से आरोग्य-वृद्धि होती है, वैसे ही पुण्य वृद्धि से सुख-वृद्धि होता है जैसे पथ्याहार के कम होने पर आरोग्य की हानि होता है अर्थात् रोग बढ़ता है वैसे ही पुण्य की हानि से दुःख बढ़ता है। सर्वथा पथ्याहार का त्याग करने पर मरण होता है और सर्वथा पुण्य का क्षय होने पर मोक्ष होता है। इस तरह केवल पुण्य से सुख-दुःख की उपपत्ति हो जाती है अतः पाप को पृथक् क्यों माना जाए? [१९०८-९]

पापवाद

२ इसके विपरीत केवल पाप का अस्तित्व मानने वाले तथा पुण्य का निषेध करने वाले लोगों का कथन है कि जैसे अपथ्याहार की वृद्धि से रोग की वृद्धि होती है वैसे ही पाप की वृद्धि से अधमता अथवा दुःख की वृद्धि होती है। जब पाप का परम प्रकर्ष होता है तब नारकी में उत्कृष्ट दुःख मिलता है। पुनश्च, जैसे अपथ्याहार को कम करने से आरोग्य लाभ की वृद्धि होती है वैसे ही पाप का अपकर्ष होने पर शुभ अथवा सुख की वृद्धि होती है और न्यूनतम पाप होने पर देवों का उत्कृष्ट सुख मिलता है। अपथ्याहार के सर्वथा त्याग से परम आरोग्य की प्राप्ति होता है तथा पाप के सर्वथा नाश से मोक्ष का लाभ होता है। इस प्रकार केवल पाप को मानने से सुख-दुःख की उपपत्ति हो जाती है अतः पुण्य को पृथक् मानने की कोई आवश्यकता नहीं है। [१९१०]

पुण्य-पाप दोनों संकीर्ण हैं

३ पुण्य या पाप ये दोनों ही स्वतन्त्र नहीं हैं किन्तु उभय साधारण एक ही वस्तु हैं। ऐसा मानने वालों का कथन है कि जैसे अनेक रंगों के सम्मिश्रण से एक साधारण संकीर्ण वर्ण की उत्पत्ति होती है, अथवा विविध वर्णयुक्त मेचक मणि एक ही है, अथवा सिंह और नर का रूप धारण करने वाला नरसिंह एक ही है वैसे ही पाप और पुण्य की संज्ञा प्राप्त करने वाली एक ही साधारण वस्तु है। इस साधारण वस्तु में जब पुण्य की एक मात्रा बढ़ जाती है तब उसे पुण्य कहते हैं। तथा जब पाप की एक मात्रा बढ़ जाती है तब उसे पाप कहते हैं। अथवा पुण्यांश

इन ४२ प्रकृतियों को छोड़ कर शेष ८२ कर्म प्रकृतियाँ अशुभ अर्थात् पाप प्रकृतियाँ हैं। उनका विवरण इस प्रकार है—न्यग्रोधपरिमण्डल-सादि-कुब्ज-वामन-हुण्डक ये पाँच संस्थान, अप्रशस्तविहायोगति, ऋषभनाराच-नाराच-अर्धनाराच-कीलिका-सेवार्त्त ये पाँच संहनन, तिर्यञ्चगति, तिर्यञ्चानुपूर्वी, असातावेदनीय, नीच गोत्र, उपघात, एकेन्द्रिय जाति, द्वीन्द्रिय जाति, त्रीन्द्रिय जाति, चतुरिन्द्रिय जाति, नरक गति, नरकानुपूर्वी, नरकायु, स्थावर, सूक्ष्म, अपर्याप्त, साधारण, अस्थिर, अशुभ, दुर्भग, दुःस्वर, अनादेय, अयशःकीर्ति, अशुभवर्ण, अशुभगन्ध, अशुभरस, अशुभस्पर्श, केवल ज्ञानावरण, केवल दर्शनावरण, निद्रा, निद्रानिद्रा, प्रचला, प्रचलाप्रचला, स्त्यानगृद्धि, अनन्तानुबन्धी क्रोध, अनन्तानुबन्धी मान, अनन्तानुबन्धी माया, अनन्तानुबन्धी लोभ, अप्रत्याख्यानावरण क्रोध, अप्रत्याख्यानावरण मान, अप्रत्याख्यानावरण माया, अप्रत्याख्यानावरण लोभ, प्रत्याख्यानावरण क्रोध, प्रत्याख्यानावरण मान, प्रत्याख्यानावरण माया, प्रत्याख्यानावरण लोभ, मिथ्यात्व, मतिज्ञानावरण, श्रुतज्ञानावरण, अवधिज्ञानावरण, मनःपर्ययज्ञानावरण, चक्षुर्दर्शनावरण, अचक्षुर्दर्शनावरण, अवधिदर्शनावरण, संज्वलन क्रोध, संज्वलन मान, संज्वलन माया, संज्वलन लोभ, हास्य, रति, अरति, शोक, भय, जुगुप्सा, स्त्रीवेद, पुरुषवेद, नपुंसकवेद, दानान्तराय, लाभान्तराय, भोगान्तराय, उपभोगान्तराय, वीर्यान्तराय। ये सब मिल कर ८२ प्रकृतियाँ हैं।

मदनमाला—मिथ्यात्व के प्रभेदों में सम्यक्त्व भी है। उसे आप अशुभ या पाप प्रकृति क्यों कहते हैं? यदि वह पाप प्रकृति है तो उसे सम्यक्त्व किसलिए कहा जाता है?

भगवान्—जीव की रुचि के रूप जो सम्यक्त्व होता है वह तो शुभ होता है किन्तु यहाँ उसका विचार नहीं किया गया है। यहाँ मिथ्यात्व के शुद्ध किए गए पुद्गलों को सम्यक्त्व कहा गया है और वे तो शंकादि अनर्थ में निमित्त भूत होने के कारण अशुभ या पाप ही हैं। इन पुद्गलों को उपचार से सम्यक्त्व इसलिए कहते हैं कि ये जीव की रुचि का आवरण नहीं करते। वस्तुतः ये पुद्गल मिथ्यात्व के ही हैं।

उक्त पुण्य तथा पाप के सविपाक और अविपाक भेद भी हैं। जो प्रकृति जिस रूप में बाँधी गई हो उसी रूप में उस का विपाक हो तो उसे सविपाक प्रकृति कहते हैं तथा यदि उसके रस को मन्द कर अथवा नीरस कर उसके प्रदेशों का उदय भोगने में आए तो वह अविपाकी कहलाती है।

पुण्य-पाप के स्वातन्त्र्य का समर्थन

इतनी चर्चा से यह बात तो सिद्ध हो गई है कि पुण्य और पाप संकीर्ण नहीं प्रत्युत स्वतन्त्र हैं। यदि वे संकीर्ण हों तो सभी जीवों को उनका कार्य मिश्ररूप

भूत आत्मा का संसरण नहीं होता

पुनश्च, यदि प्रतिपिण्ड में भिन्न-स्वरूप अनेक चैतन्य धर्मों को न मानकर मात्र सकल चराचर रूप एक ही सर्वव्यापी तथा निष्क्रिय ऐसी आत्मा मानी जाए जिसके विषय में कहा गया है कि "प्रत्येक भूत में व्यवस्थित एक ही भूतात्मा है और वह एक होकर भी एकरूप में तथा बहुरूप में जल में चन्द्र बिम्ब के समान दिखाई देती है[1]" तो भी परलोक की सिद्धि नहीं हो सकती। कारण यह है कि वह सर्वगत और निष्क्रिय होने से आकाश के समान प्रत्येक पिण्ड में व्याप्त है, अतः उसका संसरण सम्भव नहीं है। संसरण के अभाव में परलोक-गमन कैसे सम्भव हो सकता है ? [१६५४]

और भी इस मनुष्य लोक को छोड़ कर देव व नारक का भव परलोक कहलाता है किन्तु वह प्रत्यक्ष दृष्टिगोचर नहीं होता। इसलिए भी परलोक की सत्ता नहीं है। इस प्रकार युक्ति पूर्वक विचार करने पर तुम्हें परलोक का अभाव भान होता है, किन्तु वेद वाक्यों में लोक का प्रतिपादन भी है। अतः तुम्हें सन्देह है कि परलोक है या नहीं ? [१६५५]

मेतार्य—आप ने मेरी शंका का ठीक-ठीक प्रतिपादन किया है। कृपया अब उस का निवारण करें।

संशय निवारण—परलोक सिद्धि, आत्मा स्वतन्त्र द्रव्य है

भगवान्—भूत (इन्द्रिय) इत्यादि से भिन्न-स्वरूप आत्मा का धर्म चैतन्य है तथा यह आत्मा जातिस्मरण आदि हेतुओं द्वारा द्रव्य की अपेक्षा से नित्य और पर्याय की अपेक्षा से अनित्य सिद्ध होती है। इस विषय की विशेष चर्चा वायुभूति से की जा चुकी है। अतः तुम्हें भी उसके समान आत्मा स्वीकार करनी चाहिए। [१६५६]

मेतार्य—अनेक आत्माओं के स्थान पर एक ही सर्वगत व निष्क्रिय आत्मा क्यों न मानी जाए ?

आत्मा अनेक हैं

भगवान्—आत्म द्रव्य को एक सर्वगत और निष्क्रिय नहीं माना जा सकता। कारण यह है कि उसमें घटादि के समान लक्षण भेद हैं। अतः अनेक घटादि के सदृश आत्मा को भी अनेक मानना चाहिए। इस सम्बन्ध में विशेष विचारणा इन्द्रभूति के साथ हो चुकी है। अतः तुम भी उसकी तरह आत्मा को अनेक मान लो।

---

1 एक एव हि भूतात्मा भूते भूते व्यवस्थितः ।
एकधा बहुधा चैव दृश्यते जलचन्द्रवत् ॥ ब्रह्मबिन्दूपनिषद्-११

दसवें गणधर मेतार्य

परलोक चर्चा

यह सुनकर कि वे सब दीक्षित हो चुके हैं, मेतार्य ने विचार किया, "मैं भी भगवान के पास जाऊं उन्हें वन्दन करूं तथा उनकी सेवा करूं।" तत्पश्चात वह भगवान के पास आ गया। [१९४९]

जाति-जरा मरण से मुक्त भगवान् ने सर्वज्ञ सर्वदर्शी होने के कारण उसे मेतार्य कौण्डिन्य। इस नाम-गोत्र से बुलाया और कहा। [१९५०]

परलोक विषयक सन्देह

तुम्हें संशय है कि परलोक है या नहीं? तुमने 'विज्ञानघन एवैतेभ्यो भूतेभ्य' इत्यादि परस्पर विरोधी वेद वाक्य सुने हैं। अत तुम्हें संशय होना स्वाभाविक है। किन्तु तुम उन वेद-वाक्यों का यथार्थ अर्थ नहीं जानते इसीलिए सन्देह में पड़े हो। मैं तुम्हें उनका सच्चा अर्थ बताऊंगा, उससे तुम्हारे संशय का निवारण हो जाएगा। [१९५१]

अत धर्म चैतन्य का भूतों के साथ नाश

तुम्हें यह प्रतीत होता है कि गुड़, धावड़ी आदि मद्य के अंगों या कारणों से जैसे मद धर्म भिन्न नहीं होता, वैसे ही पृथ्वी आदि भूतों से यदि चैतन्य धर्म भिन्न न हो तो परलोक मानने का कोई भी आधार नहीं रह जाता। कारण यह है कि भूतों के नाश के साथ चैतन्य का भी नाश हो जाता है फिर परलोक किसलिए और किसका मानना? जो धर्म जिससे अभिन्न हो वह उसके नाश के साथ ही नष्ट हो जाता है। जैसे पट का शुक्लत्व धर्म पट से अभिन्न है, पट का नाश होने पर उसका भी नाश हो जाता है वैसे ही यदि भूतों का धर्म चैतन्य भूतों से अभिन्न हो तो भूतों के नाश के साथ उसका भी नाश हो जाएगा। ऐसी दशा में परलोक मानने की आवश्यकता नहीं रहती। [१९५२]

भूतों से उत्पन्न चैतन्य अनित्य है

यदि चैतन्य को भूतों से भिन्न माना जाए तो भी परलोक स्वीकार करने की आवश्यकता नहीं रहती। कारण यह है कि भूतों से उत्पन्न होने के कारण वह अनित्य है। जैसे अरणी नामक काष्ठ से उत्पन्न होने वाली अग्नि विनाशी है, वैसे ही भूतों से उत्पन्न होने वाला चैतन्य भी विनाशी होना चाहिए। अत भूतों से भिन्न होने पर भी वह नष्ट हो जाएगा। फिर परलोक किसका मानना? [१९५३]

अद्वैत आत्मा का संसरण नहीं होता

पुनश्च, यदि प्रतिपिण्ड में भिन्न-स्वरूप अनेक चैतन्य धर्मों को न मानकर मात्र महान् चैतन्याश्रय रूप एक ही सर्वव्यापी तथा निष्क्रिय ऐसा आत्मा माना जाए जिसके विषय में कहा गया है कि प्रत्येक भूत में व्यवस्थित एक ही भूतात्मा है और वह एक होकर भी एकत्व में तथा बहुत्व में जल में चन्द्र बिम्ब के समान दिखाई देती है[1] तो भी परलोक की सिद्धि नहीं हो सकती। कारण यह है कि वह सर्वगत और निष्क्रिय होने से आकाश के समान प्रत्येक पिण्ड में व्याप्त है, अतः उसका संसरण सम्भव नहीं है। संसरण के अभाव में परलोक-गमन कैसे सम्भव हो सकता है? [१९५४]

और भी, इस मनुष्य लोक को छोड़कर देव व नारक का भव परलोक कहलाता है, किन्तु वह प्रत्यक्ष इन्द्रियगोचर नहीं होता। इसलिए भी परलोक की सत्ता नहीं है। इस प्रकार युक्ति पूर्वक विचार करने पर तुम्हें परलोक का अभाव ज्ञात होता है, किन्तु वेद वाक्यों में उसका प्रतिपादन भी है। अतः तुम्हें सन्देह है कि परलोक है या नहीं? [१९५५]

मेतार्य—आपने मेरी शंका का ठीक-ठीक प्रतिपादन किया है। कृपया अब उसका निवारण करें।

संशय निवारण—परलोक सिद्धि आत्मा स्वतन्त्र द्रव्य है

भगवान्—भूत(इन्द्रिय) इत्यादि से भिन्न-स्वरूप आत्मा का धर्म चैतन्य है तथा यह आत्मा जातिस्मरण आदि हेतुओं द्वारा द्रव्य की अपेक्षा से नित्य और पर्याय की अपेक्षा से अनित्य सिद्ध होता है। इस विषय की विशेष चर्चा वायुभूति से की जा चुकी है। अतः तुम्हें भी उसके समान आत्मा स्वीकार करनी चाहिए। [१९५६]

मेतार्य—अनेक आत्माओं के स्थान पर एक ही सर्वगत व निष्क्रिय आत्मा क्यों न माना जाए?

आत्मा अनेक हैं

भगवान्—आत्म द्रव्य को एक सर्वगत और निष्क्रिय नहीं माना जा सकता। कारण यह है कि उनमें घटादि के समान लक्षण भेद हैं। अतः अनेक घटादि के सदृश आत्मा को भी अनेक मानना चाहिए। इस सम्बन्ध में विशेष विचारणा इन्द्रभूति के साथ हो चुकी है अतः तुम भी उसकी तरह आत्मा को अनेक मान लो।

---

1 एक एव हि भूतात्मा भूते भूते व्यवस्थितः।
एकधा बहुधा चैव दृश्यते जलचन्द्रवत्॥ ब्रह्मबिन्दु उपनिषद्-12

मेतार्य—आत्मा में लक्षण भेद कैसे है ?

भगवान—आत्मा का लक्षण उपयोग है। राग, द्वेष, कषाय तथा विषयादि भेदों के कारण अनन्त अध्यवसाय भेद होने से वह उपयोग अनन्त प्रकार का दृग्गोचर होता है, अतः उसकी आधारभूत आत्मा भी अनन्त होनी चाहिए।

मेतार्य—अनन्त होकर भी आत्मा सर्वव्यापी क्यों नहीं होता ?

आत्मा देह परिमाण है

भगवान—आत्मा शरीर में ही व्याप्त है, वह सर्वव्यापक नहीं है, क्योंकि उसके गुण शरीर में ही उपलब्ध होते हैं। जैसे स्पर्श का अनुभव समस्त शरीर में होता है और अन्यत्र नहीं होता, इसलिए स्पर्शनेन्द्रिय केवल शरीर-व्यापी है वैसे ही आत्मा को भी शरीर व्याप्त ही मानना चाहिए।

मेतार्य—आत्मा को निष्क्रिय किसलिए नहीं माना जाता ?

आत्मा सक्रिय है

भगवान—आत्मा निष्क्रिय नहीं, क्योंकि वह देवदत्त के समान भोक्ता है। यह सब चर्चा इन्द्रभूति से की है। अतः उसके समान तुम भी आत्मा को अनन्त असर्वगत तथा निष्क्रिय मान लो। [१६४७]

मेतार्य—प्रमाण सिद्ध होने के कारण यह माना जा सकता है कि आत्मा अनेक है, किन्तु उसका देव-नारक रूप परलोक तो दिखाई नहीं देता, फिर उसे क्यों माना जाए ?

देव-नारक का अस्तित्व

भगवान—इस लोक से भिन्न देव नारक आदि परलोक भी तुम्हें स्वीकार करने चाहिए, क्योंकि मौर्य के साथ की गई चर्चा में देव-लोक का तथा अकम्पित के साथ की गई चर्चा में नारक-लोक की प्रमाणतः सिद्धि की गई है। [illegible] तुम्हें भी देव-नारक का अस्तित्व मानना चाहिए। [१९५८]

परलोक के अभाव का पूर्व पक्ष : विज्ञान अनित्य होने से आत्मा अनित्य

मेतार्य—जीव तथा विज्ञान का भेद मानें या अभेद, किन्तु उससे परलोक का अस्तित्व सिद्ध नहीं होता। यदि जीव को विज्ञानमय अर्थात् विज्ञान से अभिन्न माना जाए तो विज्ञान अनित्य होने के कारण नष्ट हो जाता है, [illegible] नष्ट हो [illegible] परलोक किसको [illegible] ? [illegible] माना जा सकता। यदि जीव को विज्ञान से भिन्न माना जाए [illegible] [illegible] आकाश से भिन्न है, [illegible] [illegible] [illegible] [१९५९]

एकान्त नित्य में कर्तृत्वादि नहीं

अपि च, अनित्य ज्ञान से भिन्न होने के कारण यदि आत्मा को एकान्त नित्य माना जाए तो आत्मा में कर्तृत्व और भोक्तृत्व भी घटित नहीं हो सकता, फिर परलोक की तो बात ही क्या है? यदि नित्य में भी कर्तृत्व और भोक्तृत्व हो तो वे हमेशा होने चाहिए। कारण यह है कि नित्य वस्तु सदा एकरूप होती है, किन्तु वे जीव में सदैव नहीं होते। अतः जीव को सर्वथा नित्य मानने से उसमें कर्तृत्व की सिद्धि नहीं होती। आत्मा के कर्ता न होने पर भी परलोक का अस्तित्व माना जाए तो सिद्धों के लिए भी परलोक मानना पड़ेगा। भोक्तृत्व के अभाव में भी परलोक की मान्यता व्यर्थ है। यदि परलोक में आत्मा कर्म फल न भोगे तो परलोक की सार्थकता ही क्या है?

अमूर्त आत्मा का संसरण नहीं

पुनश्च, जैसे आकाश अमूर्त होने के कारण उसका संसरण — एक भव से दूसरे भव में जन्म लेने की परम्परा — नहीं होती, उसी प्रकार यदि आत्मा भी ज्ञान से भिन्न होने के कारण आकाश के समान अमूर्त हो तो उसका संसरण भी घटित नहीं होता और आकाश के समान अमूर्त होने के कारण भी आत्मा का संसार नहीं माना जा सकता। जब आत्मा में संसार का ही अभाव होगा तो परलोक की सिद्धि कैसे हो सकती है? [१९५०]

परलोक सिद्धि—आत्मा अनित्य है, अतः नित्य भी है

भगवान्—तुम ने आत्मा को विनश्वर (अनित्य) सिद्ध किया है। तुम्हारे कथन का तात्पर्य यह है कि जो उत्पत्तिमान हो उसे घटादि के समान अनित्य होना चाहिए। विज्ञान उत्पत्तिशील होने के कारण अनित्य है अतः विज्ञानाभिन्न आत्मा भी अनित्य माननी चाहिए। तुम शायद यह भी मानते हो कि जो पर्याय होती है वह अनित्य होती है जैसे स्तम्भादि की नवीनत्व, पुराणत्व आदि पर्याय। विज्ञान भी पर्याय होने के कारण अनित्य है। इसलिए यदि आत्मा भी विज्ञानमय है तो वह भी अनित्य ही होगी। इससे तुम यह परिणाम निकालते हो कि आत्मा का परलोक नहीं है किन्तु तुम्हारी यह मान्यता भ्रमपूर्ण है। कारण यह है कि जिन हेतुओं के आधार पर तुम विज्ञान को अनित्य सिद्ध करते हो उनके आधार पर ही उसे नित्य सिद्ध किया जा सकता है। अर्थात् जो उत्पत्तिशील होता है या पर्याय होता है वह सर्वथा विनाशी न होकर अविनाशी भी होता है।

मेतार्य—यह कैसे सम्भव है?

भगवान्—उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य वस्तु का स्वभाव है। अर्थात् किसी भी वस्तु में केवल उत्पाद नहीं होता। जहाँ उत्पाद होता है वहाँ ध्रौव्य भी है। अतः यदि उत्पत्ति के कारण वस्तु कथंचित् अनित्य कहलाती है तो ध्रौव्य के कारण

कथंचित् नित्य भी कहलाएगा। यदि तुम यह कहो कि विज्ञान नित्य है क्योंकि वह उत्पत्तिमान है, जैसे घट। तो विज्ञान से अभिन्न होने के कारण आत्मा भी कथंचित् नित्य होगा। फिर परलोक का अभाव कैसे होगा? [१९६१]

अपि च, तुमने विज्ञान को अविनाशी सिद्ध करने के लिए 'उत्पत्तिमान है' यह हेतु दिया है। यह हेतु प्रत्यनुमान अर्थात् विरोधी अनुमान उपस्थित होने से विरुद्धव्यभिचारी भी है। अर्थात् विज्ञान में तुमने उसकी उत्पत्ति के कारण अनित्यता सिद्ध की है और तुम अपने हेतु द्वारा उसमें अनित्यता मानते हो, किन्तु इसके विपरीत नित्यता को सिद्ध करने वाला अन्य अव्यभिचारी हेतु भी है। इससे तुम्हारा हेतु दूषित कहलाएगा।

मेतार्य—प्रत्यनुमान कौनसा है?

घट भी नित्यानित्य है

भगवान्—विज्ञान सर्वथा विनाशी नहीं हो सकता, क्योंकि वह वस्तु है। जो वस्तु होती है वह घट के समान सर्वथा विनाशी नहीं होती, क्योंकि वह पर्याय की अपेक्षा से विनाशी होकर भी द्रव्य की अपेक्षा से अविनाशी है।

मेतार्य—आपका दृष्टान्त घट उत्पत्ति युक्त होने से विनाशी ही है, आप उसे अविनाशी कैसे कहते हैं? विनाशी घट के आधार पर आप विज्ञान को अविनाशी कैसे सिद्ध कर सकते हैं? [१९६२]

भगवान्—पहले यह समझना आवश्यक है कि घट क्या है? रूप, रस, गंध तथा स्पर्श ये गुण, संख्या, आकृति, मिट्टी रूप द्रव्य तथा जलाहरण आदि रूप शक्ति ये सब मिल कर घट कहलाते हैं। ये रूपादि स्वयं उत्पाद विनाश ध्रौव्यात्मक हैं। अतः घट को भी अविनाशी कहा जा सकता है। उसके उदाहरण से विज्ञान को भी अविनाशी सिद्ध किया जा सकता है। [१९६३]

मेतार्य—इस बात को कुछ और स्पष्ट करें तो यह समझ में आ सकेगी।

भगवान्—मिट्टी के पिण्ड का गोल आकार तथा उसकी शक्ति ये उभय रूप पर्याय जिस समय नष्ट हो रही हो, उसी समय वह मिट्टी का पिण्ड घटाकार और घट शक्ति इन उभय रूप पर्याय स्वरूप में उत्पन्न होता है। इस प्रकार उसमें उत्पाद व विनाश अनुभव सिद्ध है, अतः वह अनित्य है। किन्तु पिण्ड में विद्यमान रूप, रस, गंध, स्पर्श तथा मिट्टी रूप द्रव्य का तो उस समय भी उत्पाद या विनाश कुछ नहीं होता, वे सदा अवस्थित हैं अतः उनकी अपेक्षा से घट नित्य भी है। सारांश यह है कि मिट्टी द्रव्य का एक विशेष आकार और उसकी शक्ति अनवस्थित है। अर्थात् मिट्टी द्रव्य जिस पिण्ड रूप में था, वह अब घटाकार रूप में परिणत हो गया। पिण्ड में जलाहरण आदि की शक्ति नहीं थी, वह अब घटाकार में आ गई। इस प्रकार

घड म पूर्वावस्था का व्यय तथा अपूर्व अवस्था की उत्पत्ति होने के कारण वह विनाशी कहलाता है, किन्तु उसका रूप, रस, मिट्टी आदि वही है, अत उसे अविनाशी भी कहना चाहिए। इसी प्रकार संसार के सभी पदार्थ उत्पाद विनाश ध्रुव स्वभाव वाले समझ लेने चाहिए। इससे सभी पदार्थ नित्य भी हैं और अनित्य भी। अत 'उत्पत्ति होने से' इस हेतु द्वारा जैसे वस्तु का विनाशी सिद्ध किया जा सकता है वैसे ही अविनाशी भी सिद्ध किया जा सकता है। इसलिए विज्ञान भी उत्पत्ति युक्त होने से अविनाशी भी है और विज्ञान से अभिन्न आत्मा भी अविनाशी सिद्ध होती है अत परलोक का अभाव नहीं है। [१८६४-६५]

मेताय—विज्ञान में उत्पादादि तीनों कैसे घटित होते है ?

विज्ञान भी नित्यानित्य है

भगवान—घट-विषयक ज्ञान घट विज्ञान अथवा घट चेतना कहलाता है और पट विषयक ज्ञान पट विज्ञान अथवा पट चेतना। इसी प्रकार भिन्न भिन्न चेतनाओं को समझ लेना चाहिए। हम यह अनुभव करते हैं कि घट चेतना का जिस समय नाश होता है उसी समय पट चेतना उत्पन्न होती है, किन्तु जीव रूप सामान्य चेतना उन दोनों अवस्थाओं में विद्यमान रहती है। इस प्रकार इस लोक के प्रत्यक्ष चेतन (जीवों) में उत्पाद-व्यय ध्रौव्य सिद्ध हो जाते है। यही बात परलोकगत जीव के विषय में कही जा सकती है कि कोई जीव जब इस लोक में से मनुष्य रूप में मर कर देव होता है तब उस जीव का मनुष्य रूप इह लोक नष्ट होता है तथा देव रूप परलोक उत्पन्न होता है किन्तु सामान्य जीव अवस्थित ही है। शुद्ध द्रव्य की अपेक्षा से उस जीव को इहलोक या परलोक नहीं कहते किन्तु मात्र जीव कहते हैं। वह अविनाशी ही है। इस प्रकार इस जीव के उत्पाद व्यय ध्रौव्य स्वभाव युक्त होने के कारण परलोक का अभाव सिद्ध नहीं होता। [१९६६-६७]

मेताय—सभी पदार्थों को उत्पादादि त्रि-स्वभाव युक्त मानने की क्या आवश्यकता है ? केवल उत्पाद और व्यय मानने में क्या दोष है ? यह बात अनुभव सिद्ध है कि उत्पत्ति से पूर्व घट था ही नहीं फिर उसे उत्पत्ति से पूर्व विद्यमान मानने का क्या उद्देश्य है ?

भगवान—यदि घटादि सर्वथा असत् हो द्रव्यरूप में भी विद्यमान न हो तो उसकी उत्पत्ति ही सम्भव नहीं है। यदि सर्वथा असत् की भी उत्पत्ति मानी जाएगी तो खर विषाण भी उत्पन्न होना चाहिए। खर विषाण कभी उत्पन्न नहीं होता तथा घटादि पदार्थ कदाचित् उत्पन्न होते हैं, अत उत्पत्ति सर्वथा असत् की नहीं प्रत्युत कथंचित् सत् की होती है। इसी प्रकार जो सत् है उसका सर्वथा विनाश भी नहीं होता। यदि सत् का सर्वथा विनाश माना जाएगा तो क्रमश सभी वस्तुओं के नष्ट हो जाने पर सर्वोच्छेद का प्रसंग आ जाएगा। [१९६८]

अत अवस्थित या विद्यमान का ही किसी एक रूप में विनाश तथा दूसरे रूप में उत्पाद मानना चाहिए जैसे गोरस जीव का मनुष्य रूप में विनाश हो कर

निर्वाण विषयक मतभेद

तुम यह भी सोचते हो कि वस्तुतः निर्वाण कैसा होगा? कोई कहता है कि दीप निर्वाण के समान जीव का नाश ही निर्वाण है। जैसे कि "जैसे दीप जब निर्वाण को प्राप्त होता है तब वह पृथ्वी में नहीं समाता, आकाश में नहीं जाता, किसी दिशा अथवा विदिशा में भी नहीं जाता, किन्तु तेल के समाप्त हो जाने पर वह केवल शान्त हो जाता है—बुझ जाता है। वैसे ही जीव भी जब निर्वाण को प्राप्त होता है तब वह पृथ्वी या आकाश में नहीं जाता, किसी दिशा या विदिशा में नहीं जाता परन्तु क्लेश का नाश होने से केवल शान्ति प्राप्त करता है—समाप्त हो जाता है[1]।

और भी, कोई कहता है कि सत अर्थात् विद्यमान जीव के राग, द्वेष, मद, मोह, जन्म, जरा, दुःख रोगादि का क्षय हो जाने से जो एक विशिष्ट अवस्था उत्पन्न होती है वही मोक्ष है। जैसे कि—

"केवलज्ञान व केवलदर्शन स्वभाव वाला सब प्रकार के दुःख से रहित, राग द्वेषादि आन्तरिक शत्रुओं को क्षीण कर देने वाला मुक्ति में गया हुआ जीव आनन्द का अनुभव करता है[2]।"

इस प्रकार के विरोधी मत सुन कर तुम्हें सन्देह होता है कि इन दोनों में से निर्वाण का कौन सा स्वरूप वास्तविक माना जाए? [१९७५]

तुम यह भी मानते हो कि जीव तथा कर्म का संयोग आकाश के समान अनादि है, इसलिए जीव और आकाश के अनादि संयोग के समान जीव व कर्म के संयोग का भी नाश नहीं होता। अर्थात् कभी भी संसार का अभाव नहीं होता, फिर निर्वाण की बात कैसे की जा सकती है?

इस प्रकार तुम अनेक विकल्पों के जाल में फँसे हुए हो, जैसे कि निर्वाण का स्वरूप क्या माना जाए? अथवा निर्वाण का सर्वथा अभाव स्वीकार किया जाए या नहीं? तुम इस सम्बन्ध में कोई निर्णय नहीं कर सके, किन्तु मैं इस विषय में तुम्हारे सन्देह का समाधान करता हूँ। तुम इसे ध्यानपूर्वक सुनो। [१९७६]

प्रभास—आप पहले यह स्पष्ट करें कि जीव कर्म के अनादि संयोग का वियोग कैसे सम्भव हो सकता है?

---

1 दीपो यथा निर्वृतिमभ्युपेतो नैवावनिं गच्छति नान्तरिक्षम् ।
दिशं न कांचिद् विदिशं न कांचित् स्नेहक्षयात् केवलमेति शान्तिम् ॥
जीवस्तथा निर्वृतिमभ्युपेतो नैवावनिं गच्छति नान्तरिक्षम् ।
दिशं न कांचिद् विदिशं न कांचित् क्लेशक्षयात् केवलमेति शान्तिम् ॥
सौन्दरनन्द 16 28 29

2 केवलसंविद्दर्शनरूपाः सर्वार्तिदुःखपरिमुक्ताः ।
मोदन्ते मुक्तिगता जीवाः क्षीणान्तरारिगणाः ॥

सन्देह निवारण—निर्वाण सिद्धि जीव कर्म का अनादि संयोग नष्ट होता है

भगवान—यद्यपि कनक-पाषाण तथा कनक का संयोग अनादि है तथापि प्रयत्न द्वारा कनक को कनक-पाषाण से पृथक् किया जा सकता है, इसी प्रकार सम्यग् ज्ञान तथा क्रिया द्वारा जीव-कर्म के अनादि संयोग का अन्त हो सकता है तथा जीव से कर्म को पृथक् किया जा सकता है। मैंने इस विषय का विशेष स्पष्टीकरण मण्डिक के साथ की गई चर्चा में किया है। अतः उसके समान तुम्हें भी मानना चाहिए कि जीव-कर्म का सम्बन्ध नष्ट हो सकता है। [१९७७]

प्रभास—नारक, तिर्यंच, मनुष्य और देव रूप में जो जीव दिखाई देते हैं वस्तुतः वही संसार है। उक्त नारकादि अवस्था से रहित शुद्ध जीव तो कभी दिखाई नहीं देता। अर्थात् पर्याय-रहित केवल शुद्ध जीव द्रव्य उपलब्ध नहीं होता। अतः जब नारकादि रूप संसार का नाश हो जाता है तब तद् अभिन्न जीव का भी नाश हो जाता है फिर मोक्ष किस का होगा? [१९७८]

संसार पर्याय का नाश होने पर भी जीव विद्यमान रहता है

भगवान—नारकादि जीव द्रव्य की पर्यायें हैं। इन पर्यायों का नाश हो जाने से जीव-द्रव्य का भी सर्वथा नाश हो जाता है यह धारणा अयुक्त है। जैसे अँगूठी का नाश होने पर भी सुवर्ण का सर्वथा नाश नहीं होता उसी प्रकार जीव की नारकादि भिन्न भिन्न पर्यायों का नाश होने पर भी जीव द्रव्य का सर्वथा नाश नहीं होता। जैसे सुवर्ण की अँगूठी पर्याय का नाश होता है और कणकूत पर्याय का उत्पाद होता है किन्तु सुवर्ण स्थित रहता है वैसे ही जीव की नारकादि पर्याय का नाश होता है मुक्ति पर्याय का उत्पाद होता है परन्तु जीव द्रव्य विद्यमान रहता है। [१९७९]

प्रभास—जैसे कर्म के नाश से संसार का नाश होता है वैसे ही जीव का भी नाश हो जाना चाहिए अतः मोक्ष का अभाव ही मानना चाहिए।

कर्म-नाश से संसार के समान जीव का नाश नहीं

भगवान—संसार कर्मकृत है, अतः कर्म के नाश से संसार का नाश होना सर्वथा उपयुक्त है किन्तु जीवत्व कर्मकृत नहीं है अतः कर्म के नाश से जीव का नाश किसलिए मानना चाहिए? यदि कारण की निवृत्ति हो तो कार्य की भी निवृत्ति हो जाती है और व्यापक के निवृत्त होने पर व्याप्य भी निवृत्त हो जाता है, यह नियम है। किन्तु कर्म जीव का न तो कारण है और न व्यापक अतः कर्म की निवृत्ति पर जीव की निवृत्ति आवश्यक नहीं है। कर्म का भले अभाव हो जाए किन्तु जीव का अभाव नहीं होता अतः मोक्ष मानने में क्या आपत्ति है? [१९८०]

प्रभास—जीव का सर्वथा नाश नहीं होता इसमें क्या कोई अनुमान प्रमाण है?

जीव सर्वथा विनाशी नहीं

भगवान—जीव विनाशी नहीं है, क्योंकि उसमें आकाश के समान विकार (अवयव विच्छेद) दिखाई नहीं देता। जो विनाशी होता है उसका विकार अथवा

की धूप। ये सभी [illegible] प्रमाण से, [illegible] भी सर्वथा नाश नहीं माना जा सकता। [१६८७]

प्रभास — यदि दीपक का सर्वथा नाश नहीं होता तो वह बुझने के उपरान्त साक्षात् दिखाई क्यों नहीं देता?

भगवान — बुझने के बाद वह अन्धकार परिणाम को प्राप्त करता है और वह प्रत्यक्ष ही है। [illegible] दिखाई नहीं देता। फिर भी बुझने के बाद [illegible] दिखाई क्यों नहीं देता? इसका समाधान यह है कि दीपक उत्तरोत्तर सूक्ष्म-सूक्ष्मतर परिणाम को धारण करता है अतः विद्यमान होकर भी वह दृष्टिगोचर नहीं होता। जैसे बादल आकाश में बिखर जाने के बाद अपने सूक्ष्म परिणामों के कारण विद्यमान होते हुए भी आकाश में दृग्गोचर नहीं होते तथा [illegible] के कारण उड़ जाने वाला अंजन (सुरमा) विद्यमान होकर भी अपनी सूक्ष्म रज के कारण दिखाई नहीं देता, उसी प्रकार दीप भी बुझने के पश्चात् अस्ति रूप होते हुए भी सूक्ष्म परिणाम के कारण दृष्टिगोचर नहीं होता। अर्थात् वह असत् होने के कारण नहीं, अपितु सूक्ष्म होने के कारण हमारे देखने में नहीं आता। इसलिए दीप का सर्वथा नाश नहीं माना जा सकता। फलतः उक्त दृष्टान्त से निर्वाण में जीव का सर्वथा अभाव सिद्ध नहीं किया जा सकता। [१६८८]

प्रभास—पहले दीप आँखों से दिखाई देता था किन्तु बुझने के बाद वह सूक्ष्मतादि के कारण दिखाई नहीं देता, यह बात आपने कही है किन्तु वह सूक्ष्म क्योंकर हो जाता है?

पुद्गल के स्वभाव का निरूपण

भगवान्—पुद्गल का ऐसा स्वभाव है कि वह विचित्र परिणाम धारण करता है। इसीलिए सुवर्णपत्र, नमक, सूँठ, हरड, चित्रक, (एरण्ड), गुड़ ये सभी पुद्गल स्कंध प्रथम चक्षुरादि इन्द्रियों से ग्राह्य होते हैं, किन्तु अन्य द्रव्य क्षेत्र काल भाव रूप सामग्री मिलने से वे ऐसे बन जाते हैं कि तत्-तद् इन्द्रिय ग्राह्य न रह कर अन्य इन्द्रिय से ग्राह्य हो सकते हैं अथवा वे किसी अवस्था में इन्द्रियों द्वारा अग्राह्य भी बन जाते है। जैसे कि यदि सोने का पत्र बनाया हो तो वह सोना चक्षु इन्द्रिय से गृहीत किया जाता है, किन्तु यदि उसे शुद्धि के उद्देश्य से भट्ठा में डाला जाए और वह राख के साथ मिल जाए तो वह आँखों से दिखाई नहीं देता किन्तु स्पर्शनेन्द्रिय द्वारा उसका ज्ञान हो सकता है। तदुपरान्त यदि पुनः प्रयोग द्वारा सुवर्ण को भस्म से पृथक् किया जाए तो वह पुनः आँखों से दिखाई देने लगता है। इसी प्रकार नमक, सोंठ, हरड, एरण्ड, गुड़ ये सब पहले तो आँखों द्वारा उपलब्ध होते हैं, किन्तु यदि उन्हें सूप में मिला दिया जाए अथवा उनका चूर्ण बनाया जाए तो वे क्वाथ, चूर्ण, अवलेह आदि परिणामान्तर को प्राप्त करते है, अतः वे केवल आँखों

से गृहीत नहीं होते, परन्तु जीभ उनका ग्रहण कर सकती है। कस्तूरी अथवा कपूर के सम्पुट रखे हुए पुद्गल आँखों से दृष्टिगोचर होते हैं किन्तु यदि वायु उन्हें अन्यत्र ले जाए तो उनका ग्रहण आँख के स्थान पर नाक से ही हो सकता है यदि उसमें व्यवधान बढ़ जाए तो सूक्ष्म हो जाने के कारण वे नाक से भी गृहीत नहीं होते। नाक अधिक से अधिक नव-योजन तक के प्रदेश से आने वाली गंध को जान सकती है। इसी तरह नमक चक्षुर्ग्राह्य है परन्तु पानी में मिला देने के पश्चात वह रसनेन्द्रिय द्वारा ग्राह्य हो जाता है चक्षुर्ग्राह्य नहीं रहता। उसी पानी को यदि उबाला जाए तो नमक पुनः आँखों से दिखाई देने लगता है। इस प्रकार पुद्गलों का स्वभाव ही ऐसा है कि वे देश कालादि की सामग्री के भेद से विचित्र परिणाम प्राप्त करते हैं। इसीलिए दीपक पहले चक्षुर्ग्राह्य होता है परन्तु बुझ जाने के बाद वह आँख से दिखाई नहीं देता, इसमें कोई आश्चर्य की बात नहीं है। [१९८९]

अपि च, वायु स्पर्शनेन्द्रिय से ही ग्राह्य है रस जीभ से ही, गंध नाक से ही रूप चक्षु से ही तथा शब्द श्रोत्र से ही। इस प्रकार भिन्न भिन्न पदार्थ किसी एक इन्द्रिय द्वारा ग्राह्य होने पर भी परिणामान्तर को प्राप्त कर अन्य इन्द्रियों द्वारा गृहीत होने की योग्यता वाले बन जाते हैं उसी प्रकार दीपाग्नि भी पहले आँखों से उपलब्ध थी किन्तु बुझ जाने पर उसकी गंध आती है अतः वह घ्राणेन्द्रिय ग्राह्य बन जाती है ऐसा मानना चाहिए। अतः यह नहीं माना जा सकता कि दीप का सर्वथा नाश हो जाता है। [१९९०]

इस प्रकार दीप जब निर्वाण प्राप्त करता है तब वह परिणामान्तर को प्राप्त होता है, सर्वथा नष्ट नहीं होता, उसी प्रकार जीव भी जब परिनिर्वाण प्राप्त करता है तब वह सर्वथा नष्ट नहीं हो जाता। वह तो निराबाध—आत्यन्तिक सुख रूप परिणामान्तर को प्राप्त करता है। अतः दुःख क्षय से युक्त जीव की विशेषावस्था को ही निर्वाण मानना चाहिए। [१९९१]

प्रभास—यदि आत्मा की दुःख-क्षय वाली अवस्था ही मोक्ष है और उसमें शब्दादि विषयों का उपभोग नहीं है तो फिर मुक्तात्मा को सुख कहाँ से प्राप्त होता है? दुःख का अभाव ही सुख नहीं कहलाता?

विषय भोग के अभाव में भी मुक्त को सुख होता है

भगवान्—मुक्त जीव को परम मुनि के समान अकृत्रिम मिथ्याभिमान से रहित स्वाभाविक प्रकृष्ट सुख होता है क्योंकि प्रकृष्ट ज्ञान की प्राप्ति के बाद उसमें जन्म जरा व्याधि, मरण इष्ट वियोग अरति शोक क्षुधा, पिपासा शीत उष्ण काम क्रोध मद, शाठ्य, तृष्णा, राग-द्वेष चिन्ता औत्सुक्य आदि समस्त बाधाओं का अभाव होता है। काष्ठादि जड़ पदार्थों में भी जन्मादि की बाधा नहीं होती, किन्तु उन्हें सुखी नहीं कहा जा सकता, क्योंकि उनमें ज्ञान का अभाव है। मुक्तात्मा में ज्ञान भी है और बाधा विरह भी, अतः उसमें सुख भी है।

मुक्तात्मा अजीव सिद्ध होती है किन्तु यदि आप उसी हेतु से भवतात्मा को अजीव मानते हैं तो आपका सिद्धान्त अवश्यमेव दूषित हो जाता है क्योंकि आप मुक्तात्मा को अजीव न मान कर जीव ही स्वीकार करते हैं। फलतः यह आपत्ति मेरे सिद्धान्त पर लागू न होकर आपके सिद्धान्त पर ही लागू होती है।

भगवान—केवल करणाभाव के कारण तुम आत्मा में आकाश के समान अज्ञान सिद्ध करते हो। इसलिए मैंने तुम्हारी मान्यता पर उक्त आपत्ति की है कि मुक्तात्मा अजीव भी सिद्ध होगी। वस्तुतः मुक्तात्मा अज्ञानी भी नहीं है और अजीव भी नहीं है। [१९९२]

प्रभास—पहले यह बताएं कि मुक्तावस्था में जीव अजीव क्यों नहीं बन जाता? आकाश में करण का अभाव है इसलिए वह अजीव है। इसी प्रकार मुक्त में भी करणाभाव हो जाता है, अतः यह बात माननी चाहिए कि वह भी अजीव हो जाता है।

मुक्तात्मा अजीव नहीं बनता

भगवान—मुक्तावस्था में जीव अजीव रूप नहीं हो सकता, क्योंकि किसी भी वस्तु की स्वाभाविक जाति अत्यन्त विपरीत जाति रूप में परिणत नहीं हो सकती। जीव में जीवत्व द्रव्यत्व तथा अमूर्तत्व के समान स्वाभाविक जाति है, इसलिए जैसे जीव कभी भी द्रव्य के स्थान पर अद्रव्य तथा अमूर्त के स्थान पर मूर्त नहीं हो सकता उसी प्रकार जीव के स्थान पर अजीव भी नहीं हो सकता। जैसे आकाश की अजीव जाति स्वाभाविक है इसलिए वह कभी भी अत्यन्त विपरीत रूप जीवत्व जाति में परिणत नहीं हो सकता, वैसे ही जीव की स्वाभाविक जीवत्व जाति अत्यन्त विपरीत स्वरूप अजीवत्व जाति में परिणत नहीं हो सकती।

प्रभास—यदि मुक्तात्मा कभी भी अजीव नहीं बनता तो आपने यह बात कैसे प्रतिपादित की कि करणाभाव से मुक्तात्मा अजीव भी बन जाएगा?

भगवान—मैं तुम्हें यह बता ही चुका हूँ कि मेरा यह हेतु स्वतन्त्र हेतु नहीं है, अर्थात् मैंने स्वतन्त्र हेतु का प्रयोग कर मुक्तात्मा को अजीव सिद्ध नहीं किया है किन्तु जो लोग करणों के अभाव के कारण मुक्त जीवों को अज्ञानी मानते हैं उन्हें उसी आधार पर मुक्त जीवों को अजीव भी मानना चाहिए यह प्रसंगापादन (अनिष्टापादन) मैंने किया है। वस्तुतः इस हेतु से अर्थात् करण के अभाव से मुक्तात्मा अजीव सिद्ध नहीं होती है।

प्रभास—यह कैसे?

भगवान—उक्त हेतु में व्याप्ति (प्रतिबन्ध) का अभाव है अतः इस से साध्य सिद्ध नहीं हो सकता।

प्रभास—आप यह किसलिए कहते हैं कि व्याप्ति का अभाव है?

न होता है। जो कर्म के उदय से सम्पन्न हो वह पुण्य के फल के समान सुख रूप ही होता है। पाप का फल भी कर्मोदयजन्य होने के कारण सुख रूप होना चाहिए।

अपि च, पुण्य के फल का संवेदन जीव को अनुकूल प्रतीत होता है, अतः वह सुख रूप है। फिर भी आप उसे दुःख रूप कहते हैं। इससे आप की यह बात प्रत्यक्ष विरुद्ध भी है। जो बात स्वसंवेदन प्रत्यक्ष से सुख रूप प्रतीत होती है उसे आप दुःख रूप मानते है, अतएव आपका कथन प्रत्यक्ष विरुद्ध होने के कारण अयुक्त है। [२००४]

भगवान्—सौम्य ! तुम जिसे सुख का प्रत्यक्ष कहते हो वह अभ्रान्त अथवा यथार्थ प्रत्यक्ष नहीं है किन्तु भ्रान्त या अयथार्थ प्रत्यक्ष है। इसलिए मैं तुम्हारे द्वारा मान्य प्रत्यक्ष सुख को दुःख रूप बताता हूं। इसमें प्रत्यक्ष विरोध नहीं है। तुम जिसे प्रत्यक्ष सुख कहते हो वह सुख नहीं किन्तु दुःख ही है। सच्ची बात तो यह है कि संसार में ग्रस्त जीव को कहीं भी वास्तविक सुख नहीं मिल सकता। तुम जिसे सुख मानते हो वह व्याधि के प्रतिकार के समान है। किसी मनुष्य के दाद हो गया हो और मीठी खुजली होती हो तो उसे खुजलाते हुए जिस सुख का अनुभव होता है वह वस्तुतः सुख न होकर सुखाभास अथवा दुःख है। अविवेक के कारण जीव सुखाभास को भी सुख समझ लेता है। सब जानते हैं कि खुजलाने से खुजली बढ़ती ही है अतः जिसका परिणाम दुःख रूप हो उसे सुख न समझ कर दुःख ही मानना चाहिए। इसी प्रकार संसार के सभी पदार्थों के विषय में भी यह ज्ञान कहा जा सकता है। मनुष्य में एक लालसा (औत्सुक्य, वासना) होती है उसकी तृप्ति या प्रतिकार के लिए वह काम भोग भोगता है। वस्तुतः उसका भोग केवल लालसा का प्रतिकार ही है। उसमें यथार्थरूपेण दुःख होता है किन्तु मूढ़तावश मनुष्य उसे सुख मान लेता है। इसीलिए जो सुख रूप नहीं है वह अयथार्थतः सुख रूप प्रतीत होता है। जैसे कि "जो कामावशी पुरुष होता है वह प्रेत के समान नग्न होकर शब्द करती हुई उपस्थित स्त्री का आलिंगन कर अपने समस्त अंगों में अत्यन्त क्लान्ति प्राप्त करके भी मानो वह सुखी हो इस प्रकार मिथ्या रति (शान्ति, आराम) का अनुभव करता है[1]।

राज्य में सुख है यह बात भी मूढ़मति ही मानते हैं, किन्तु अनुभवी राजा का तो वचन है कि जब तक व्यक्ति राजा नहीं बनता तब तक ही उत्सुकता होती है, केवल इस उत्सुकता की ही पूर्ति राज्य की प्राप्ति द्वारा होती है। परन्तु तदुपरान्त प्राप्त राज्य का भार परमार्थतः विश्राम हो दुःख दिया करता है। इस

---

1 नग्नः प्रेत इवाविष्टः क्वणन्तीमुपगूह्य ताम्।
गाढायासितसर्वाङ्गः स सुखी रमते किल ॥

समय से निरपेक्ष है। इसलिए मात्र व्याधि के प्रतिकार रूप में उत्पन्न होने वाले संसार के सुखों के समान मुक्त का सुख प्रतिकार रूप में नहीं किन्तु निष्प्रतिकार रूप में उत्पन्न होता है। अतः वह मुख्य सुख है तथा प्रतिकार रूप सांसारिक सुख औपचारिक है। अर्थात् वस्तुतः वह दुःख ही है। कहा भी है–

जिसने मद तथा मदन पर विजय प्राप्त की है, जो मन-वचन-काय के समस्त विकारों से शून्य है, जो परवस्तु की आकांक्षा से रहित है, ऐसे संयमी महापुरुष के लिए यहीं मोक्ष है[1]। [२००७]

अथवा अन्य प्रकार से भी मुक्त में ज्ञान के समान सुख की सिद्धि हो सकती है। वह इस प्रकार होगी—जीव स्वभावतः अनन्त ज्ञानमय है किन्तु उसके उस ज्ञान का मतिज्ञानावरणादि से उपघात होता है, जैसे बादल सूर्य के प्रकाश का उपघात करते हैं। आवरण रूप बादलों में छिद्र हों तो वे सूर्य के प्रकाश के उपकारी बनते हैं उसी प्रकार आत्मा के सहज प्रकाश ज्ञान पर भी इन्द्रिय रूपी छिद्र अनुग्रह करते हैं क्योंकि उन छिद्रों के द्वारा आत्मा का प्रकाश स्वल्प रूप में प्रकाशित होता है किन्तु ज्ञानावरण का सर्वथाभाव होने पर सूर्य के प्रकाश के समान ज्ञान अपने सम्पूर्ण शुद्ध रूप में प्रकाशित होता है। [२००८]

इसी प्रकार आत्मा स्वरूपतः स्वाभाविक अनन्त सुखमय भी है। उसके उस सुख का पाप-कर्म द्वारा उपघात होता है तथा पुण्य-कर्म उस सुख का अनुग्रह या उपकार करने वाला है, किन्तु जब सब कर्म का नाश हो जाता है तब प्रकृष्ट ज्ञान के समान सकल, परिपूर्ण, निरुपचरित तथा निरुपम स्वाभाविक अनन्त सुख सिद्ध में प्रकट होता है। [२००९]

प्रभास—संसार में सुख पुण्य रूप कारण से उत्पन्न होता है, वह स्वाभाविक नहीं है। मोक्ष में पुण्य कर्म है ही नहीं। अतः कारण के अभाव में सुख रूप कार्य का सिद्ध में अभाव ही मानना चाहिए।

भगवान्—मैंने सुख को स्वाभाविक सिद्ध किया है। फिर भी तुम्हारा उपयुक्त बात पर आग्रह हो तो मैं कहूँगा कि तुम इस विषय में भी भूल करते हो। सकल कर्म का क्षय ही सिद्ध के सुख का कारण है अतः तुम यह नहीं कह सकते कि इसमें कारण का अभाव। जैसे जीव सकल कर्मों के क्षय होने से सिद्धत्व परिणाम को प्राप्त करता है वैसे ही वह संसार में अनुपलब्ध तथा विषयजन्य सुख से सर्वथा विलक्षण निरुपम सुख सकल कर्म क्षय के कारण प्राप्त करता है। [२०१०]

---

1 निर्जितमदमदनानां वाक्कायमनोविकाररहितानाम्।
विनिवृत्तपराशानामिहैव मोक्षः सुविहितानाम्॥ प्रशमरति 238

टिप्पणियाँ

(१)

पृ० 3 प० 2 **जीव के अस्तित्व की चर्चा**—प्रथम गणधर इन्द्रभूति के साथ हुए विवाद में जीव के अस्तित्व का प्रश्न मुख्य है। इन्द्रभूति द्वारा व्यक्त किया गया दृष्टिबिन्दु भारतीय दर्शनों में चार्वाक अथवा भौतिक दर्शन के नाम से प्रसिद्ध है। चार्वाक पक्ष जब यह कहता है कि आत्मा का अभाव है तब उसका अर्थ यह नहीं समझना चाहिए कि आत्मा का सर्वथा अस्तित्व ही नहीं है। उसका तात्पर्य केवल यह है कि आत्मा चार भूतों के समान स्वतन्त्र द्रव्य नहीं है अथवा स्वतन्त्र तत्व नहीं है। अर्थात् चार्वाक पक्ष की मान्यता है कि भूतों के विशिष्ट समुदाय से जो वस्तु निर्मित होती है वह आत्मा कहलाती है। इस समुदाय के नाश के साथ ही आत्मा नामक वस्तु भी नष्ट हो जाती है। सारांश यह है कि आत्मा एक भौतिक पदार्थ है भूतव्यतिरिक्त कोई स्वतन्त्र तत्व नहीं है। चार्वाक को उसका सर्वथा अभाव अभीष्ट नहीं है। इसी बात को ध्यान में रखते हुए न्यायवार्तिककार उद्योतकर ने कहा है कि 'सामान्यतः आत्मा के अस्तित्व के विषय में विवाद ही नहीं है यदि विवाद है तो वह विशेष विषयक है। अर्थात् कोई शरीर को ही आत्मा मानता है कोई बुद्धि को कोई इन्द्रियों को तथा कोई मन को ही आत्मा स्वीकार करता है कोई संघात को आत्मा की संज्ञा देता है तथा कोई इन सबसे भिन्न स्वतन्त्र आत्मा का अस्तित्व स्वीकार करता है। (न्याय वा० पृ० 336)

प्रस्तुत चर्चा में यह बात सिद्ध करने का प्रयत्न किया गया है कि आत्मा भौतिक नहीं प्रत्युत स्वतन्त्र तत्व है। समस्त चर्चा इसी विषय से सम्बन्ध रखती है कि आत्मा स्वतन्त्र तत्व है या नहीं? अन्त में यह सिद्ध किया गया है कि आत्मा स्वतन्त्र है केवल भौतिक नहीं। यहाँ पर प्रतिपादित की गई युक्तियाँ भारतीय दर्शनों में साधारण हैं। किसी ग्रन्थ में उनका विस्तार है तथा किसी में संक्षेप। ब्राह्मण बौद्ध जैन किसी भी दर्शन का ग्रन्थ देखने से ज्ञात होगा कि उनमें इन युक्तियों द्वारा ही आत्मा का स्वातन्त्र्य सिद्ध किया गया है।

चार्वाक व बौद्ध ये दोनों इतनी बातों में सहमत हैं कि आत्मा स्वतन्त्र द्रव्य तथा नित्य द्रव्य नहीं है अर्थात् शाश्वत द्रव्य नहीं है। अथवा दोनों के मत में आत्मा उत्पन्न होने वाला है। इन दोनों मतों में मतभेद यह है कि बौद्ध तो यह मानते हैं कि बुद्धि आत्मा ज्ञान या विज्ञान नामक एक स्वतन्त्र वस्तु है और चार्वाक कहते हैं कि आत्मा चार या पाँच भूतों से उत्पन्न होने वाली केवल एक परतन्त्र वस्तु है। बौद्ध अनेक कारणों से ज्ञान की उत्पत्ति तो मानते हैं और इस अपेक्षा से ज्ञान को परतन्त्र भी कहते हैं किन्तु ज्ञान के कारणों में ज्ञान और ज्ञानेतर दोनों प्रकार के कारणों को स्वीकार करते हैं। जबकि चार्वाक ज्ञान निष्पत्ति में केवल भूतों को अर्थात् ज्ञानेतर कारणों को ही मानते हैं। तात्पर्य यह है कि बौद्धों के अनुसार ज्ञान

कमी एक मूल तत्वभूत वस्तु है जो भानत्य है परन्तु चार्वाक उसे मूल तत्व के रूप में नहीं मानते वे केवल भूतों को ही मूल तत्त्व में स्थान देते हैं।

बौद्ध ज्ञान विज्ञान तथा आत्मा इन सबको एक ही वस्तु मानते हैं, आत्मा और ज्ञान में नाम मात्र का अन्तर है, वस्तु भेद नहीं। इसके विपरीत न्याय-वैशेषिक तथा मीमांसक आत्मा और ज्ञान को भिन्न भिन्न वस्तु मानते हैं। नैयायिकादि सम्मत ज्ञान गुण ही बौद्ध मत में आत्मा है।

सांख्य मत में आत्मा या पुरुष स्वतन्त्र तत्व है तथा बुद्धि प्रकृति से उत्पन्न होने वाला विकार है जिसमें ज्ञान सुख दुःख आदि वृत्तियां आविर्भूत होती हैं। बौद्ध आत्मा और ज्ञान को एक ही मानते हैं अतः उनके मतानुसार आत्मा या ज्ञान भी अनित्य है। अन्य दार्शनिकों के मत में आत्मा या पुरुष नित्य है तथा बुद्धि या ज्ञान अनित्य।

शांकर वेदान्त के अनुसार आत्मा चित्स्वरूप है कूटस्थ नित्य है ज्ञान उसका गुण या धर्म नहीं अपितु अन्तःकरण की एक वृत्ति है जो अनित्य है।

पृ 3 प० 3 वैशाख सुदि एकादशी—श्वेताम्बर मान्यता के अनुसार इस दिन भगवान महावीर का गणधरों से समागम हुआ, किन्तु दिगम्बर मान्यता के अनुसार केवलज्ञान की प्राप्ति के 66 दिन बाद गणधरों का समागम हुआ। अतः वे उक्त तिथि को नहीं मानते। इसके लिए कषायपाहुड टीका पृ 76 देखना चाहिए। भगवान महावीर की आयु 72 वर्ष की थी तथा दूसरी मान्यतानुसार 71 वर्ष 3 मास व 25 दिन थी। इस प्रकार भगवान् महावीर की आयु सम्बन्धी दो मान्यताओं का उल्लेख कर कषायपाहुड की टीका में वीरसेन ने इस बात का उत्तर देते हुए कि इन दोनों में से कौन सी ठीक है बताया है कि इस विषय में उन्हें उपदेश नहीं मिला अतः मौन रहना ही उचित है (पृ० 81 देखें)। दिगम्बरों के अनुसार वैशाख शुक्ल एकादशी के स्थान पर श्रावण कृष्ण प्रतिपदा तीर्थोत्पत्ति की तिथि स्वीकार की जाती है।—षट्खण्डागम धवला पृ० 63

पृ 3 प० 4 महसेन वन—श्वेताम्बरों की मान्यता है कि गणधरों का समागम महसेन वन में हुआ था और वहीं तीर्थ प्रवर्तन हुआ था। दिगम्बर मानते हैं कि यह समागम राजगृह के निकटस्थ विपुलाचल पर्वत पर हुआ था और तीर्थ का प्रवर्तन भी वहीं हुई थी। कषायपाहुड टीका पृ 73 देखें।

पृ 3 प०11 सन्देह—अनिर्णय संशय। एक ओर का निर्णय कराने वाले साधक प्रमाण तथा बाधक प्रमाण के अभाव में वस्तु के अस्तित्व का या निषेध का निर्णय न होता हो उस अस्तित्व और नास्तित्व जैसी दोनों कोटि को स्पर्श करने वाला जो ज्ञान होता है उसे संशय कहते हैं। जैसे कि जीव है या नहीं? यह साँप है या नहीं? अथवा यह साँप है या रस्सी?

पृ० 3 प 12 सिद्धि प्रत्यक्षादि प्रमाण द्वारा वस्तु का निश्चय करना।

पृ 3 प०12 प्रमाण—जिससे वस्तु का सम्यग् ज्ञान हो उसे प्रमाण कहते हैं। चार्वाक मतानुसार केवल प्रत्यक्ष (इन्द्रियों द्वारा होने वाला ज्ञान) ही प्रमाण है। बौद्ध तथा कुछ वैशेषिक

पृ०4 प०17 आगम — [illegible] के कथन को आगम कहते हैं। मीमांसक मानते हैं कि आगम अपौरुषेय हैं अर्थात् वे किसी पुरुष द्वारा रचित नहीं हैं। नैयायिकादि उन्हें ईश्वरकृत मानते हैं तथा जैन व बौद्ध उन्हें वीतराग पुरुष द्वारा प्रणीत मानते हैं।

पृ०4 प०27 आगम प्रमाण अनुमान से पृथक् नहीं है—इस मत का समर्थन प्रशस्तपाद (पृ० 576) ने किया है तथा दिङ्नाग आदि बौद्ध विद्वानों ने भी [illegible] है—प्रमाण वार्तिक स्वार्थवृत्ति पृ० 41[illegible] हेतुबिन्दु टीका पृ० 2-4, [illegible] के रूप में है—2 1 49–51

पृ०4 प०30 [illegible] विषयक आगम—आगम के दो भेदों के लिए न्याय सू० 118 देखें।

पृ०5 पं०11 अविसंवादी —विसंवाद अर्थात् पूर्वापर विरोध। जिसमें पूर्वापर विरोध न हो उसे अविसंवादी कहते हैं।

पृ०5 प०12 आप्त—जिसका वचन प्रमाण रूप माना जाए उसे आप्त कहते हैं। माता पिता आदि लौकिक आप्त हैं तथा रागद्वेष से रहित पुरुष अलौकिक आप्त हैं।

पृ०5 प०22 विज्ञानघन—यहाँ पर उद्धृत किए गए पाठ का पूरा सन्दर्भ यह है—'स यथा सैन्धवखिल्य उदके प्रास्त उदकमेवानुविलीयेत न हास्योद्ग्रहणायेव स्यात्। यतो यतस्त्वाददीत लवणमेवैवं वा अर इदं महद्भूतमनन्तमपारं विज्ञानघन एवैतेभ्यो भूतेभ्यः समुत्थाय तान्येवानुविनश्यति न प्रेत्य संज्ञास्तीत्यरे ब्रवीमीति होवाच याज्ञवल्क्यः।

बृहदारण्यकोपनिषद् 2 4 12

उक्त अवतरण में [illegible] शांकर भाष्य के अनुसार किया गया है। उसी भाष्य के अनुसार इसका भावार्थ यह है—जैसे नमक का एक टुकड़ा पानी में डाला जाए तो वह पानी में विलीन हो जाता है—नमक पानी का ही एक विकार है भूमि तथा तेज के सम्पर्क में जल नमक रूप में परिणत हो जाता है। किन्तु इसी नमक को जब उसकी योनि (जल) में डाला जाता है तब उसका अन्य सम्पर्क जन्य काठिन्य नष्ट हो जाता है। इसी को नमक का पानी में विलय कहते हैं। विलय होने के पश्चात् कोई व्यक्ति नमक के टुकड़े को पकड़ नहीं सकता किन्तु पानी किसी भी जगह से लिया जाए वह खारा ही होगा। इस आधार पर हम कह सकते हैं कि नमक के टुकड़े का सर्वथा अभाव नहीं हुआ किन्तु वह पानी में मिल गया अपने मूल रूप में आ गया अब वह टुकड़े के रूप में नहीं है। इसी प्रकार हे मैत्रेयी! यह महान् भूत है (परमात्मा है) वह अनन्त है अपार है। इसी महान् भूत में अर्थात् परमात्मा में अविद्या के कारण तुम पानी में से नमक के टुकड़े के समान अलग रूप बन गई हो किन्तु जब तुम्हारे इस अलग रूप का विलय अनन्त एवं अपार महान् भूत परमात्मा विज्ञानघन में हो जाता है तब केवल यही एक अनन्त और अपार महान् भूत रह जाता है अन्य कुछ नहीं रहता। किन्तु परमात्मा अन्य भाव को कैसे प्राप्त करते हैं? इस प्रश्न का उत्तर यह है कि जैसे स्वच्छ जल में फेन और बुद्बुद हैं वैसे ही परमात्मा में कार्य कारण विषयाकार रूप में परिणत स्वरूप नाम और रूपात्मक भूत हैं। इन भूतों से पानी में नमक के टुकड़े के समान अन्य की उत्पत्ति सम्भव है। किन्तु शास्त्र श्रवण द्वारा ब्रह्मविद्या की प्राप्ति कर जब अन्य जीव अपने ब्रह्मभाव (परमात्म भाव) को समझ

पृ०16 प०7 प्रतिराधी—विरोधी।

पृ०16 प 28 सर विपाक नहीं है—इसी बात का भ्रम विपाक के उदाहरण द्वारा न्यायवार्तिक (पृ० 340) म कहा गया है।

पृ 17 प०12 समवाय—सम गणी का द्रव्य कम का द्रव्य सामान्य का द्रव्य विशेष का जो सम्बन्ध है उस नयायिक समवाय कहते हैं।

प०19 प०2 गाथा 1575—व्योमवती पृ०407— सहगस्त्री बाह्याबाधित—(पा गे प्रबाधित) कन्याकाश्यप वाच्यमरात्र। —न्यायवार्तिक पृ० 337 तर्कसंग्रह पृ० 1

प०20 प०1। गाथा 1578 प्राप्त वचन की प्रमाणता के लिए न्यायवार्तिककार न तीन कारण बताए हैं—1 वस्तु का साक्षात्कार 2 भूतदया 3 जसा ज्ञान किया हो वसा ही कथन करन की इच्छा—न्यायवा० 2 1 69

प० 0 प०22 उपयोग लक्षण—ज्ञान तथा दशन को उपयोग कहते हैं म जिसके लक्षण हो उस उपयोगलक्षण कहा जाता है।

पृ०21 प०2 विकलसाम्य—पदरहित।

प०21 प०5 जिसका मूल—यहाँ वटवक्ष के साथ ससार की तुलना करके रूपक का कथन किया है। जस वटवक्ष के मूल ऊँचे होते हैं और वे जमीन की ओर नीचे फलते हैं वस ही ससार भी एक ही ईश्वर का प्रपच है। वह ईश्वर ऊपर है अर्थात् उच्चदशा म है किन्तु उससे उत्पन्न होने वाले जीव निम्न अर्थात् पतितावस्था म हैं।

पृ०21 प 6 छन्द—पत्र को छन्द कहते हैं।

प 21 प०9 जो कापता है—शकराचाय की व्याख्या म आत्मस्वरूप आत्मा व्यापक है अत उसम कम्पन या चलन घटित नहीं होता। फिर भी वह स्वत अचल होकर भी चालत क समान प्रतीत होता है इसका यह अथ समझना चाहिए। दूर का अथ देशकृत दूर नहीं है किन्तु अविद्वान् पुरुष के लिए करोड़ो वर्षों तक उसकी प्राप्ति सम्भव नहीं है इस अथ म दूर का प्रयोग समझना चाहिए। विद्वान् पुरुष के लिए आत्मा निकट है क्योंकि उस वह साक्षात् दिखाई देता है। नाम रूपात्मक जगत मर्यादित है किन्तु आत्मा व्यापक है अत वह उस क भी बाहर है। तथा आत्मा निरतिशयरूपेण सूक्ष्म होन के कारण सभी वस्तुओं के अन्तर म है।

पृ 21 प०13 जीव अनेक है— आत्मा अनेक है यह मत न्याय वशेषिक साख्य योग मीमांसक जन तथा बौद्धों का है। इसके विपरीत शाकर वेदान्त आत्मा को एक मानता है।

पृ०22 प 6 गाथा 1582 आत्मा अनेक है इस विषय की युक्तियाँ न्यायकारिका 18 म देखें।

प०23 प०14 जीव सवव्यापी नहीं है—उपनिषदों म आत्मा के परिमाण क विषय म भिन्न भिन्न कल्पनाएं हैं—कौषीतकी उपनिषद म आत्मा को शरीरव्यापी वर्णित किया गया

पूर्वोक्त अवतरण उपनिषद् में है। माध्यमिक कारिका तथा वृत्ति में भी इसी अर्थ का द्योतक अवतरण है—

यथा माया यथा स्वप्नो गन्धर्वनगरं यथा।
तथोत्पादस्तथा स्थानं तथा भङ्ग उदाहृतः ॥मूलमाध्यमिक का० 7 34
फेनपिण्डोपमं रूपं वेदना बुद्बुदोपमा।
मरीचिसदृशी संज्ञा संस्काराः कदलीनिभाः।
मायोपमं च विज्ञानमुक्तमादित्यबन्धुना ॥माध्यमिक वृत्ति पृ० 41

न्यायसूत्र में इस प्रकार का पूर्वपक्ष भी है—
स्वप्नविषयाभिमानवदयं प्रमाणप्रमेयाभिमानः। मायागन्धर्वनगरमृगतृष्णिकावद्वा। न्यायसूत्र 4 2 31–32

पृ०67 प०26 तुलना—
यथैव गन्धर्वपुरं मरीचिका यथैव माया सुपिनं यथैव।
स्वभावशून्या तु निमित्तभावना तथोपमान् जानथ सर्वभावान्॥
माध्यमिक वृत्ति पृ 178

पृ 68 प० 10 सापेक्ष—इस वाद का पूर्वपक्ष न्यायसूत्र में भी है और उसका वहाँ निराकरण भी किया है। न्यायसूत्र 4 1 39–40 देखें।

इस वाद का मूल नागार्जुन की निम्न कारिका में है—
योऽपेक्ष्य सिध्यते भावस्तमेवापेक्ष्य सिध्यति।
यदि योऽपेक्षितव्यः स सिध्यतां कमपेक्ष्य कः॥
योऽपेक्ष्य सिध्यते भावः सोऽसिद्धोऽपेक्षते कथम्।
अथाप्यपेक्षते सिद्धस्त्वपेक्षास्य न विद्यते॥
मूल माध्यमिक कारिका 10 10 11

सापेक्ष वस्तु का अभाव उपनिषद् में भी वर्णित उपलब्ध होता है—
अक्षरोच्चारणं नास्ति गुरुशिष्यादि नास्त्यपि।
एकाभावे द्वितीयं न द्वितीयेऽपि न चैकता॥२३॥
बद्धत्वमपि चेन्मोक्षो बन्धाभावे क्व मोक्षता।
मरणं यदि चेज्जन्म जन्माभावे मृतिर्न च॥२४॥
त्वमित्यपि भवेच्चाहं त्वं नो चेदहमेव न।
इदं यदि तदेवास्ति तदभावादिदं न च॥२५॥
अस्तीति चेन्नास्ति तदा नास्ति चेदस्ति किंचन।
कार्यं चेत् कारणं किंचित् कार्याभावे न कारणम्॥२६॥
द्वैतं यदि तदाद्वैतं द्वैताभावेऽद्वयं न च।
दृश्यं यदि दृगप्यस्ति दृश्याभावे दृगेव न॥२७॥
अन्तर्यदि बहिः सत्यमन्ताभावे बहिर्न च।
पूर्णत्वमस्ति चेत्किंचिदपूर्णत्वं प्रसज्यते॥२८॥

तस्मान्नैव स्वभावानां नापि नाम्नामिदं धनम्।
नास्ति दुर्वादिनां मते नास्ति मार्गोऽपि तत्र ह ॥२६॥

इसी प्रकार का विचार तत्त्वोपप्लवसिंह के चौथे प्रकरण में मिलते हैं। उसमें विग्रह व्यावर्तनी के सिद्धि के लिये जिस प्रकार के विचार हैं उसी प्रकार के विचार नागार्जुन के भी हैं मन्तव्य यह है कि एक को ब्रह्म की सिद्धि करनी है और दूसरे को शून्य की।

पृ० 68 पं० 9 स्वप्नदर्शन — न्यायवार्तिक में भी यही उदाहरण है — न्याय वार्तिक 4 1 39

पृ० 68 पं० 10 स्वत — यह नागार्जुन की युक्ति है —
न स्वतो नापि परतो न द्वाभ्यां नाप्यहेतुत ।
उत्पन्ना जातु विद्यन्ते भावा क्वचन केचन ॥१॥
न स्वतो जायते भाव परतो नैव जायते ।
न स्वत परतश्चैव जायते जायते कुत ॥२१॥ १३॥ मलमा०

पृ० 71 पं० 6 उत्पत्ति — यह चर्चा माध्यमिक वृत्ति 1 4 में है। तुलना करें —
उत्पद्यमानमुत्पादो यदि चोत्पादयत्ययम्।
उत्पादयेत तमुत्पाद उत्पाद कतम पुन ॥१८॥
अथ उत्पाद्यत्वेन यद्युत्पादोऽनवस्थिति ।
अथानुत्पाद उत्पन्न सर्वमुत्पद्यते तथा ॥१९॥
सतश्च तावदुत्पत्तिरसतश्च न युज्यते ।
न सतश्चासतश्चेति पूर्वमेवोपपादितम् ॥२०॥ मूलमा० का० 7

पृ० 71 पं० 25 गाथा 1695 — तुलना करें —
हेतोश्च प्रत्ययानां च सामग्र्या जायते यदि ।
फलमस्ति च सामग्र्या सामग्र्या जायते कथम् ॥१॥
हेतोश्च प्रत्ययानां च सामग्र्या जायते यदि ।
फलं नास्ति च सामग्र्या सामग्र्या जायते कथम् ॥२॥
हेतोश्च प्रत्ययानां च सामग्र्यामस्ति चेत् फलम् ।
गृह्येत ननु सामग्र्या सामग्र्या च न गृह्यते ॥३॥
हेतोश्च प्रत्ययानां च सामग्र्यां नास्ति चेत् फलम् ।
हेतव प्रत्ययाश्च स्युरहेतुप्रत्ययै समा ॥४॥ मलमा० का० 20
हेतुप्रत्ययसामग्र्यां पृथग्भावेऽपि मद्वचो न यदि ।
ननु शून्यत्वं सिद्धं भावानामस्वभावत्वात् ॥ विग्रहव्यावर्तनी 21

पृ० 74 पं० 8 गाथा 1702 — इसके साथ न्यायसूत्र स्मृतिसंकल्पवच्च स्वप्नविषयाभिमान (4 2 34) तथा उसके भाष्य की तुलना करने योग्य है।

पृ० 74 पं० 11 गाथा 1703 स्वप्न के विषय में प्रशस्तपाद पृ० 548 देखें।

पृ० 75 प० 2 त्रि अवयव वाला वाक्य—यहाँ वाक्य का अर्थ अनुमान वाक्य है। उनके तीन अवयव हैं—प्रतिज्ञा हेतु उदाहरण।

पृ० 75 प० 3 पाँच अवयव वाला वाक्य—उपर्युक्त तीन तथा उपनय और निगमन ये दो और मिला कर पाँच अवयव हैं—

1 पर्वत में वह्नि है—इसे प्रतिज्ञा कहते हैं। अतः इसमें साध्य वस्तु का निर्देश किया जाता है।

2 क्योंकि उसमें धुआँ है—यह हेतु है। साध्य को सिद्ध करने वाले साधन का निर्देश हेतु कहलाता है। साध्य के साथ जिसकी व्याप्ति (अविनाभाव) होती है वही साधन हो सकता है—अर्थात् जो वस्तु साध्य के अभाव में कभी भी उपलब्ध न होती हो जो साध्य के होने पर ही हो उसे साधन कहते हैं। उसको देख कर अनुमान हो सकता है कि साध्य अवश्य होना चाहिए।

3 जहाँ जहाँ धुआँ होता है वहाँ वहाँ अग्नि होती है—जैसे कि रसोई घर में। जहाँ अग्नि नहीं होती वहाँ धुआँ भी नहीं होता जैसे कि पानी के कुण्ड में। इस प्रकार जो व्याप्ति ज्ञान का स्थान हो उसे दृष्टान्त कहते हैं। उसका निर्देश करना उदाहरण है। प्रस्तुत में रसोई घर साधर्म्य दृष्टान्त कहलाता है क्योंकि उसमें अन्वय व्याप्ति अर्थात् साधन के सद्भाव में साध्य का सद्भाव बताया गया है। कुण्ड वैधर्म्य दृष्टान्त है क्योंकि इसमें व्यतिरेक व्याप्ति अर्थात् साध्य के अभाव के कारण साधन का भी अभाव बताया गया है।

4 पर्वत में धुआँ है—इस प्रकार पक्ष में साधन का उपसंहार करना उपनय कहलाता है।

5 अतः पर्वत में अग्नि है—इस प्रकार साध्य का उपसंहार निगमन कहलाता है।

पृ० 76 प० 1—सापेक्ष नहीं—न्यायसूत्र 4 1 40 देखें।

पृ० 76 प० 23 सापेक्ष—आचार्य समन्तभद्र ने इन दोनों एकान्तों का निराकरण किया है कि सब कुछ सापेक्ष ही है अथवा निरपेक्ष ही है। आप्तमीमांसा का० 73, 75

पृ० 77 प० 33—अग्निर्दहति—पूरा श्लोक यह है—

इदमेव न वेत्येतत् कस्य पर्यनुयोज्यताम्।
अग्निर्दहति नाकाशं कोऽत्र पर्यनुयुज्यताम्॥

प्रमाणवार्तिकालंकार पृ० 43

पृ० 79 प० 5 व्यवहार और निश्चय—आचार्य कुन्दकुन्द ने व्यवहार और निश्चय का जिस प्रकार पृथक्करण किया है उसके लिए न्यायावतारवार्तिक वृत्ति प्रस्तावना पृ० 139 देखें।

पृ० 91 प० 4 शस्त्रोपहत—किस जीव का घात कौन से शस्त्र से होता है इसके परिचय के लिए आचारांग का प्रथम अध्ययन देखें।

पृ० 92 प०2 पाँच समिति—1 ईर्या समिति—ऐसी सावधानी से चलना कि किसी जीव को क्लेश न हो। 2 भाषा समिति—सत्य हितकारी परिमित असंदिग्ध वचन का व्यवहार। 3 एषणा समिति—जीवन यात्रार्थ आवश्यक भोजन के लिए सावधानी पूर्वक प्रवृत्ति। 4 आदान भाण्डमात्र निक्षेपण समिति—पात्रादि वस्तु के लेने रखने आदि में सावधानी। 5 उच्चार प्रस्रवण खेल जल्ल सिंघाण परिष्ठापनिका समिति—मलमूत्रादि का योग्य स्थान में त्यागने की सावधानी।

पृ० 93 प० 2 तीन गुप्ति—मन वचन काय ये तीन गुप्ति हैं। गुप्ति अर्थात् असत् प्रवृत्ति से निवृत्ति।

(५)

पृ० 94 प०2 इस भव तथा पर भव का सादृश्य—इस चर्चा में पूर्व पक्ष यह है कि मनुष्य मर कर मनुष्य ही होता है तथा पशु मर कर पशु ही होता है। अब तक यह ज्ञात नहीं हो सका कि यह पूर्वपक्ष किसका है किन्तु उक्त पूर्वपक्ष के आधार पर कार्य कारण सदृश ही होता है या नहीं इस विषय पर जो चर्चा की गई है वह बहुत महत्त्वपूर्ण है।

चार्वाक असत् कार्यवादी हैं तो भी वे कार्य को सदृश और विलक्षण मानते हैं। चैतन्य रूप कार्यों को वे कारण से विलक्षण मानते हैं तथा भौतिक कार्यों को सदृश। चार्वाकों ने एक ही भूत न मानकर चार या पाँच भूत स्वीकार किए हैं। इससे ज्ञात होता है कि उनके मत में सर्वथा विलक्षण कार्य का सिद्धान्त मान्य नहीं है।

वेदान्त और सांख्य दोनों सत्कार्यवादी हैं अतः वे स्वीकार करते हैं कि कार्य-कारण सदृश होता है। वेदान्त के मतानुसार कार्य की समस्त विलक्षणता का समन्वय ब्रह्म में है तथा सांख्य के मतानुसार प्रकृति में। कोई भी कार्य वेदान्त मत में ब्रह्म से तथा सांख्य मत में प्रकृति से सर्वथा विलक्षण नहीं है। ब्रह्म के एक होने पर भी उसके कार्यों में जो विलक्षणता दृष्टिगोचर होती है उसका कारण वेदान्त के अनुसार अविद्या है। प्रकृति के एक होने पर भी उसके कार्यों में जो विलक्षणता है उसका कारण सांख्य मत में प्रकृति के गुणों का वैषम्य माना गया है।

नैयायिक वैशेषिक बौद्ध ये तीनों असत् कार्यवादी हैं अतः उनके मत में कार्य कारण से विलक्षण भी हो सकता है। कारण सदृश कार्य होता है इस विषय में इन दर्शनों को कोई आपत्ति या विवाद नहीं है। जैन भी इन सब के समान कार्य को कारण से सदृश और विलक्षण मानते हैं।

पृ० 102 प० 9 मनुष्य नाम कर्म—नाम कर्म की प्रकृति विशेष जिसके द्वारा जीव मनुष्य बनता है।

पृ० 102 प० 9 मनुष्य गोत्र कर्म—गोत्र कर्म के मूल भेद दो हैं—उच्च और नीच। इन मूल भेदों के अनेक उपभेद समझ लेने चाहिए। जैसे कि मनुष्य व देव उच्च में और नरक व तिर्यंच नीच में।

(६)

पृ० 103 प० 2 बंध मोक्ष चर्चा—इस प्रकरण में मुख्य रूपेण यह चर्चा है कि बंध मोक्ष सम्भव है या नहीं ?

भारतीय दर्शनों में केवल चार्वाक दर्शन ही ऐसा है कि जिसमें जीव के बंध मोक्ष को स्वीकार नहीं किया गया है। अन्य दर्शनों में इसे स्वीकृत किया गया है। सांख्यों ने बंध मोक्ष माना तो है किन्तु पुरुष के स्थान पर उन्होंने इसे प्रकृति में माना है। किन्तु यह केवल परिभाषा का भेद है क्योंकि सांख्य यह मानता है कि अन्त में प्रकृति और पुरुष का विवेक होना ही मोक्ष है अर्थात् तात्पर्य यह है कि प्रकृति और पुरुष की जो एकता समझ ली गई थी उसका स्थान विवेक ग्रहण कर लेता है और यही मोक्ष है। अन्य दर्शनों में भी यही बात मान्य है। सब दर्शन चेतन अचेतन के विवेक को (चेतन अचेतन के बंध के अभाव को) ही मोक्ष कहते हैं। तत्त्वज्ञान प्रकृति का धर्म हो या पुरुष का किन्तु सभी यह मानते हैं कि वह अत्यन्त आवश्यक है। अतः सांख्य तथा अन्य दर्शनों में इस विषय में परिभाषा का ही भेद है।

पृ० 103 प० 9 स एष विगुणः—यह वाक्य कहाँ का है इसकी शोध न हो सकी। किन्तु इसमें संशय नहीं कि इस पर सांख्य मत का प्रभाव है। कारण यह है कि सांख्यों के मत में आत्मा में बंध मोक्ष संसार कुछ भी नहीं माना गया किन्तु प्रकृति में ये सब स्वीकार किए गए हैं। इस वाक्य के साथ श्वेताश्वतर के इस वाक्य की तुलना करनी चाहिए—

कर्माध्यक्षः सर्वभूताधिवासः साक्षी चेता केवलो निर्गुणश्च ६.११

पृ० 108 प० 2 अभव्य—भव्य और अभव्य जीव के ये स्वाभाविक प्रकार हैं। अन्य दर्शनों में अभव्य शब्द का प्रयोग हुआ हो तो उसका अर्थ दुर्भव्य के समान समझना चाहिए। जीव के ये दो भेद किसलिए किए गए हैं इसका कुछ भी कारण नहीं बताया जा सकता। अतः आचार्य सिद्धसेन ने इस विषय को आगमगम्य अर्थात् अहेतुवाद के अन्तर्गत लिया है।

पृ० 109 प० 2 गाथा 1827—इस गाथा में इस आक्षेप का उत्तर दिया गया है कि भव्यों के मोक्ष जाने से संसार खाली हो जाएगा। उत्तर में बताया गया है कि भव्य अनन्त हैं अतः यह स्थिति उत्पन्न नहीं होगी। किसी भी समय संसार की समाप्ति होगी या नहीं इस प्रश्न के उत्तर में अन्य तथागत ने कहा है कि यह प्रश्न अव्याकृत है और लिखा है कि यह नहीं बताया जा सकता कि संसार का अन्त है या नहीं किन्तु बुद्ध का संसार [illegible] है [illegible] का [illegible] समाप्त नहीं होता यह बात कही जा सकती है। [illegible] निर्णय में [illegible] जा सकता। [illegible] गीता [illegible] [illegible] है—[illegible] नान्तो न चादि [illegible] । इसकी

यह है कि शून्यता के समान कभी भी संसार का सर्वथा उच्छेद नहीं होता। इसके साथ जैन मान्यता की तुलना करने योग्य है। जैन मान्यता है कि किसी भी तीर्थंकर से पूछा जाए उत्तर यह ही प्राप्त होगा कि भव्यों का अनन्तवाँ भाग ही सिद्ध हुआ है। जीव अनन्त हैं और उनका अनन्तवाँ भाग ही सिद्ध है। शास्त्रीजी ने उपनिषद् का निम्न मार्मिक वाक्य भी उद्धृत किया है — पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते। एक अन्य श्लोक भी उद्धृत किया है वह यह है—

अतएव हि विद्वत्सु मुच्यमानेषु सर्वदा।
ब्रह्माण्डजीवलोकानामनन्तत्वादशून्यता॥
योगभाष्य 4 33 देखें।

पृ० 111 पं० 19 गाथा 1839 —इस गाथा को अकृत मानने की जो बात कही है उसका कुछ स्पष्टीकरण आवश्यक है।

बौद्ध सभी वस्तुओं को क्षणिक मानते हैं अर्थात् संस्कृत (कृतक) मानते हैं। किन्तु उन्होंने निर्वाण को असंस्कृत ही माना है। राजा मिलिन्द ने प्रश्न किया था कि क्या कोई ऐसी वस्तु है जो कर्मजन्य न हो, हेतुजन्य न हो तथा ऋतुजन्य न हो। इसके उत्तर में भन्ते नागसेन ने बताया था कि आकाश और निर्वाण ये दो ऐसी वस्तुएँ हैं जो कर्म, हेतु अथवा ऋतु से उत्पन्न नहीं होती हैं। यह सुन कर राजा मिलिन्द ने तत्काल ही प्रश्न किया कि ऐसी अवस्था में भगवान ने मोक्ष मार्ग का उपदेश क्यों किया? उसके अनेक कारणों की चर्चा किसलिए की? नागसेन ने इसका उत्तर देते हुए कहा कि मोक्ष का साक्षात्कार करना तथा उसे उत्पन्न करना ये दोनों भिन्न भिन्न बातें हैं। भगवान ने जो कुछ कारण बताए हैं वे मोक्ष का साक्षात्कार करने के कारण हैं। भगवान ने मोक्ष को उत्पन्न करने के कारणों की चर्चा नहीं की है। इस बात के समर्थन के लिए दृष्टान्त दिया गया है कि कोई भी मनुष्य अपने प्राकृतिक बल से हिमालय तक पहुँच तो सकता है किन्तु वह अपने उसी बल से हिमालय को उखाड़ कर अन्यत्र नहीं रख सकता। एक मनुष्य नौका का आश्रय लेकर सामने के तीर पर पहुँच तो सकता है किन्तु उस तीर को उखाड़ कर वह किसी भी प्रकार अपने समीप नहीं ला सकता। उसी प्रकार भगवान निर्वाण के साक्षात्कार का मार्ग दिखा सकते हैं किन्तु निर्वाण को उत्पन्न करने के हेतु नहीं बता सकते। कारण यह है कि निर्वाण असंस्कृत है जो संस्कृत हो वह उत्पन्न हो सकता है किन्तु असंस्कृत वस्तु उत्पन्न हो ही नहीं सकती।

विषय स्पष्टीकरण करते हुए भन्ते नागसेन ने बताया है कि निर्वाण के असंस्कृत होने के कारण उसे उत्पन्न, अनुत्पन्न, उत्पाद्य, अतीत, अनागत, प्रत्युत्पन्न (वर्तमान), चक्षुर्विज्ञेय, श्रोत्रविज्ञेय, घ्राणविज्ञेय, जिह्वाविज्ञेय, स्पर्शविज्ञेय इन किसी भी शब्द से वर्णित नहीं किया जा सकता। फिर भी निर्वाण नहीं है यह नहीं कहा जा सकता। कारण यह है कि वह मनोविज्ञान का विषय बनता है। विशुद्ध स्वरूप मन द्वारा उसका ग्रहण हो सकता है। जैसे वायु दिखाई नहीं देती है, उसके संस्थान का पता नहीं चलता है, हाथ में पकड़ी नहीं जाती है फिर भी उसकी सत्ता है। इसी प्रकार निर्वाण भी है—मिलिन्दप्रश्न 4 7 1 —15 पृ० 63

इस प्रकार असंस्कृत निर्वाण सभी बौद्ध सम्प्रदायों को इष्ट है।

पृ 114 प०27 प्रयत्न—न्याय वैशेषिक ने आत्मा में प्रयत्न नाम का एक गुण माना है और वह कर्म (क्रिया) से भिन्न है क्योंकि वह गुण है।

पृ० 115 प० 31 नित्य सत्त्व—यह आ० धर्मकीर्ति का कारिका है। उसका पूर्ण रूप यह है—

> नित्य सत्त्वमसत्त्व वा हेतोरन्यानपेक्षणात ।
> अपेक्षातश्च भावाना कादाचित्कस्य सम्भव ॥ प्रमाणवार्तिक 3 4

(७)

पृ० 121 प० 2 देव चर्चा—चार्वाक को छोड़ कर शेष सभी भारतीय दर्शनों ने देवों का अस्तित्व स्वीकार किया है। अत देवों के अस्तित्व के विषय का सन्देह चार्वाकों का समझना चाहिए।

पृ 122 प० 9 देव प्रत्यक्ष हैं—यह कथन भी आगमाश्रित ही समझना चाहिए। कारण यह है कि सूर्य तथा चन्द्रादि ज्योतिष्कों को देव मान कर यहाँ यह प्रतिपादन किया गया है कि देव प्रत्यक्ष हैं। किन्तु इस बात में सन्देह का अवकाश है ही कि सूर्य-चन्द्रादि को देव मानना या नहीं। शास्त्र में उन्हें देव माना गया है इस बात को स्वीकार करके ही उन्हें प्रत्यक्ष कहा जा सकता है। इस प्रकार यहाँ आगमाश्रय है। इस आगमाश्रय को यहाँ अनुमान द्वारा प्रामाणिक सिद्ध करने का प्रयत्न किया गया है।

पृ० 122 प० 12 समवसरण में देव कथावत्थु नामक बौद्ध ग्रन्थ में भी यह बताया गया है कि इस लोक में देवागमन होता है।

(८)

पृ० 1 8 प 2 नारक चर्चा—इस चर्चा में भी यह समझ लेना चाहिए कि नारकों के अस्तित्व के सम्बन्ध का सन्देह चार्वाकों का ही था है अन्य भारतीय दर्शनों ने देवों के समान नारक भी माने ही हैं।

पृ 129 प० 1 सर्वज्ञ को प्रत्यक्ष हैं—सर्वज्ञ-साधक अनुमान में भी यही बात कही गई है कि सर्वज्ञ को अतीन्द्रिय पदार्थों का प्रत्यक्ष होता है। यहाँ सर्वज्ञ प्रत्यक्ष से नारकों का अस्तित्व सिद्ध किया गया है। वस्तुत सर्वज्ञत्व व नारक ये दोनों साधारण लोगों के लिए परोक्ष ही हैं।

पृ० 129 प० 19 इन्द्रिय ज्ञान परोक्ष है—अन्य दार्शनिक इन्द्रिय ज्ञान को लौकिक प्रत्यक्ष कहते हैं जबकि जैन उसे सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष कहते हैं। यहाँ उसकी परोक्षता का समर्थन किया गया है। प्रत्यक्ष शब्द में जो अक्ष शब्द है उसका अर्थ जैनों के अनुसार आत्मा है जो ज्ञान आत्म सापेक्ष हो उसे वह प्रत्यक्ष कहते हैं। अन्य दार्शनिक अक्ष शब्द का अर्थ इन्द्रिय करते हैं तथा जो इन्द्रियज है उसे वे प्रत्यक्ष या लौकिक प्रत्यक्ष कहते हैं।

पृ० 158 प० 4 सोने के घड़े को—इसके साथ आ० समन्तभद्र की निम्नकारिका तुलनीय है—

'घटमौलिसुवर्णार्थी नाशोत्पादस्थितिष्वयम् ।
शोकप्रमोदमाध्यस्थ्यं जनो याति सहेतुकम् ।। आप्तमीमांसा 59

(११)

पृ० 159 प० 2 निर्वाण-चर्चा—निर्वाण के अस्तित्व की शंका का आधार मीमांसा दर्शन की यह मान्यता है कि वैदिक कर्मकाण्ड जीवन पर्यन्त करना आवश्यक है। इस प्रकार की शंका न्याय-दर्शन में भी पूर्वपक्ष के रूप में उपलब्ध होती है—न्यायसूत्र 4 1 59 का भाष्य तथा अन्य टीकाएं देखें।

पृ० 160 प० 3 दीप निर्वाण—सौन्दरनन्द के श्लोक से मिलती हुई गाथा माध्यमिक वृत्ति में उद्धृत है। वह यह है—

'अथ पदितु कश्चि मागते कुतोऽयम्मागतु कुत्र याति वा ।
विदिशो दिश सर्वि मागतो नागतिर्नास्य गतिश्च लभ्यति ।।

मा०वृ०पृ० 216

चतुःशतक की वृत्ति (पृ० 59) में कहा गया है कि निर्वाण यह नाममात्र है प्रतिज्ञा मात्र है व्यवहार मात्र है संवृति मात्र है। और चतुःशतक (221) में तो कहा है—

स्कन्धा सन्ति न निर्वाण पुद्गलस्य न सम्भवः ।
यत्र दृष्टं न निर्वाणं निर्वाणं तत्र किं भवेत् ।।

बोधिचर्यावतार पञ्जिका में लिखा है—निर्वाण उपशम पुनरनुत्पत्तिधर्मकतया आत्यन्तिकसमुच्छेद इत्यर्थ (पृ० 350)। यह भी दीप निर्वाण पक्ष का समर्थन है। पुनश्च बोधिचर्यावतार (9 35) में जो यह कहा है कि—

यदा न भावो नाभावो मतेः संतिष्ठते पुरः ।
तदान्यगत्यभावेन निरालम्बा प्रशाम्यति ।।

यह भी दीप निर्वाण पक्ष का ही समर्थन है। उसकी व्याख्या में लिखा है—

'बुद्धि प्रशाम्यति उपशाम्यति सर्वविकल्पोपशमात् निरिन्धनवह्निवत् निवृतिं (निर्वृतिं ?) मुपयातीत्यर्थ।' पृ० 418

फिर भी यह नहीं कहा जा सकता कि शून्यवादी के मत में निर्वाण सर्वथा अभाव रूप है क्योंकि वह परमार्थ तत्त्व तो है ही जिसका वर्णन बोधिचर्यावतार पञ्जिका में इस प्रकार है—

'बोधिं बुद्धत्वमेकानेकस्वभावविविक्तं अनुत्पन्नमनिरुद्धं अनुच्छेदमशाश्वत सर्वप्रपञ्चविनिर्मुक्तं आकाशप्रतिसमं धर्मकायाख्यं परमार्थतत्त्वमुच्यते। एतदेव च प्रज्ञापारमिता शून्यता-तथता भूतकोटिर्धर्मधात्वादिशब्देन संवृतिमुपादाय अभिधीयते। पृ० 421

नागसेन ने मिलिन्द प्रश्न (पृ० 72) मे निर्वाण को निरोध रूप कहा है। फिर उन्होंने उसे सर्वथा अभाव रूप नहीं किन्तु अस्तिधर्म कहा है (पृ० 265)। यह भी कहा कि निर्वाण सुख है (पृ० 72)। यही नहीं, उसे 'एकान्त सुख' कहा गया है (पृ० 3 6)। उसम दुःख का लेश भी नहीं है। नागसेन ने यह स्वीकार किया है कि अस्ति होते हुए भी निर्वाण का रूप संस्थान वय प्रमाण यह सब कुछ नहीं बताया जा सकता (पृ० 309)।

पृ० 160 प० 11 मोक्ष—यह पद जनों को मान्य है।

पृ० 161 प० 28 व्यापक—जिसका विस्तार अधिक हो उसे व्यापक कहते हैं तथा जिसका विस्तार न्यून हो उसे व्याप्य कहते है। जसे कि वृक्षत्व और आम्रत्व। वृक्षत्व किन्तु है व्यापक है और आम्रत्व वृक्षत्व से व्याप्य है। ऐसी स्थिति म जहाँ वृक्षत्व न हो वहाँ आम्रत्व भी नहीं होता, किन्तु जहाँ आम्रत्व हो वहाँ वृक्षत्व अवश्य होगा। अत आम्रत्व को हेतु बना कर वृक्षत्व को साध्य बनाया जा सकता है। किन्तु इससे विपरीत साध्य साधन भाव नहीं बन सकता।

पृ० 162 पं० 9 प्रध्वंसाभाव—प्रध्वंस अर्थात् विनाश। घट का विनाश उसका जो अभाव हुआ वह प्रध्वंसाभाव कहलाता है। अर्थात् ठीकरियाँ घट का प्रध्वंस

पृ० 165 प० 24 आत्मा को—यह शंका नैयायिक-वैशेषिक मत के अनुसार उनके मत में मोक्ष में आत्मा म सुख या ज्ञान नहीं है।

पृ० 167 पं० 25 स्वतन्त्र हेतु—जिस साधन या हेतु द्वारा स्वेष्ट वस्तु की की जाए वह स्वतन्त्र-साधन है परन्तु जिस हेतु द्वारा स्वेष्ट वस्तु की सिद्धि नहीं किन्तु पर के इष्ट पर केवल आपत्ति का आना वह प्रसंग हेतु कहलाता है।

वृद्धि पत्र

(1) आचार्य जिनभद्र की कृतियों में एक चूर्णि की वृद्धि करनी चाहिये। यह चूर्णि अनुयोगद्वार के शरीर-पद पर है। इसका अक्षरशः उद्धरण जिनदास की चूर्णि तथा हरिभद्र की वृत्ति में हुआ है।

(2) विशेषावश्यक भाष्य की टीकाओं में मलयगिरिकृत टीका की भी गणना करनी चाहिये। इसका उल्लेख स्वयं मलयगिरि ने प्रज्ञापना की टीका में किया है। सम्भव है इस टीका की प्रति मिल जाए।

(3) सामान्यतः निर्युक्तिकार के रूप में भद्रबाहु ज्ञात हैं उनका समय मुनि श्री पुण्यविजय जी के लेख के आधार पर प्रस्तावना में प्रथम सूचित किया जा चुका है किन्तु निर्युक्ति नाम के व्याख्या ग्रन्थों की रचना बहुत पहले से चली आ रही है। इसके प्रमाण के लिए यहाँ श्री अगस्त्यसिंह की चूर्णि का निर्देश किया जा सकता है। इस चूर्णि का अब तक नाम भी ज्ञात न था किन्तु जसलमेर के भण्डार से यह दो वर्ष पूर्व उक्त मुनिश्री को मिली है। यह चूर्णि दशवकालिक सूत्र पर है। इसमें दशवकालिक पर लिखी गई एक वृत्ति का भी निर्देश है। इस चूर्णि में व्याख्यात की गई गाथाएं जिनदास की चूर्णि में भी उसी रूप में हैं। हरिभद्रीय वृत्तियों में इन गाथाओं के अतिरिक्त अन्य निर्युक्ति गाथाएं भी हैं। अगस्त्यसिंह का समय माथुरी वाचना तथा वालभी वाचना के अन्तरकाल में कहीं है। अगस्त्यसिंह द्वारा स्वीकृत किया गया सूत्र-पाठ श्री देवर्द्धिगणि द्वारा स्थिर किए गए सूत्र-पाठ से भिन्न ही है इससे यह कल्पना की जा सकती है कि वह सूत्र-पाठ माथुरी या नागार्जुनीय वाचना सम्मत होगा। अतः हम कह सकते हैं कि अगस्त्यसिंह की चूर्णि में वर्णित निर्युक्ति भाग प्राचीन है। हाँ नवीन रचित निर्युक्ति में प्राचीन निर्युक्ति समाविष्ट हो जाता है। इसलिए जैसे चूर्णि ग्रन्थों की रचना परम्परा जिनदास से पहले से चली आ रही है उसी प्रकार निर्युक्ति के विषय में भी यही बात है। यह देख कर यह विचार भी उत्पन्न होता है कि चतुर्दश पूर्वी भद्रबाहु द्वारा निर्युक्तियों की रचना की परम्परा में कुछ तथ्य सा अवश्य होना चाहिए।

(4) जीतकल्प की चूर्णि के कर्ता के रूप में बृहत्क्षेत्रसमास वृत्ति के रचयिता विक्रम की 12वीं शताब्दी में विद्यमान सिद्धसेनसूरि का उल्लेख सम्भावना के रूप में प्रस्तावना पृ० 46 पर किया गया है किन्तु जीतकल्प एक आगमिक ग्रन्थ है। अतः प्रतीत होता है कि उसकी चूर्णि का कर्ता कोई आगमिक होना चाहिए। एक ऐसे आगमिक सिद्धसेन क्षमाश्रमण का निर्देश पंचकल्प चूर्णि तथा हरिभद्रीय वृत्ति में उपलब्ध होता है। सम्भव है कि जीतकल्प चूर्णि के कर्ता यही क्षमाश्रमण सिद्धसेन हों। यह मत एक विकल्प के रूप में है।

(5) क्षेत्रसमास वृत्ति के कर्ता के रूप में हरिभद्र का निर्देश तथा उनका समय 1185 प्रस्तावना में सूचित किया गया है किन्तु जैसलमेर की ताडपत्र की प्रति में जो अब तक प्राप्त

इस वृत्ति की प्रतियो मे सबसे प्राचीन है 1185 का निर्देश नहीं है केवल 85 सवत [illegible] स्पष्ट है। अत 'जन साहित्य नो इतिहास के आधार पर निर्दिष्ट 1185 के समय पर पुन विचार होना चाहिये।

(6) प्रस्तावना मे कहा गया है कि आचार्य हेमचन्द्र मलधारी के हस्ताक्षर की प्रति खम्भात के भण्डार मे है, किन्तु इस प्रति की प्रशस्ति में प्रयुक्त विशेषणों को देखकर यह अनुमान होता है कि शायद वह प्रति मलधारी के हाथो की न हो। हाँ, यह सम्भव है कि उन्होंने किसी और से वह प्रति अपने सामने लिखाई हो तथा उस लिखने वाले ने उन विशेषणों का प्रयोग किया हो। अत हस्तलिपि के प्रश्न पर भी पुन विचार होना चाहिये।

—सुखलाल

जं चागमा विरुद्धा परोप्परमतो वि संसओ जुत्तो ।
सव्वप्पमाणविसयातीतो जीवो त्ति तो[1] बुद्धी ॥१५५३॥

गोतम ! पच्चक्खोच्चिय जीवो जं संसयादिविण्णाणं ।
पच्चक्खं च ण सज्झं जध सुहदुक्खा[2] सदेहम्मि ॥१५५४॥

कतवं करेमि काहं चाहमहंपच्चयाद्दिमातो य ।
अप्पा सपच्चक्खो [3]तिकालकज्जोवदेसातो ॥१५५५॥

किह[4] पडियण्णमहं ति य किमत्थि णत्थि त्ति संसओ किध णु ?।
सइ संसयम्मि वाऽयं [5]कस्साहंपच्चओ जुत्तो ॥१५५६॥

जति णत्थि संसयि च्चिय किमत्थि णत्थि त्ति संसओ कस्स ।
संसइते य सरूवे गोतम ! किमसंसयं होज्जा ॥१५५७॥

गुणपच्चक्खत्तणतो गुणी वि जीवो घडो व्व पच्चक्खो ।
घडओ वि घेप्पति गुणी गुणमत्तग्गहणतो जम्हा ॥१५५८॥

अण्णोऽणण्णो व्व गुणी होज्ज गुणेहिं जति णाम सोऽणण्णो ।
णणु गुणमेतग्गहणे घेप्पति जीवो गुणी सक्खं ॥१५५९॥

अध अण्णो तो एवं गुणिणो न घडातयो वि पच्चक्खा ।
गुणमत्तग्गहणातो जीवम्मि कतो वियारोऽयं ?॥१५६०॥

अध मण्णसि अत्थि गुणी ण तु देहत्थंतरं तओ किंतु ।
देहे णाणातिगुणा सो च्चिय ताण[6] गुणी जुत्ता ॥१५६१॥

णाणादयो न देहस्स [7]मुत्तिमत्तातितो घडस्सेव ।
तम्हा णाणातिगुणा जस्स स देहाधियो जीवो ॥१५६२॥

इय तुह देसेणायं पच्चक्खो सव्वधा महं जीवो ।
अविहतणाणत्तणतो तुह विण्णाणं व पडिवज्ज[8] ॥१५६३॥

एवं चिय परदेहेऽणुमाणतो गेण्ह जीवमत्थि त्ति ।
अणुवित्ति णिवित्तीतो विण्णाणमयं सरूवं व्व[9] ॥१५६४॥

---

1 तो-म०। 2 दुक्खा-म०। 3 वज्जावएमामा-को०। 4 कह को 5 कस्सा-को०। 6 तेसिं मु० को०। 7 देहस्सऽम-को०। 8 पडिवज्ज: 9 सरूवं व ता०।

अत्थो देहो न्निय से त णो पज्जायवयणभेयातो।
णाणान्निगुणा य जतो भणितो जीवो ण देहोत्ति ॥१५७६॥

जीवोऽपि वयो सच्च मव्वयणातोऽणेगवयण य ।
सव्वण्णुवयणतो वा अणुमतसव्वण्णु वयण व[1] ॥१५७७॥

भयरागमोहदोसाभावातो[2] सच्चमणतिवाति च ।
सव्व चिय मे वयण जाणयमज्झत्थवयण व ॥१५७८॥

[3]किध सव्वण्णु त्ति मती जेणाह सव्वसंसयच्छेदी[4] ।
पुच्छसु व ज ण याणसि जेण व ते पच्चया होज्जा ॥१५७९॥

एवमुवयोगलिंग गोतम ! सव्वप्पमाणससिद्ध ।
ससारीतरथावरतसातिभेत मुण जीव ॥१५८०॥

[5]जति पुण सो एगोच्चिय हवेज्ज वोम व सव्वपिण्डेसु ।
[6]गोतम ! [7]तमेगलिंग पिण्डेसु तधा ण जीवो य ॥१५८१॥

णाणा जीवा कुम्भातयो व्व भुवि लक्खणाभिभेदातो ।
सुह दुक्ख-बध मोक्खाभावो य जतो तदेगत्ते ॥१५८२॥

जेणोवयोगलिंगा जीवो भिण्णा य सो पतिसरीर ।
उवयोगो उक्करिसावकरिसतो तेण तेऽणता ॥१५८३॥

[8]एगत्त सव्वगतत्ततो ण [9]सोक्खादयो णभस्सेव ।
कत्ता भोत्ता मता ण य ससारी जधाऽऽगास ॥१५८४॥

एगत्त णत्थि सुहो बहूवघातो त्ति देसणिम्यो व्व ।
बहुतरवद्धत्तणतो ण य मुक्को देसमुक्का व्व ॥१५८५॥

जीवा तणमेत्तत्था जध कुम्भो तग्गुणोवलभातो ।
अधवाऽणुवलभातो भिण्णम्मि घड पडस्सेव ॥१५८६॥

तम्हा कत्ता भोत्ता बधो मोक्खो सुह च दुक्ख च ।
ससरण च बहुत्ता सव्वगतत्तसु जुत्ताइ ॥१५८७॥

गोतम ! वेदपदाण इमाण अत्थ च त न याणासि ।
ज विण्णाणघणो च्चिय भूतेहितो समुत्थाय ॥१५८८॥

---

1 वा ता० । 2 भयाभो को० मु० । 3 कह को० मु० । 4 -च्छेदी को० मु० ।
5 धा० ता० । 6 पा० ता० । 7 तम्हा—को० मु० । 9 एगत्ते ता० ।
9 म वधा को०मु० ।

जो तुल्लमाधणाण फले विसेसो ण सो विणा हेतु ।
कज्जत्तणता गातम [1] घडो व्व हेतू य सो[1] कम्म ॥१६१३॥

बालसरीर देहतरपुव्व इ दियातिमत्ततो ।
जध बालदहपुव्वा जुवदेहा पुव्वमिह कम्म ॥१६१४॥

किरियाफलभावातो दाणादीण फल किसीए व्व ।
[2]त चिय दाणादिफल मणप्पसादाति जति बुद्धी ॥१६१५॥

किरियासामण्णातो ज फलमस्सावि त मत कम्म ।
तस्स परिणामरूव सुह-दुक्खफल जतो भुज्जो ॥१६१६॥

होज्ज मणोविसीए दाणातिकिये व जति फल बुद्धी ।
त ण णिमित्तत्तातो पिण्डा व्व घडस्स विण्णयो ॥१६१७॥

[3]एव पि दिटठफलता [4]किया ण कम्मफला पसत्ता ते ।
सा [5]तम्मत्तफल च्चिय जध मसफलो पसुविणासो ॥१६१८॥

पाय च जीवलाओ वट्टति [6]दिटठप्फलासु किरियासु ।
[7]अद्दिटठफलासु पुणो वट्टति णासखभागो वि ॥१६१९॥

सोम्म [1] जतो च्चिय जीवा पाय दिटठप्फलासु वट्टन्ति ।
[7]अद्दिटठफलाओ [8]वि हु ताओ पडिवज्ज तेणव ॥१६२०॥

इधरा अदिटठरहिता सव्वे मुच्चेज्ज ते अपयत्तण[9] ।
[10]अद्दिटठारम्भा चेव [11]किलेसबहुलो भवेज्जाहि ॥१६२१॥

जमणिटठभागभाजो बहुतरया ज च णह मतिपुव ।
अद्दिटठाणिटठफल कोइ वि किरिय समारभते[12] ॥१६२२॥

तेण पडिवज्ज किरिया अणिटठगतियप्फला सव्वा ।
दिटठाणगतफला सा वि अदिटठाणुभावेण[13] ॥१६२३॥

अधव फलातो कम्म कज्जत्तणतो पनाणित पुव्व ।
परमाणवा घडस्स व किरियाण तय फल भिन्न ॥१६२४॥

---

1 से को० । 2 दाणाणिफल त चिय ता । 3 चा० सा० । 4 किरिया—मु० का० ।
5 तम्मेत्त मु० । 6 दिटठफलासु मु । 7 अणिट्ठ—मु । 8 वि य ताओ मु० ।
9 त्तण ता । 10 अणिट्ठा० मु० । 11 केस मु । 12 समारभइ मु० का०
13 —भावण मु० को० ।

सव्वं पि य सव्वमयं सपरपज्जायओ जओ निययं ।
सव्वमसव्वमयं [1]पि य विचित्तरूवा विवक्खाओ ॥१६०२॥

सामण्णविसेसमओ तेण पयत्थो विवक्खया जुत्तो ।
वत्थुस्स विस्सरूवो पज्जायावेक्खया सव्वो ॥१६०३॥

*छिण्णम्मि संसयम्मी जिणेण जरमरणविप्पमुक्केण ।
सो समणो पव्वइओ पंचहिं सह खंडियसएहिं ॥१६०४॥

एवं कम्मादीसु वि जं सामण्णं तयं समायोज्जं ।
जो पुण एत्थ विसेसो समासतो तं पवक्खामि ॥१६०५॥

---

[२]

तं पव्वइतं सोतुं बितिओ आगच्छति अमरिसेण ।
वच्चामि णमाणेमि पराजिणित्ताण तं समणं ॥१६०६॥

छलितो छलातिणा सो मण्णे माइंदजालतो वावि[2] ।
को जाणति किध[3] वत्तं एत्ताहे वट्टमाणो[4] से ॥१६०७॥

सो पक्खंतरमेगं पि जाति जति मे ततो मि तस्सेव ।
सीसत्तं होज्ज गतो वोत्तुं पत्तो जिणसगासं[5] ॥१६०८॥

*आभट्ठो य जिणेण जाइ जरा-मरणविप्पमुक्केण ।
णामेण य गोत्तेण य सव्वण्णू सव्वदरिसीण ॥१६०९॥

*किं मण्णे अत्थि कम्मं उदाहु णत्थि त्ति संसयो तुज्झ ।
वेतपताणय अत्थं ण याणसे[6] तेसिमो अत्थ ॥१६१०॥

कम्मे तुह सन्देहो मण्णसि तं णाणगोयरातीतं ।
तुह तमणुमाणसाधणमणुभूतिमयं फलं जस्स ॥१६११॥

अत्थि सुह दुक्खहेतू कज्जातो बीयमंकुरस्सेव ।
सो दिट्ठो चेव मती वभिचारातो ण तं जुत्तं ॥१६१२॥

---

1 विय—ता० । 2 वाइ ता० । 3 कह मु० को० । 4 वट्टमाणी म को० ।
5 सगासे को० म० । 6 याणसी—म० को० ।

* चिह्नांकित गाथाएँ निर्युक्ति की हैं ।

अधवा एगगाऽय ससारी सव्वहा[1] अमुत्ता त्ति ।
जमणातिकम्मसंततिपरिणामावण्णरूवो सो ॥१६३८॥

+सन्ताणोऽणातीओ परोप्परं हेतुहेउभावातो ।
देहस्स[2] य कम्मस्स य गोतम ! बीयंकुराणं व ॥१६३९॥

कम्मे चासति गोतम ! जमग्गिहातादि सम्भवाभस्स ।
वेसंविहिन्न विहूणति दाणातिफलं च लोयम्मि ॥१६४०॥

कम्ममणिच्छतो वा सुद्ध च्चिय जीवमीसरादि वा[3] ।
मण्णसि देहातीणं जं कत्तारं ण सो जुत्तो ॥१६४१॥

उवकरणाभावातो णिच्चेट्ठामुत्ततादितो वा वि ।
ईसरदेहारम्भे वि तुल्लता वाऽणवत्था वा ॥१६४२॥

अधव सभाव मण्णसि[4] विण्णाणघणादिवेदवक्कातो ।
तध[5] बहुदोस गोतम ! ताणं च पत्ताणममयमत्थो ॥१६४३॥

[6]छिण्णम्मि ससयम्मी[6] जिणेण जरमरणविप्पमुक्केण ।
सो समणो पव्वइतो पचहिं [7]सह खडियसतेहिं ॥१६४४॥

---

[३]

[8]ते पव्वइते सोतु ततियो आगच्छति जिणसगासे ।
वच्चामि ण[8] वदामी वदित्ता पज्जुवासामि ॥१६४५॥

सीसत्तणोवगता सपदमिदग्गिभूतिणो जस्स ।
तिभुवणकतप्पणामो स महाभागोऽभिगमणिज्जो ॥१६४६॥

[9]तदभिगमणवदणोवासणादिणा होज्ज पूतपावोऽहं ।
वोच्छिण्णससया वा वोत्तुं पत्तो जिणसगास[10] ॥१६४७॥

---

1 सव्वसो ता० । 2 जीवस्स य ता० । 3 जीवमीसरासि वा (?) ता० ।
4 -वयवुत्तामो मु० को० । 5 सो को० । तह मु० । 6 समयम्मि वि ता० । समयम्मि मु । 7 पचहिं म खं-ता० । 8 ण (नहीं है) मु० । 9 तदभिगमवदणपसवाम्मिय होज्ज ता० । 10 सगासे मु० को० ।

+ यह गाथा आगे भी आती है—गाथाक 1665

[1]आह णणु मुत्तमेव[2] मुत्त चिय कज्जमुत्तिमत्ताओ ।
इध जह मुत्तत्तणतो घडस्स परमाणवो मुत्ता ॥१६२५॥

तध सुहसवित्तीतो सबधे वेतणुब्भवातो य ।
बज्झबलाधाणातो परिणामातो य विण्णेय ॥१६२६॥

आहार इवाणल इव घडो व्व णेहादिकतबलाधाणो ।
खीरमिवोदाहरणाइ कम्मरूवित्तगमगाइ ॥१६२७॥

अध मतमसिद्धमेत परिणामातो त्ति सो वि कज्जाओ ।
सिद्धो परिणामो से दधिपरिमाणातिव पयस्स ॥१६२८॥

अब्भातिविगाराण जध वइचित्त विणा वि कम्मेण ।
तध जति ससारीण हवेज्ज को णाम तो दोसो ?॥१६२९॥

कम्मम्मि व को भेतो जध बज्झखधचित्तता सिद्धा ।
तध कम्मपुग्गलाण वि विचित्तता जीवसहिताण ॥१६३०॥

बज्झाण चित्तता जति पडिवण्णा कम्मणो विसेसेण ।
जीवाणुगतस्स मता भत्तीए व सिप्पिगत्थाण ॥१६३१॥

तो जति तणुमेत्त चिय हवेज्ज का कम्मकप्पणा णाम ।
कम्म पि णणु तणु च्चिय सण्हतरब्भतरा णवर ॥१६३२॥

को तीय विणा दोसो थूलाता सव्वधा विप्पमुक्कस्स ।
देहग्गहणाभावा ततो य ससारवोच्छित्ती ॥१६३३॥

सव्वविमोक्खावत्ती णिक्कारणतो व्व सव्वससारो ।
भवमुक्काण च पुणो ससरणमतो अणासासो ॥१६३४॥

मुत्तस्सामुत्तिमता जीवेण कध हवेज्ज सबधो ?।
सोम्म [1] घडस्स व णभसा जध वा दव्वस्स किरियाए ॥१६३५॥

अधवा पच्चक्ख चिय जीवोवणिबधण जध सरीर ।
चेट्ठइ[3] कम्मयमवि भवतरे जीवसजुत्त ॥१६३६॥

मुत्तेणामुत्तिमतो उवघातासुग्गहा कध होज्ज[4] ।
जध विण्णाणादीण मदिरापाणोसधादीहिं ॥१६३७॥

---

1 ०म० । 2 [illegible] । 3 चिट्ठइ को० मु० । 4 होज्जा मु० को० ।

विण्णाणंतरपुव्वं बालण्णाणमिह णाणभावातो ।
जध बालणाणपुव्वं जुवणाणं त च दट्ठव्वं ॥१६६१॥

पढमा[1]ऽथणाभिलासो अण्णाहारभिलासपुव्वोऽयं ।
[2]जध गयताभिलासो अणुभूतितो सो य दट्ठव्वो ॥१६६२॥

बालसरीरं देहंतरपुव्वं इंदियादिमत्तातो ।
जुवदेहो बालादिव स जस्स देहो स देहि त्ति ॥१६६३॥

अण्णसुहदुक्खपुव्वं सुहादि बालस्स संपयसुहं व ।
अणुभूतिमयत्तणता अणुभूतिमयो य जीवो त्ति ॥१६६४॥

[3]संतानोऽणादीओ परोप्परं हेतुहेतुभावातो ।
देहस्स य कम्मस्स य गोतम ! बीयंकुराणं व ॥१६६५॥

तो कम्मसरीराणं कत्तारं करणकज्जभावातो ।
पडिवज्ज तदब्भधियं दंडघडाणं कुलाल व ॥१६६६॥

[4]अत्थि सरीरविधाता पतिणियताकारतो घडस्सेव ।
अक्खाण च करणतो दण्डादीणं कुलालो व ॥१६६७॥

[5]अत्थिंदियविसयाणं आदाणादेयभावतोऽवस्सं ।
कम्मार इवादाता लोए संडासलोहाणं ॥१६६८॥

[6]भोत्ता देहादीणं भोज्जत्तणतो णरो व्व भत्तस्स ।
संघातादित्तणतो अत्था य अत्थी [7]घरस्सेव ॥१६६९॥

[8]जो कत्तादि स जीवो सज्झविरुद्धो त्ति ते मती होज्जा ।
मुत्तादिपसंगातो ण णो संसारिणो[9]ऽदोसो ॥१६७०॥

जातिस्सरो ण विगतो सरणातो बालजातिसरणो व्व ।
जध वा सदेसवत्त[10] णरो सरतो विदेसम्मि ॥१६७१॥

---

1 पढमो थणा० को० मु० । 2 जह बालाहिलासपुव्वो जुवाहिलासो स देहिहिमो को० । 3 यह गाथा क्रमांक 1639 पर आ चुकी है । 4 यह गाथा क्रमांक 1567 पर आ गई है। यहाँ देहस्सत्थि विधाता ऐसा पाठान्तर है । 5 यह गाथा क्रमांक 1568 पर पहले आ गई है । 6 यह गाथा पुनः आई है देखें क्रमांक 1569 । 7 घडस्सेव-ता० । 8 यह गाथा क्रमांक 1570 पर पहले आ चुकी है । 9 ऽणो दोसो मु० ता० । 10 सदेहवत्त ता० ।

*श्राभट्ठो य जिणेण जाइ-जरा मरणविप्पमुक्केण ।
णामेण य गोत्तेण य सव्वण्णु सव्वदरिसी ण ॥१६४८॥

*तज्जीवतस्सरीरं ति संसम्रो ण वि य पुच्छए किंचि ।
वेतपताण य श्ररथ ण याणसी तेसिमो श्र थो ॥१६४९॥

वग्रूधातिभूतसमग्ग समुभूता चेतणा त्ति ते संका ।
पत्तेयमदिट्टा वि हु मज्जंगमदो ब्व समुदाये ॥१६५०॥

जध मज्जंगेसु मदा वीसुमदिट्ठा वि समुदये होतु ।
कालंतरे विणस्सति तध भूतगणम्मि चेतण्ण ॥१६५१॥

पत्तेयमभावातो ण रेणुतेल्लं व समुदये चेता ।
मज्जंगेसु तु मतो वीसु पि ण सव्वसो णत्थि ॥१६५२॥

भाम घणि वितण्हतादी पत्तेय पि हु जधा मतंगेसु ।
तध जति भूतेसु भवे चेता तो[3] समुदए होज्जा ॥१६५३॥

जति वा सव्वाभावो वीसुं तो किं तदगणियमोऽयं ।
तस्समदयणियमो वा श्रण्णेसु वि तो भवेज्जाहि ॥१६५४॥

भूताण पत्तेय पि चेतणा समुदये दरिसणातो ।
जध मज्जंगेसु मदो मति त्ति हेतू ण सिद्धाऽय ॥१६५५॥

णणु पच्चक्खविरोधा गोतम ! त णाणुमाणभावातो ।
तुह पच्चक्खविरोधो पत्तय भूतचेत त्ति ॥१६५६॥

भूतिन्दियावलद्धाणुसरतो तेहिं भिण्णरूवस्स ।
चेता पचगवक्खोवलद्धपुरिसस्स वा सरता ॥१६५७॥

तदुवरमे वि सरणातो तव्वावारेवि णोवलभातो ।
*दियभिण्णस्स मतो पचगवक्खाणुमविणो ब्व ॥१६५८॥

उवलभ्भण्णेण विगारगहणातो तब्धिम्रो धुव अत्थि ।
पुव्वावरवातायणगहणविगारादिपुरिसो व्व ॥१६५९॥

सविंदियावलद्धाणुसरणता तदधियाणुमंतव्वो ।
जध पचभिण्णविण्णाणपुरिसविण्णाणसपण्णो ॥१६६०॥

ण सा० । 2 वाणमी मु० का० । 3 ता र० ।

विण्णाणघणादीण वदपताणं [1]पदत्थमविदतो ।
देहाणण्णं मण्णसि तातो य पताणमयमत्थो ॥१६८५॥

*छिण्णम्मि संसयम्मी जिणेण जरमरणविप्पमुक्केण ।
सो समणो पव्वइतो पंचहिं सह खंडियसएहिं ॥१६८६॥

---

[४]

*ते पव्वइते सोतुं वियत्तो आगच्छती जिणसगासं ।
वच्चामि ण वंदामि वंदित्ता पज्जुवासामि ॥१६८७॥

*[2]आभट्ठो य जिणेणं जातिजरामरणविप्पमुक्केणं ।
णामेण य गोत्तेण य सव्वण्णू सव्वदरिसी णं ॥१६८८॥

*किं मण्णे[3] पंचभूता अत्थि व णत्थि त्ति संसयो तुज्झ ।
वेतपताण य अत्थं ण याणसी तेसिमो अत्थो ॥१६८९॥

भूतेसु तुज्झ संका सुविणय-मायोवमाइं होज्ज त्ति ।
ण वियारिज्जंताइं भयंति जं सव्वधा जुत्तिं ॥१६९०॥

भूतातिसंसयातो जीवातिसु का कथ त्ति ते बुद्धी ।
तं सव्वसुण्णसंकी मण्णसि मायोवमं लोयं ॥१६९१॥

जध किर ण सतो परतो णोभयतो णावि अण्णतो सिद्धी ।
भावाणमवेक्खातो वियत्त [1] जध दीह[4]हस्साणं ॥१६९२॥

अत्थित्त घडेकाणेक्कता य सव्वेकतादिदोसातो ।
सव्वेऽणभिलप्पा वा सुण्णा वा सव्वधा भावा ॥१६९३॥

जाताजातोभयतो ण जायमाणं च जायते जम्हा ।
अणवत्थाभावाभयदोसातो सुण्णता तम्हा ॥१६९४॥

हेतु-पच्चयसामग्गिवीसु भावेसु णो य जं कज्जं ।
दीसति सामग्गिमयं सव्वाभावे ण सामग्गी ॥१६९५॥

---

1 वियत्त-मु० को० । 2 देखें गाथा 1609 । 3 किं म न अत्थि भूया उआहु नत्थि को० मु० । 4 दीह हुस्साण ता० ।

परभागादरिसणतो म सागभागमहुणाणो ग ।
उभयाणुवलभावो गव्वाणुवलद्धितो सुण्ण ।।१६९६।।

मा 'कुरु विसत्त ! संगयमगहि ण संगयमुभयो जुत्तो ।
गहुगुम गरमिगेसु व तुलो मो थाणु पुरिगेसु ।।१६९७।।

मा या गिमटेतु गव्वाभावे ति थाणु पुरिगेसु ।
सारा ण सपुण्णाम्मि विवज्जया वा वभण्ण भवे ।।१६९८।।

पच्चक्खतोणुमाणाआगमतो वा पसिद्धिरत्थाणं ।
सव्वप्पमाणविसयाभावे किध संसभो जुत्तो ।।१६९९।।

ज संसयादयो णाणपज्जया त च णेयसम्बद्धं ।
सव्वण्णयाभावे ण संसयो तेण ते जुत्ता ।।१७००।।

सति च्चिय ते भावा संसयता सोम्म ! थाणुपुरिसो व्व ।
भय दिट्ठतमगिद्ध मण्णसि एगु संसयाभावा ।।१७०१।।

[4]सव्वाभावे वि मती सदहा सिमिणए व्व णो त च ।
ज सरणातिनिमित्तो सिमिणो ण तु सव्वधाभावो ।।१७०२।।

अणुभूतदिट्ठचितितसुतपयतिविकारदेवताणूया[3] ।
सिमिणस्स निमिताइ पुण्ण पाव च णाभावो ।।१७०३।।

विण्णाणमयत्तणता घडविण्णाण व सिमिणओ भावो ।
अधवा विहितणिमित्तो घडो व्व णिमित्तयत्तातो ।।१७०४।।

स वाभाव च क्तो सिमिणोऽसिमिणो त्ति सच्चमलिय ति ।
गधव्वपुर पाडलिपुत्त [4]तच्चावयारा त्ति ।।१७०५।।

कज्ज ति कारण ति य सज्झमिणं साधण ति कत्त ति ।
वत्ता वयण वच्च परपक्खोऽय सपक्खोऽय ।।१७०६।।

किचेह थिरदवोसिणचलता ण वित्तणाइ णियताइ ।
सद्दादया य गज्भा सोतादीयाइ गहणाइ ।।१७०७।।

समता विवज्जओ वा सव्वागहण च किण्ण सुण्णम्मि ।
कि सुण्णता व सम्म सग्गाहो कि व मिच्छत्तं ।।१७०८।।

---

1 कुर को० म० । 2 चो० ता० । 3 –ताणगा ता० । 4 तत्थेव –को० मु०

जति सव्व णाभावो भणाति य ण प्पमाणमेत ति ।
सम्मुरगत ति य मती णाभावे [1]जुज्जए त पि ।।१७३५।।

सिकतासु विण्ण तेल्ल सामग्गीतो तिलेसु व[2] विमत्थि ।
कि य ण सव्व णिज्जद सामग्गीतो खपुप्फाण ।।१७३६।।

सव्व सामग्गिमय णगतोय जतोऽणुप्पदेसा ।
अध सा वि सप्पदेसो जत्थाय था य परमाणू ।।१७३७।।

भैसति सामग्गिमय ण थागरो सति णणु विरुद्धमिद[3] ।
कि थाणूणमभाव निण्णण्णमिण खपुप्फहिं ।।१७३८।।

देसस्साराभागो घेप्पति ण य सो त्थि[4] णणु विरुद्धमित ।
सव्वाभावे वि ण सो घप्पति कि खरविसाणस्स ।।१७३९।।

परभागादरिसणतो णाराभागो वि किमणुमाण ते ।[5]
आराभागग्गहणे कि व ण परभागससिद्धी ? ।।१७४०।।

सव्वाभावे वि कतो आरा-पर मज्झभागणाणत्ता ।
अध परमतो य भण्णति रा परमइविसेसण कत्तो ।।१७४१।।

आर-पर-मज्झभागा पडिवण्णा जति ण सुण्णता णाम ।
अप्पडिवण्णेसु वि या विकप्पणा खरविसाणस्स ।।१७४२।।

सव्वाभावे वाराभागो कि दीसत ण [6]परभागो ।
सव्वागहण व ण कि ति वा ण विवज्जओ होति ? ।।१७४३।।

परभागदरिसण वा फलिहादीण ति ते धुव सति ।
जति वा ते वि ण सता परभागादरिसणमहेऊ ।।१७४४।।

सव्वादरिसणता च्चिय ण भणते कास भणति त णाम ।
पुव्व भुवगतहाणि[7] पच्चक्खविरोधता चेव ।।१७४५।।

णत्थि पर मज्झभागा अप्पच्चक्खत्ततो मती होज्ज ।
णणु अक्खत्थावत्ती अप्पच्चक्खत्तहाणी वा ।।१७४६।।

---

1 जत्तमेय पि ता० जुत्तमेय ति म० । 2 वि म० को० । 3 –मित ता० –मिण को० । 4 सो त्ति णण मु० को० । 5 ति–मु० ता । 6 परिभागो ता० । 7 –हाणी म० को० । 8 विराहओ मु को ।

घडमत्ता घडसद्दो[1] सतोऽणत्थो जतो तओ भिण्णो।
अत्थि त्ति तेण भणिते को णत्थि त्ति गिण्हती णं ॥१७२२॥

जं वा जमत्थि तत्तं पत्तं ति तदत्थसंगतो वा।
भणिते घडोत्थि[2] त्तं घडगं सव्वत्थि सत्तारोवो त्ति ॥१७२३॥

अत्थि त्ति तेण भणिते घडोऽघडो वा घडो तु अव्वेत्त।
पूतोऽपूतो अव दुमो पूतो तु जधा दुमो णियमा ॥१७२४॥

किं तं जातं ति मती जाताजातोभयं ति जणजाति[3]।
अध जातं पि ण जातं ति मा मणुण्णे विचारोत्थं ॥१७२५॥

जति सव्वधा ण जातं ति जम्माणन्तरं तदुवलम्भो।
पुव्वं वा णुवलम्भो पुणो वि कालांतरहुतस्स ॥१७२६॥

अध सव्वधा ण जातं जातं सुण्णवयणं तधा भावा।
अध जातं पि ण जातं पमाणिता[4] सुण्णता केण ? ॥१७२७॥

जायति जातमजातं जाताजातमध जायमाणं च।
पज्जमिह विवक्खयाए ण जायए सव्वधा किंचि ॥१७२८॥

रूवि त्ति जाति जातो कुंभो संठाणतो पुणरजातो।
जाताजातो दोहि वि तस्समयं जायमाणो त्ति ॥१७२९॥

पुव्वकतो तु घडतया परपज्जाएहि तदुभएहिं च।
जायतो य पडतया ण जायते सव्वधा कुंभो ॥१७३०॥

वामातिणि च्च जातं ण जायते तेण सव्वधा सोम्म[6]।
इय दव्वतया सव्वं भयणीज्ज पज्जयगतीय[5] ॥१७३१॥

दीसति सामग्गीमय सव्वमिहत्थि ण य सा णणु विरुद्धं।
घेप्पति व ण पच्चक्ख वि कच्छभरोमसामग्गी ॥१७३२॥

सामग्गिमयो वत्ता वयणं चत्थि जति तो कतो सुण्णं।
अध णत्थि केण भणितं वयणाभावे सुतं केण ? ॥१७३३॥

जेण चेव ण वत्ता वयणं वा तो ण संति वयणिज्जा।
भावा तो सुण्णमिदं वयमिणं[7] सच्चमलियं वा ॥१७३४॥

---

1 –धम्मा ता०। 2 घडो त्ति ता० को०। 3 जण्जाय को० मु०। 4 पयासिया म०।
5 पज्जवगएए म० को०। 6 कच्छवरोम–म०। 7 वयणमिद मु० को०।

अधवा इधभवसरिसो परलोगो वि जति सम्मतो तेण ।
कम्मफलं पि इधभवसरिसं पडिवज्ज परलोगे ॥१७८१॥

किं भणितमिदं मणुया णाणागतिकम्मकारिणो संति ।
जति ते तप्फलभाजो परे वि तो सरिसता जुत्ता ॥१७८२॥

अध इध सफलं कम्मं ण परे तो सव्वधा ण सरिसत्तं ।
अकतागमकतणासो[1] कम्माभावाऽधवा पत्तो ॥१७८३॥

कम्माभावे वि[2] कतो भवतर सरिसता व तदभावे ।
णिक्कारणतो य भवो जति तो णासो वि तध चेव ॥१७८४॥

कम्माभावे वि मती को दोसो होज्ज जति सभावोऽयं ।
जध कारणाणुरूवं घडातिकज्जं सभावेण ॥१७८५॥

होज्ज सभावो वत्थु णिक्कारणता व वत्थुधम्मो वा ।
जति वत्थु णत्थि तओऽणुवलद्धीतो खपुप्फं व ॥१७८६॥

अच्चतमणुवलद्धो वि अध तओ अत्थि णत्थि किं कम्मं ।
हेतू व तदत्थित्ते जो णणु कम्मस्स वि स एव ॥१७८७॥

कम्मस्स वाभिहाणं होतु[3]सभावो त्ति होतु को दोसो ।
णिच्चं व सो सभावो सरिसो एत्थ च को हेतू ॥१७८८॥

सो मुत्तोऽमुत्तो वा जति मुत्तो तो ण सव्वधा सरिसो ।
परिणामतो पय पि व ण देहहेतू जति अमुत्तो ॥१७८९॥

उवकरणाभावातो ण य भवति सुधम्म ! सो अमुत्तो त्ति[4] ।
कज्जस्स मुत्तिमत्ता सुहसंवितातितो चेव ॥१७९०॥

अधवाऽकारणता च्चिय सभावतो ता वि[5] सरिसता कत्तो ।
किमकारणतो ण भवे विसरिसता किं व विच्छित्ती ॥१७९१॥

अध[6] वि सभावो धम्मो वत्थुस्स ण सो वि सरिसओ णिच्चं ।
उप्पात्त ट्ठिति भंगा चित्ता जं वत्थुपज्जाया ॥१७९२॥

कम्मस्स वि परिणामो सुधम्म ! धम्मो स पोग्गलमयस्स ।
हेतू चित्तो जगतो होति सभावो त्ति को दोसो ॥१७९३॥

---

1 -णासो मु० । 2 य कतो म० को० । 3 होज्ज सभावो मु० को० । 4 अमुत्तो वि को० मु० । 5 तो व ता० । 6 अहव मु० ।

सम्भूतमिरा गेण्हसु मह वयणाताण्वसेसनयण य ।
सण्णुतादितो वा [1]जाणयमज्झत्थवयणं व ॥१८३१॥

भण्णति जिय सव्वण्णू सव्वेसिं सव्वम त्यच्छेना ।
दिट्ठतामावम्मि वि पुच्छतु जो ससयो जस्स ॥१८३२॥

[2]भव्वा वि ण सिज्झिस्संति केइ कालेण जति वि सव्वेण ।
णणु ते वि अभव्वच्चिय किं वा भव्वत्तण तेसिं ॥१८३३॥

[3]भण्णति भव्वा जोग्गो ण य जोग्गत्तण[4] सिज्झते सव्वो ।
जध जोग्गम्मि वि दलिउ [5]सव्वत्थ ण कीरते पडिमा ॥१८३४॥

जध वा स एव पासाण-कणगजोगो वियोगजोग्गो वि ।
ण विजुज्जति सव्वो च्चिय स विउज्जति जस्स सपत्ती ॥१८३५॥

किं पुण जा सपत्ती सा जोग्गस्स[6] एव ण तु [7]अजोग्गस्स ।
तध जो मोक्खो णियमा सो भव्वाण ण इतरेंसिं ॥१८३६॥

[8]कतकादिमत्तणाता मोक्खो णिच्चो ण होति कुम्भो व्व ।
णो पद्धंसाभावो भुवि तद्धम्मा वि ज णिच्चो ॥१८३७॥

अणुदाहरणमभावो एसो वि मती ण त जतो णियमो[9] ।
कुम्भविणासविसिट्ठो भावो च्चिय पोग्गलमयोऽय[10] ॥१८३८॥

[11]किं वेगतेण कत पोग्गलमेत्तविलयम्मि जीवस्स ।
किं णिव्वत्तिवमधियं णभसो घडमेत्तविलयम्मि ॥१८३९॥

साऽणवराधो व्व पुणो ण वज्झते बधकारणाभावा ।
जोगो[12] य बधहेतू ण य सो[13] तस्सासरीरो त्ति ॥१८४०॥

ण पुणो तस्स पसूती बीजाभावादिहंकुरस्सेव ।
बीज च तस्स कम्म ण य तस्स तय ततो णिच्चो ॥१८४१॥

दव्वामुत्तत्तणतो णभ व्व णिच्चो मतो स दव्वतया ।
सव्वगतत्तावत्ती मति त्ति त णाणुमाणातो ॥१८४२॥

---

1 जाणसु को० । 2 चो० ता० । 3 भा० ता० । 4 जोग्गो तेण ता० । 5 सव्वहि-म० । 6 जोगस्स ता० । 7 अजोगस्स ता० । 8 च० ता० । 9 णियम त० । 10 मयो य मु० । 11 अथवा किं ता० । 12. जोगा मु० को० । 13 ण य त मु को

मण्णारमणिव्वाणित्तितरज्ज बीयपुराण ज निद्दि ।
तत्थ हतो भगालो कुहुडि पण्णाणियाण य ।।१८१८।।

जघवेह ननणोतलगजोगोण्णातिगतणिगतो वि ।
योच्चिट्ठजति सोनाद तघ जोगो जीवकम्माण ।।१८१९।।

तो वि जीवगमाग य[1] जोगो मय कनणोवणाण य ।
जीवस्स य कम्मस्स य भण्णति दुविधो वि ण विरुद्धो ।।१८२०।।

पढमो[2] भन्याए चिय भव्याणं कनणोवनाण य ।
जीवत्त सामण्ण भव्वाऽभव्वो त्ति को भेदो ।।१८२१।।

होतु व[3] जति कम्मातो ण विरोधो णारगातिभेदो व्व ।
भणध य भव्वाऽभव्वा सभावतो तेण सदेहो ।।१८२२।।

दव्वातित्ते तुल्ले जीवणभाए सभावतो भेदो ।
जीवाजीवातिगतो जध तध भव्वतरविसेसो ।।१८२३।।

एवं पि भव्वभावो जोवत्त पि य सभावजातीतो ।
पावति णिच्चा तम्मि य तदनत्थे णत्थि य [4]णिव्वाए ।।१८२४।।

जध घडपुव्वाभावाऽणातिसभावो वि सनिधणो एव ।
जति भव्वत्ताभावो भवेज्ज किरियाय को दासो ।।१८२५।।

अणुदाहरणमभावा खरसिंग पि व मती ण त जम्हा ।
भावो च्चिय स विसिट्ठो कुम्भाणुप्पत्तिमेत्तए ।।१८२६।।

[5]एवं भव्वुच्छेदो कोट्ठागारस्स वावचयतो त्ति ।
त णाणतत्तणतोऽणागतकालवराण व ।।१८२७।।

ज चातीताणागतकाला तुल्ला जता य समिद्धो ।
एक्को अणतभागो भव्वाणमतीतकालेण ।।१८२८।।

एस्सेण तत्तियो च्चिय जुत्ता ज ता वि सव्वभव्वाण ।
जुत्ता ण समुच्छेदा होज्ज मती [6]किध मत सिद्ध ।।१८२९।।

भव्वाणमणन्तत्तणमणतभागो व किध व मुक्को मि ।
कालादओ व्व मन्निय [1] मह वयणातो [7]व पडिवज्ज ।।१८३०।।

---

1 व मह जोगो कचणो–मु० को० । 2 पढमो वाभव्वाणं भव्वाणं म० को । 3 होतु जति म० । 4 णेव्वाण ता० । 5 चो० ता० । 6 कहमिण सिद्ध म० को० । 7 य ता० ।

त ण मता तन्चत्थे सिद्ध उवयारतो मता सिद्धी ।
तच्चत्थसिहे सिद्ध माणवसिघोवयारो ऽच ॥१८८१॥

देवाभावे विफल[1] जमग्गिहोत्तादियाण किरियाण ।
सग्गीय जण्णाण य दाणातिफल च तदयुत्त ॥१८८२॥

जम सोम-सूर सुरगुरु-साररज्जाणदीणि जयति जण्णहिं ।
मतावाहणमेव य इदादीण विधा सव्व ॥१८८३॥

*छिण्णम्मि ससयम्मि जिणेण जरमरणविप्पमुक्केण ।
सो समणो पव्वइतो श्रद्धुट्ठहि सह खडियसतेहि ॥१८८४॥

---

[८]

*ते पव्वइते सोतु अकपिश्रो आगच्छती जिणसगास ।
वच्चामि ण वदामि वदित्ता पज्जुवासामि ॥१८८५॥

*आभट्ठो य जिणेण जाइ-जरा मरण विप्पमुक्केण ।
नामेण य गोत्तेण य सव्वण्णू सव्वदरिसी ण ॥१८८६॥

*कि मण्णे णरइया अत्थि णत्थि त्ति ससयो तुज्झ ।
वेतपताण य अत्थ न याणमो तेसिमो अत्या ॥१८८७॥

त मण्णसि पच्चक्खा देवा चदातयो तधण्ण वि ।
विज्जामतोवायणपच्चाइसिद्धीए गम्मति ॥१८८८॥

ते पुण सुतिमेत्तफला णरइय त्ति किध ते गहेतव्वा ।
मक्खमणुमाणतो वाऽणुवलभा भिण्णजातीया ॥१८८९॥

मह पच्चक्खत्तणतो जीवादीय व्व[2] णारए गेण्ह ।
किं ज सपच्चक्खक्ख त पच्चक्ख णवरि एक्क ॥१८९०॥

ज वासति पच्चक्ख पच्चक्ख त पि घप्पते लोए ।
अयवा जमिन्दियाण पच्चक्ख किं तत्थ पच्चक्ख ॥१८९१॥

जध सोहातिदरिम्मण मिद्ध ण य सव्वपच्चक्ख ।
उवचारमेत्ततो त पच्चक्खमणिन्दि तच्च[3] ॥१८९२॥

---

1 व पत्त हा० । 2 जीवादीए य ल० । 3 तन्द म०

सच्छंदचारिणो पुण देवा दिव्वप्पभावजुत्ता य ।
ज ण कताइ वि दरिसणमुवेंति तो संसतो तेसु ॥१८६८॥

मा कुरु संसयमेतं [1]सुदूरं मणुयादिभिण्णजातीए ।
पच्चक्खं पच्चक्खे चिय चतुव्विधे देवसंघाते ॥१८६९॥

पुव्वं पि ण संदेहो जुत्तो जं जातिसा मपच्चक्खा ।
दीसंति तक्कता वि य उवघाताऽणुग्गहा जगतो ॥१८७०॥

आलयमेत्तं च मती पुरं व तव्वासिणो तघ वि सिद्धा ।
जे ते देव त्ति मता ण य निलया णिच्चपरिसुण्णा ॥१८७१॥

को जाणति व किमेतं ति [2]होज्ज णिस्संसयं विमाणाइं ।
रतणमयणभागमणादिह जध विज्जाधरादीणं ॥१८७२॥

होज्ज मती मायं तधावि तक्कारिणो सुरा जे ते ।
ण य मायादिविकारा पुरं व णिच्चोवलंभातो ॥१८७३॥

जति णारगा पवण्णा पक्किट्ठपावफलभोतिणो तेण ।
सुबहुगपुण्णफलभुजो पवज्जितव्वा सुरगणा वि ॥१८७४॥

संकंतदिव्वपम्मा विसयपसत्ताऽसमत्तकत्तव्वा ।
अणधीणमणुअकज्जा णरभवमसुहं ण एंति सुरा ॥१८७५॥

णवरि जिण जम्म दिक्खा-केवल [3]णिव्वाणमहणियोगेण ।
भत्तीय सोम्म ! समयवोच्छेदत्थं व एज्जण्हु[4] ॥१८७६॥

पुव्वाणुरागतो वा समयणिबद्धा तवोगुणातो वा ।
णरगणपीडाणुग्गह कंदप्पादीहिं वा केइ ॥१८७७॥

जातिस्सरकधणातो कासति पच्चक्खदरिसणातो य ।
विज्जामंतोवायणसिद्धीतो गहविकारातो ॥१८७८॥

उक्किट्ठपुण्णसंचयफलभावाताभिधाणसिद्धीतो ।
सव्वागमसिद्धीता य संति देव त्ति सद्धेय ॥१८७९॥

देव त्ति सत्थयमिदं सुद्धत्तणतो घडाभिधाणं व ।
अध व मती मणुस्सो देवो गुण रिद्धिसंपण्णो ॥१८८०॥

---

1 दूरं ता० । 2 होज्ज ता० । 3 णेव्वाण ता० 4 एगवहुत्ता म० ...

*ते प वद्दते मोतु अयलभाता आगच्छती जिणसगाप ।
वच्चामि ण वदामि वदित्ता पज्जुवासामि ॥१६०५॥

*आभट्ठो य जिणेण जाइ-जरा-मरणविप्पमुक्केण ।
णामेण य गोत्त ण य स वण्णू सव्वदरिसी ण ॥१६०६॥

*किं मण्ण पुण्ण पाव अत्थि व णत्थि त्ति ससयो तुज्झ ।
वेतपताण य अत्थ ण याणसी तेसिमो अत्थो ॥१६०७॥

मण्णमि पुण्ण पाव साधारणमधव दो वि भिण्णाइ ।
होज्ज ण वा कम्म चिय सभावतो भवपपचोऽय ॥१६०८॥

पुण्णुक्करिसे[1] सुभता तरतमजोगावकरिसतो हाणी ।
तस्सेव खये मोक्खो [2]पत्थाहारोवमाणातो ॥१६०९॥

पावुक्करिसेऽधमता तरतमजोगावकरिसतो सुभता ।
तस्सेव खये मोक्खो [3]अपत्थभत्तोवमाणातो ॥१६१०॥

साधारणवण्णादि व अध साधारणमधगमत्ताए ।
उक्करिसावकरिसतो तस्सेव य पुण्णपावक्खा ॥१६११॥

एव चिय दो भिण्णाइ होज्ज होज्ज व सभावतो चेव ।
भवसभूती भण्णति ण सभावता जताऽभिमतो ॥१६१२॥

[5]होज्ज सभावो वत्थु णिक्कारणता व वत्थुधम्मो वा ।
जति वत्थु णत्थि तओऽणुवलद्धीतो खपुप्फ व ॥१६१३॥

अच्चतमणुवलद्धो वि अध तयो अत्थि णत्थि किं कम्म ।
हेतू व तदत्थिते जो णणु कम्मस्स वि स एव ॥१६१४॥

कम्मस्स वाभिधाण होज्ज सभावो त्ति होतु को दोसो ।
पतिणियताकारातो ण य सो कत्ता घडस्सेव ॥१६१५॥

मुत्तोऽमुत्तो व तओ जति मुत्तो[6] ताऽभिधाणतो भिण्णो ।
[7]कम्म ति सहावो त्ति य जति वाऽमुत्तो ण कत्ता तो ॥१६१६॥

---

1 –क्करिसे मु० । 2 पच्छा हा० । 3 अपच्छ–हा । 4 –भिमत हा० । 5 यह गाथांक 1786 पर पहले भी आ चुकी है । 6 मुत्ता तो हा० । 7 कम्म नि म० को० ।

मुत्तारिभारा गोरनद्धिमतिरियाइ एंभा एग ।
उवनभद्दागगि तु[1] ताइ जीवो तदुगाढा ॥१८९३॥

तदुरग्मे वि मरणा कमाचारे वि गावगभालो ।
इ पभिण्णो पारा प नगरागान द्धा ना ॥१८९४॥

जो पुण मगिणिपा छिनय जीवा सक्ता पियागविगमारा ।
सो सुमहुम विजाणादि मगणीतधरो जधा दट्ठा ॥१८९५॥

ण हि पच्चवग धम्मतरगा सद्दम्ममत्तगहणा ।
पतरत्तता व गिद्धी कुभाणिकात्तमतम्म ॥१८९६॥

गुज्झोगलद्धमथध[3]मरणा थागना ध्य धूमारा ।
अधव णिमित्ततरो णिमित्तमवरसग करणाइ ॥१८९७॥

केवलमणाधिरहिनस्स सव्वमणुमाणमेत्तय जम्हा ।
णारगसब्भावम्मि य तदत्थि ज तेण ते सति ॥१८९८॥

पावफलम्स पकिट्ठस्स भाइणो कम्मताऽगेस दर ।
सति धुव तेभिमता णरइया अध मती हाज्जा ॥१८९९॥

अच्चत्थदुक्खित्ता ज तिरिय णगा णारग त्ति तेऽभिमता ।
त ण जता सुरनावक्खप्पगरिससरिस ण त दुक्ख ॥१९००॥

सच्च चेतमकपिय [1] मह थयणातोऽवमेसवयण व ।
सव्वण्णुत्तणता वा अणुमतसव्वण्णवयण व ॥१९०१॥

[4]भयरागदोसमोहाभावतो सच्चमणतिवाइ[5] च ।
सव्व चिय मे वयण जाणयमज्झत्थवयण वा ॥१९०२॥

[6]किध सव्वण्ण त्ति मती पच्चक्ख सव्वससयच्छेत्ता ।
[7]भयरागदोमरहिता तल्लिगाभावता सम्म [1] ॥१९०३॥

[*]छिण्णम्मि ससयम्मि जिणाण जर मरणविप्पमुक्केण ।
सो समणा पव्वइता तीहि [8]सम खण्डिय सतेहिं ॥१९०४॥

---

1 –राणि ताइ मु० । 2 सव्वण्णिदाण–मु० को० । 3 मग्वद्धमर ता० । 4 यह गाथा गाथांक 1578 पर पहले आ चुकी है । 5 –णतिवात च ता० । 6 ता० म यह गाथा ऊपर की गाथा म पहले है । 7 भयरोग–म० । 8 तिहि मो सह ख–मं०, तिहि च सह ख–को० ।

[९]

ते पव्वइए सोउं अयलभाया आगच्छई जिणसगासं ।
वच्चामि ण वंदामि वंदित्ता पज्जुवासामि ।।१९०५।।

[*]आभट्ठो य जिणेणं जाइ-जरा-मरणविप्पमुक्केणं ।
णामेण य गोत्तेण य सव्वण्णू सव्वदरिसी णं ।।१९०६।।

[*]किं मण्णे पुण्ण-पावं अत्थि ण णत्थि त्ति संसयो तुज्झ ।
वेयपयाण य अत्थं ण याणसी तेसिमो अत्थो ।।१९०७।।

मण्णसि पुण्णं पावं साहारणमहव दो वि भिण्णाइं ।
होज्ज ण वा कम्मं चिय सभावतो भवपवंचोऽयं ।।१९०८।।

पुण्णुक्करिसे[1] सुभता तरतमजोगावकरिसतो हाणी ।
तस्सेव खये मोक्खो [2]पत्थाहारोवमाणातो ।।१९०९।।

पावुक्करिसेऽधमता तरतमजोगावकरिसतो सुभता ।
तस्सेव खये मोक्खो [3]अपत्थभत्तोवमाणातो ।।१९१०।।

साधारणवण्णादि व अध साधारणमधगमत्ताए ।
उक्करिसावकरिसतो तस्सेव य पुण्णपावक्खा ।।१९११।।

एवं चिय दो भिण्णाइं होज्ज होज्ज व सभावतो चेव ।
भवसंभूती भण्णति ण सभावता जतोऽभिमतो ।।१९१२।।

[5]होज्ज सभावो वत्थुं णिक्कारणता व वत्थुधम्मो वा ।
जति वत्थुं णत्थि तओऽणुवलद्धीतो खपुप्फं व ।।१९१३।।

अच्चंतमणुवलद्धो वि अध तओ अत्थि णत्थि किं कम्मं ।
हेतू व तदत्थित्ते जो णणु कम्मस्स वि स एव ।।१९१४।।

कम्मस्स वाभिधाणं होज्ज सभावो त्ति होतु को दोसो ।
पतिणियताकारातो ण य सो कत्ता घडस्सेव ।।१९१५।।

मुत्तोऽमुत्तो व तओ जति मुत्तो[6] तो भिधाणतो भिण्णो ।
[7]कम्मं ति सहावो त्ति य जति वाऽमुत्तो ण कत्ता तो ।।१९१६।।

---

1 -क्करिसे मु० । 2 पच्छा ता० । 3 अपच्छ–ता० । 4 –भिमत ता० । 5 यह गाथांक 1786 पर पहले भी आ चुकी है । 6 मत्ता तो ता० । 7 कम्म न्ति म० को० ।

मुत्तातिभावता णोवलद्धिमतिंदियाइ कुंभो व्व ।
उवलभद्दाराणि तु[1] ताइ जीवो तदुवलद्धा ॥१८९३॥

तदुवरमे वि सरणता तव्वावारे वि णोवलभातो ।
इंदियभिण्णो णाता पचगवक्खोवलद्धा वा ॥१८९४॥

जो पुण अणिंदिया च्चिय जीवो सव्वा[2]पिधाणविगमाता ।
सो सुबहुअं विजाणति अवणीतघरो जधा दट्ठा ॥१८९५॥

ण हि पच्चक्ख धम्मतरेण तद्धम्ममेत्तगहणाता ।
सतन्तता व सिद्धी कुंभाणिच्चत्तमेत्तस्स ॥१८९६॥

पुव्वोवलद्धमबध[3]सरणता वाणलो व्व धूमातो ।
अधव णिमित्ततरतो णिमित्तमक्खस्स करणाइ ॥१८९७॥

केवलमणोधिरहितस्स सव्वमणुमाणमेत्तय जम्हा ।
णारगसब्भावम्मि य तदत्थि ज तेण ते सति ॥१८९८॥

पावफलस्स पकिट्ठस्स भाइणो कम्मतोऽवसेस व्व ।
सति धुव तेभिमता णेरइया अध मती होज्जा ॥१८९९॥

अच्चत्थदुक्खिता ज तिरिय णरा णारग त्ति तेऽभिमता ।
त ण जता सुरसोक्खप्पगरिससरिस ण त दुक्ख ॥१९००॥

सच्च चेतमकपिय[1] मह वयणातोऽवसेसवयण व ।
सव्वण्णुत्तणता वा अणुमतसव्वण्णवयण व ॥१९०१॥

[4]भयरागदोसमोहाभावतो सच्चमणतिवाइ[5] च ।
सव्व चिय मे वयण जाणयमज्झत्थवयण वा ॥१९०२॥

[6]किध सव्वण्णु त्ति मती पच्चक्ख सव्वससयच्छेत्ता ।
[7]भयरागदोसरहिता तल्लिगाभावता सोम्म[1] ॥१९०३॥

[8]छिण्णम्मि ससयम्मि जिणेण जर मरणविप्पमुक्केण ।
सो समणो पव्वइतो तिहि तु सह खडियसतेहिं ॥१९०४॥

---

1 -राणि ताइ म० । 2 सव्वपिहाण-मु० को० । 3 मसबद्धमर ता० । 4 यह गाथा बाद में 1578 पर पहले आ चुकी है । 5 -वातिवात च ता० । 6 ता० म यह गाथा ऊपर की गाथा म पहले है । 7 भयराग-म० । 8 छिण्णे य ससए म-म०, छिण्णे य सए ख-को ।

[९]

*ते पव्वइते सोतुं अयलभाता आगच्छती जिणसगासं ।
वच्चामि ण वंदामि वंदित्ता पज्जुवासामि ॥१९०५॥

*आभट्ठो य जिणेण जाइ जरा-मरणविप्पमुक्केण ।
णामेण य गोत्तेण य सव्वण्णू सव्वदरिसी णं ॥१९०६॥

*किं मण्णे पुण्ण पाव अत्थि व णत्थि त्ति संसयो तुज्झ ।
वेतपताण य अत्थं ण याणसी तेसिमो अत्थो ॥१९०७॥

मण्णसि पुण्णं पावं साधारणमधव दो वि भिण्णाइं ।
होज्ज ण वा कम्मं चिय सभावतो भवपपंचोऽयं ॥१९०८॥

पुण्णुक्करिसे[1] सुभता तरतमजोगावकरिसतो हाणी ।
तस्सेव खये मोक्खो पत्थाहारोवमाणातो ॥१९०९॥

पावुक्करिसेऽधमता तरतमजोगावकरिसतो सुभता ।
तस्सेव खये मोक्खो [3]अपत्थभत्तोवमाणातो ॥१९१०॥

साधारणवण्णादि व अध साधारणमधगमत्ताए ।
उक्करिसावकरिसतो तस्सेव य पुण्णपावक्खा ॥१९११॥

एवं चिय दो भिण्णाइं होज्ज होज्ज व सभावतो चेव ।
भवसंभूती भण्णति ण सभावता जतोऽभिमतो ॥१९१२॥

[5]होज्ज सभावो वत्थुं णिक्कारणता व वत्थुधम्मो वा ।
जति वत्थुं णत्थि तओऽणुवलद्धीतो खपुप्फं व ॥१९१३॥

अच्चतमणुवलद्धो वि अध तओ अत्थि णत्थि किं कम्मं ।
हेतू व तदत्थित्ते जो णणु कम्मस्स वि स एव ॥१९१४॥

कम्मस्स वाभिधाणं होज्ज सभावो त्ति होतु को दोसो ।
पतिणियताकारातो ण य सो कत्ता घटस्सेव ॥१९१५॥

मुत्तोऽमुत्तो व तओ जति मुत्तो[6] ताऽभिधाणतो भिण्णो ।
[7]कम्मं ति सहावो त्ति य जति वाऽमुत्तो ण कत्ता तो ॥१९१६॥

---

1 –क्करिसे मु० । 2 पच्छा हा० । 3 अपच्छ–हा० । 4 –भिमत हा० । 5 यह गाथांक 1786 पर पहले भी आ चुकी है । 6 मुत्तो तो हा० । 7 कम्मं ति म० को ।

मुत्तातिभावना णोवलद्धिमंतिंदियाइ कुंभो व्व ।
उवलभद्दाराणि तु[1] ताइं जीवो तदुवलद्धा ॥१८९३॥

तदुवरमे वि सरणतो तव्वावारे वि णोवलभातो ।
इंदियभिण्णो णाता पंचगवक्खोवलद्धा वा ॥१८९४॥

जो पुण अणिंदिया च्चिय जीवो सव्वा पिधाणविगमातो ।
सो सुबहुअं विजाणति अवणीतघरो जधा दट्ठा ॥१८९५॥

ण हि पच्चक्खं धम्मंतरेण तद्धम्ममेत्तगहणातो ।
कतकत्तता व सिद्धी कुंभाणिच्चत्तमेत्तस्स ॥१८९६॥

पुव्वोवलद्धसंबंध[3]सरणतो वाणलो व्व धूमातो ।
अधव णिमित्ततरतो णिमित्तमक्खस्स करणाइ ॥१८९७॥

केवलमणाधिरहितस्स सव्वमणुमाणमेत्तयं जम्हा ।
णारगसब्भावम्मि य तदत्थि जं तेण ते संति ॥१८९८॥

पावफलस्स पकिट्ठस्स भाइणो कम्मतोऽवसेसं व्व ।
संति धुवं तेऽभिमता णेरइया अध मती होज्जा ॥१८९९॥

अच्चत्थदुक्खिता जं तिरिय णरा णारग त्ति तेऽभिमता ।
तं ण जतो सुरसोक्खप्पगरिससरिसं ण तं दुक्खं ॥१९००॥

सच्चं चेतमकंपिय[1] मह वयणातोऽवसेसवयणं व ।
सव्वण्णुत्तणतो वा अणुमतसव्वण्णवयणं व ॥१९०१॥

[4]भयरागदोसमोहाभावतो सच्चमणतिवाइ[5] च ।
सव्वं चिय मे वयणं जाणयमज्झत्थवयणं वा ॥१९०२॥

[6]किध सव्वण्णु त्ति मती पच्चक्खं सव्वसंसयच्छेत्ता ।
[7]भयरागदोसरहिता तल्लिंगाभावतो सोम्म[1] ॥१९०३॥

[8]छिण्णम्मि संसयम्मि जिणेण जर मरणविप्पमुक्केण ।
सो समणो पव्वइतो तिहिं [8]सह खंडियसतेहिं ॥१९०४॥

---

1 -णाणि ताइं म०। 2 मत्थण्णिदुग-मु० को०। 3 गम्बइसर ता०। 4 यह गाथा गाथांक 1578 पर पहले आ चुकी है। 5 -मतिवाद य ता०। 6 ता० में यह गाथा ऊपर की गाथा से पहले है। 7 भयरोग म०। 8 तिहिं या सह म-म०, तिहिं य सह मु-को०।

इध लोगातो व परा सुरादिलोगो ण सा वि पच्चक्खा।
एव पि ण परलोगा सुव्वति य मुतीसु तो मका ॥१६५५॥

भूतिदियातिरित्तस्स चेतणा सा य दव्वतो णिच्चा।
जातिस्सरणातीहिं पडिवज्जसु वायुभूति व्व ॥१६५६॥

ण य एगो सव्वगतो णिक्किरियो लक्खणातिभेतातो।
कुभातश्रो व्व बहवो पडिवज्ज तमिदभूति व्व ॥१६५७॥

इयलोगातो य परो सोम्म ! सुरा णारगा य परलोगो।
पडिवज्ज मोरियाकपिय व्व विहितप्पमाणातो ॥१६५८॥

जीवो विण्णाणमया त चाणिच्च ति तो ण परलोगो।
अध विण्णाणादण्णो तो अणभिण्णो जधागास ॥१६५९॥

एत्तो च्चिय ण स कत्ता भोत्ता य अतो वि णत्थि परलागा।
ज च ण ससारी सो अण्णाणामुत्तिओ ख व ॥१६६०॥

मण्णसि विणासि चेतो उप्पत्तिमदादितो जधा कुभा।
णणु एव चिय साधणमविणासित्ते वि स साम्म ! ॥१६६१॥

अधवा वत्थुत्तणतो विणासि चेतो ण होति कुभा व्व।
उप्पत्तिमतातित्त कधमविणासी घडो बुद्धा ॥१६६२॥

रूव रस गध फासा सखा सठाण-दव्व-सत्तीओ।
कुभा त्ति जतो तास्रो पसूति विच्छित्ति धुवधम्मा ॥१६६३॥

इध पिंडो पिंडागार-सत्ति-पज्जाय-विलयसमकाल।
उपज्जति कुभागार-सत्तिपज्जायरूवेण ॥१६६४॥

रूवातिदव्वताए ण जाति ण य वति तेण सो णिच्चो।
एव उप्पात-ठाय-धुवस्सहाव मत सव्व ॥१६६५॥

घडचेतणया णासो पडचेतणया समुब्भवो समय।
सताणेणावत्था तधेह परलोगजीवाण ॥१६६६॥

मणुएहलोगणासो सुरातिपरलागसभवा समय।
जीवतयावत्थाण तेहभवो एव परलोग ॥१६६७॥

मव हा० मु०।

[1]अविसिट्ठ चिय त सा परिणामाऽऽसयगभावतो खिप्प ।
कुरुते सुभमसुभ वा गहण जीवो जधाऽऽहार ।।१६४३।।

परिणामाऽऽसयवसतो धणूये जधा पयो विसमहिस्स ।
तुल्ला वि तदाहारा तध पुण्णापुण्णपरिणामो ।।१६४४।।

जध वेगसरीरम्मि वि सारासारपरिणामतामेति ।
अविसिट्ठो आहारो तध कम्मसुभासुभविभागो ।।१६४५।।

सात सम्म हास पुरिस रति-सुभायु-णाम-गोत्ताइ ।
पुण्ण सेस पाव णेय सविवागमविवाग ।।१६४६।।

असति वहि पुण्णपाव जमग्गिहोत्तादि सग्गकामस्स ।
तदसवद्ध सव्व दाणातिफल च लोगम्मि १६४७।।

*छिण्णम्मि ससयम्मि जिणेण जर मरणविप्पमुक्केण ।
सो समणो पव्वइतो तिहि तु सह खडियसतेहि ।।१६४८।।

---

[१०]

*ते पव्वइत सोतु मेतज्जो आगच्छती जिणसगास ।
वच्चामि ण वदामि वदित्ता पज्जुवासामि ।।१६४९।।

*आभट्ठो य जिणेण जाति जरा मरणविप्पमुक्केण ।
णामेण य गोत्तेण य सव्वण्णू सव्वदरिसी ण ।।१६५०।।

*कि मण्णे परलोगो [3]अत्थि ण अत्थि त्ति ससयो तुज्झ ।
वतपत्ताण य मत्थ ण याणसी तेसिमो अत्थो ।।१६५१।।

मण्णसि जति चेतण्ण मज्जगमतो व्व भूतधम्मो त्ति ।
ता णत्थि परो[4] लोगो तण्णासे जेण तण्णासा ।।१६५२।।

अध वि तदत्थतरता ण य णिच्चत्तणमओ वि तदवत्थ ।
अणलस्स व अरणीओ भिण्णस्स विणासधम्मस्स ।।१६५३।।

अध एगो सव्वगओ णिक्किरिओ तह वि णत्थि परलोगो ।
ससरणाभावाओ वामस्स व सव्वपिडेसु ।।१६५४।।

---

1 प्रा० ना० । 2 बाहारो मु० को० । 3 अत्थि णत्थि मु० को० । 4 परलोगा मु०।

असतो णत्थि पसूति होज्ज व जति होतु खरविसाणस्स ।
ण य सव्वधा विणासो सव्वुच्छेदप्पसंगातो ॥१९६८॥

तोऽवत्थियतस्स कणवि विलयो धम्मेण भवणमण्णेण ।
[1]वत्थुच्छेदो ण मतो [2]सव्ववहारावरोधातो ॥१९६९॥

असति व परम्मि लोए जमग्गिहोत्तादि सग्गकामस्स ।
तदसम्बद्ध सव्वं दाणातिफलं च[3] परलोए ॥१९७०॥

*छिण्णम्मि संसयम्मि जिणेण जर-मरणविप्पमुक्केण ।
सो समणो पव्वइतो तिहिं तु सह खंडियसतेहिं ॥१९७१॥

---

[११]

*ते पव्वइते सोतुं पभासो आगच्छई जिणसगासं ।
वच्चामि ण वंदामि वंदित्ता पज्जुवासामि ॥१९७२॥

*आभट्ठो य जिणेणं जाति-जरा-मरणविप्पमुक्केण ।
णामेण य गोत्तेण य सव्वण्णू सव्वदरिसी णं ॥१९७३॥

*किं मण्णे णेव्वाणं अत्थि णत्थि त्ति संसया तुज्झ ।
वेतपताण य अत्थं ण याणसी तेसिमो अत्थो ॥१९७४॥

मण्णसि किं दीवस्स व णासो णेव्वाणमस्स जीवस्स ।
दुक्खक्खयादिरूवा किं होज्ज व से सतोऽवत्था ॥१९७५॥

अधवाऽणादित्तणतो खस्स व किं कम्म जीवजोगस्स ।
अविजोगातो ण भवे संसाराभाव एव त्ति ॥१९७ ॥

पडिवज्ज मंडिओ इव विजोगमिह [4]जीवकम्मजोगस्स ।
तमणातिणो वि कंचण धातूण व णाणकिरियाहिं ॥१९७७॥

जं णारगातिभावो संसारो णारगातिभिण्णो य ।
का [5]जीवो [6]ता मण्णसि तण्णासे जीवणासो त्ति ॥१९७८॥

ण हि णारगातिपज्जायमेत्तणासम्मि सव्वधा णासो ।
जीवद्दव्वस्सा मता मुद्दाणास व हेमस्स ॥१९७९॥

---

1 सव्वच्छे–मु० । 2 सव्ववहारोव–मु० को० । 3 च लोगम्मि मु० को० ।
4 कम्मजीवजोगस्स मु० को० । 5 जीव ता० 6 त मु० को० ।

विसयसुहं दुक्ख चिय दुक्खपडिगारता तिगिच्छ व्व ।
तं सुहमुवयारातो ण्ण यावयारो विणा तच्चं ॥२००६॥

तम्हा जं मुत्तसुहं तं तच्च दुक्खसंखएऽवस्सं ।
मुणिणाऽणाबाधस्स व णिप्पडिकारप्पसूतीता ॥२००७॥

जध वा णाणमयोऽयं जीवो णाणोवघाती चावरणं ।
करणमणुग्गहकारिं सव्वावरणक्खए सुद्धी ॥२००८॥

तध सोक्खमयो जीवो पाव तस्सोवघातयं[2] णेयं ।
पुण्णमणुग्गहकारिं मोक्खं सव्वक्खए सयलं ॥२००९॥

[3]जध वा कम्मक्खयतो सो सिद्धतादिपरिणतिं लभति ।
तध संसारातीतं पावति तत्तो च्चिय सुहं पि[4] ॥२०१०॥

सातासातं दुक्खं तव्विरहम्मि य सुहं जतो तेणं ।
देहिंदिएसु दुक्खं सोक्खं देहिंदियाभावे ॥२०११॥

जो वा देहिंदियजं सुहमिच्छति तं पडुच्च दोसोऽयं ।
संसारातीतमिणं धम्मतरमेव सिद्धिसुहं ॥२०१२॥

कधमणुमेयं[5] ति मती णाणाणाबाधतो त्ति णणु भणितं ।
तदणिच्चं णाणं पि य चेतणधम्मो त्ति रागो व्व ॥२०१३॥

कतकातिभावतो वा णावरणावक्कारणाभावा ।
उप्पातट्ठितिभंगस्स भावतो वा ण दोसोऽयं ॥२०१४॥

ण हु वद[6] असरीरस्स प्पियप्पियावहतिरेवमादि च जं ।
तम्मोक्खो णाममिम व मोक्खाभावम्मि व ण जुत्तं ॥२०१५॥

णट्ठो असरीरो च्चिय सुहं दुक्खाइं पियप्पियाइं च ।
ताइं ण फुसंति णट्ठं फुडमसरीरं ति को दोसो ॥२०१६॥

वेतपताणं [7]य अत्थं ण सुट्ठु जाणसि इमाण तं सुणसु ।
असरीरव्ववदेसो अधणो व्व सतो णिसेधातो ॥२०१७॥

ण णिसेधतो य अण्णम्मि तव्विहे चेव पच्चयो जेणं ।
तेणासरीरग्गहणं जुत्तो जीवो ण खरसिंग ॥२०१८॥

---

1 ण य उवयारो म० को० । 2 —घाइय म को० । 3 म०वी कम्म—क । 4 सुहं ति मु० को० । 5 कह नण मम म । 6 व ता । 7 — । । यम्मे सा० ।

टीका के अवतरणों की सूची

ज च [1]वसत त सतमाह् वासद्दता सदेह ति ।
ण फुसेज्ज वीतराग जोगिणमिटठेत्तरविसेसा[2] ।।२०१६।।

वावेति वा णिवातो वासद्दत्थो भवतमिह् सत ।
[3]वुज्झाऽवत्ति व सत णाणातिविसिटठमधवाह ।।२०२०।।

ण वसत श्रवसत ति वा मती णासरीरगहणातो ।
फुसणाविसेसण पि य जतो मत सतविसयं ति ।।२०२१।।

एव पि हाज्ज मुत्तो णिस्सुह-दुक्खत्तए तु तदवत्थ ।
त णो पियप्पियाइ जम्हा पुण्णयरक्याइ ।।२०२२।।

णाणाऽवाधत्तणतो ण फुसति वीतरागदोसस्स ।
तस्सप्पियमप्पिय वा मुत्तसुह को पसगाऽत्थ ।।२०२३।।

*छिण्णम्मि ससयम्मि जिणेण जर मरणविप्पमुक्केण ।
सो समणो पव्वइतो तिहि तु सह् खडियसतेहि । २०२४।।

गणधरा सम्मत्ता[1] ।

[illegible] । 2 [illegible] । 3 [illegible]

शब्द-सूची

अ

आ

इ-ई

उ

ऋ

क

प

शब्द-सूची

राजस्थान प्राकृत भारती संस्थान, जयपुर

—अद्यावधि प्रकाशित ग्रन्थ—

1 कल्पसूत्र सचित्र	(मूल हिन्दी एवं अंग्रेजी अनुवाद तथा 36 बहुरंगी चित्रों सहित) सम्पादक एवं हिन्दी अनुवादक महोपाध्याय विनयसागर अंग्रेजी अनुवादक डा० मुकुन्द लाठ		200 00
2 राजस्थान का जैन साहित्य	(राजस्थानी विद्वानों द्वारा रचित प्राकृत संस्कृत अपभ्रंश राजस्थानी हिन्दी भाषा के ग्रंथों पर विविध विद्वानों के विशिष्ट पूर्ण एवं सारगर्भित 36 लेखों का संग्रह)		30 00
3 प्राकृत स्वयं शिक्षक	लेखक—डा० प्रेमसुमन जैन		15 00
4 आगम तीर्थ	(आगमिक प्राकृत गाथाओं का हिन्दी पद्यानुवाद) अनु० डा० हरिराम आचार्य		10 00
5 स्मरण कला	(अवधान कला सम्बन्धित प० धीरज लाल टो शाह लिखित गुजराती पुस्तक का हिन्दी अनुवाद) अनु० मोहन मुनि शार्दूल		15 00
6 जैनागम दिग्दर्शन	(45 जैनागमों का संक्षिप्त परिचय) ले० डा० मुनि श्री नगराजजी	सजिल्द	20 00
		सामान्य	16 00
7 जैन कहानियाँ	ले० उपाध्याय महेन्द्र मुनि		4 00
8 जाति स्मरण ज्ञान	ले० उपाध्याय महेन्द्र मुनि		3 00
9 हाफ ए टेल (अर्धकथानक)	(कवि बनारसीदास रचित स्वात्मकथा अर्धकथानक का अंग्रेजी भाषा में अनुवाद आलोचनात्मक अध्ययन एवं रेखा चित्रों सहित) सम्पादक एवं अनुवादक डा० मुकुन्द लाठ		150 00
10 गणधरवाद	(दलसुखभाई मालवणिया लिखित गुजराती गणधरवाद का हिन्दी अनुवाद) अनु० प्रो० पृथ्वीराज जैन सम्पादक—महोपाध्याय विनयसागर		50 00

— मुद्रणाधीन ग्रन्थ —

1	जन इ सक्रिप्सन आफ द राजस्थान	(राजस्थान के प्राचीन एतिहासिक एव वशिष्टय पूर्ण जन शिलालेखो मूर्तिलेखो का परिचयात्मक वर्णन) ले० रामवल्लभ सोमानी
2	एग्जेक्ट साय स फ्राम जन सोर्सेज पाट I बेसिक मैथेमेटिक्स	ले० लक्ष्मीचन्द जन
3	उपमिति भव प्रपचा कथा	(महर्षि सिद्धर्षि रचित ग्रन्थ का हिन्दी अनुवाद स० एव अनु० महोपाध्याय विनयसागर तथा अनु० लालचन्द जन
4	अपभ्र श और हिन्दी	डा देवेन्द्रकुमार जन
5	बौद्ध एव गीता के आचार दर्शन के सदभ मे जन आचार दर्शन का तुलनात्मक एव समालोचनात्मक अध्ययन	डॉ० सागरमल जन

सम्पादनाधीन ग्रन्थ

1	ऋषिभाषित सूत्र	(हिन्दू बौद्ध और जन सवज्ञ ऋषियो के सारगर्भित उद्बोधन मूल हिन्दी एव अग्रजी अनुवाद) अनु० महोपाध्याय विनयसागर कलानाथ शास्त्री
2	नीतिवाक्यामृत	(आचाय सोमदेव रचित राजनीति के सिद्धान्तो का हिन्दी व अग्रजी म अनुवाद) अनु० डा एस के० गुप्ता डा० बी आर मेहता
4	गाथा सप्तशती	(हाल कवि रचित सप्तशती का हिन्दी व अग्रजी अनुवाद) अनु० डा हरिराम आचाय, डी० सी० शर्मा

4 एन्जेवट मायन्स फ्रोम जन पाट-II कोस्मोलोजी एण्ड एस्टानोमी सोर्मेज — ले लक्ष्मीचन्द जन

5 पाट-III सिस्टमथियरी

6 पाट-IV मेट थियरी

7 पाट-V थियरी ग्राफ ग्रल्टामट पार्टीवल्स

8 त्रिलोक्सार — नेमिचन्द्राचाय रचित ग्रन्थ का हिन्दी एव अग्रजी ग्रनुवाद) ग्रन० लक्ष्मीचन्द जन

9 जन साहित्य का सक्षिप्त इतिहास — (स्व० मोहनलाल दलीचन्द देशाई लिखित जन साहित्य नो सक्षिप्त इतिहास गुजराती का हिन्दी ग्रनवाद) ग्रनु कस्तूरचन्द बांठिया

10 एपीटामी ग्राफ जनिज्म — स्व पूरणचन्द्र नाहर

11 मथुरा के जन शिलालेख

12 स्टडीज ग्राफ जनिज्म — द टी० जी कलघटगी

13 धातुपरीक्षा — (ठक्कुर फेरु रचित ग्रन्थ का हिन्दी एव अग्रजी ग्रनुवाद) ग्रन० डॉ० धर्मेन्द्रकुमार

14 प्रतिष्ठा लख सग्रह द्वितीय भाग — महोपाध्याय विनयसागर

15 श्रीवल्लभीय राजस्थानी सस्कृत शब्दकोष

16 प्राकृत काव्य मजरी

17 प्राकृत शब्द सोपान

18 प्राकृत सज्ञा एव सवनाम प्रकरण — डॉ उदयचन्द जन

19 वज्जालग्ग मे जीवन मूल्य — भाग-1 डॉ कमलचन्द सोगाणी

20 ,, ,, ,, — भाग-

21 वाक्पतिराज की लोकानुभूति

22 भगवान ... ग्रौर ...